डॉ. भास्कर मिश्र

वैदिक शिक्षा पद्धति

महर्षि सान्दीपनि
राष्ट्रीय वेद-विद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन

ग्रन्थ-परिचय

प्राचीन भारतीय जीवन पद्धति में त्याग के आदर्शों का विशिष्ट महत्त्व है। ईशावास्योपनिषद् में त्यागपूर्ण भोग का उपदेश देते हुए कहा है कि 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।' इसके साथ-साथ अन्य की सम्पत्ति के लिए लोभ न करने का परामर्श भी दिया है। उपनिषद् के इस सन्देश ने समस्त पुराण, स्मृति और भारतीय साहित्य को प्रभावित किया है। शिक्षा जीवन के सातत्य और विकासोन्मुखता को बनाये रखने का एक- मात्र साधन है। अतः भारतीय शैक्षिक परम्परा का अनुगमन करते हुए त्यागवृत्तिपूर्वक भोग में ही वर्तमान की समस्याओं का समाधान ढूंढा जा सकता है।

आज की शिक्षा पद्धति पुस्तक केन्द्रित, पाठ्यक्रम केन्द्रित तथा परीक्षा केन्द्रित दिखाई देती है। जबकि इसे ज्ञानोन्मुख, मूल्योन्मुख तथा आदर्शोन्मुख बनाये जाने की आवश्यकता है जिसमें बच्चे तथा समाज के सर्वविध विकास का स्थान है। वैदिक शिक्षा पद्धति भारतीय शैक्षिक विकास हेतु समुचित पथ-प्रदर्शन करने में समर्थ है। इस ग्रन्थ द्वारा वैदिक वाङ्मय में शिक्षा सम्बन्धी अनेक तत्त्वों का आलोडन करके वर्तमान भारतीय शिक्षा पद्धति में इसके उपयोग की सामग्री प्रस्तुत की गई है। शैक्षिक उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधि, उच्चारण-शिक्षण तथा वैदिक पाठ संरक्षण, गुरु-शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध आदि के विषय में प्रचुर सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध है। यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय शिक्षण परम्परा की जानकारी देकर एवं वर्तमानकालीन शिक्षण व्यवस्था को समृद्ध करने में पर्याप्त सहायक है।

वैदिक वाङ्मय में राष्ट्रीयएकता एवम् अखण्डता

संस्कृत वाचस्पति डॉ० अन्नपूर्णा मिश्रा
एम.ए. (संस्कृत), पी-एच.डी.,
शास्त्री, साहित्याचार्य,
पूर्व प्राचार्या
गोकुलदास हिन्दू गर्ल्स पोस्ट ग्रैजुएट कॉलेज,
मुरादाबाद (उ०प्र०)

परिमल पाब्लिकेशन्स
दिल्ली

प्रकाशक :

परिमल पब्लिकेशन्स

कार्यालय : २७/२८, शक्ति नगर, दिल्ली - ११०००७

बिक्री केन्द्र : २२/३, शक्ति नगर, दिल्ली - ११०००७

दूरभाष : २३८४५४५६, ४७०१५१६८

ई-मेल : order@parimalpublication.com

ISBN : 978-81-7110-375-1

प्रथम संस्करण : वर्ष २०११

मूल्य : ४५०.०० रुपये

मुद्रक

विशाल कौशिक प्रिंटर्स

नजदीक जी.टी.बी. हास्पिटल,

जगतपुरी विस्तार, दिल्ली-११००९३

प्ररोचना

वैदिकवाङ्मय समस्त ज्ञान का प्राचीनतम कोश है। यह क्रान्तदृष्टा भारतीय ऋषियों की ऋतम्भरा-प्रज्ञा की शाश्वत परिणति है। शब्द-ब्रह्म की पावन अवधारणा को सिद्ध करने वाला वैदिकवाङ्मय विश्व विश्रुत है। मानव-सभ्यता, संस्कृति एवं ज्ञान-विज्ञान का सूर्योदय '**वेद**' से ही हुआ है। वेद अक्षय-ज्ञान की निधि हैं। इसमें ऐहिक एवं आमुष्मिक दोनों ही प्रकार का ज्ञान-विज्ञान पुष्कल मात्रा में विद्यमान है। प्राचीन भारतीयों का धर्म, दर्शन, आचार, रहन-सहन तथा परम्पराएँ आदि सब वैदिक वाङ्मय में सुरक्षित है।

राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता किसी भी राष्ट्र का मूल आधार है, इसके बिना राष्ट्र का सर्वाङ्गीण विकास सम्भव ही नहीं हैं। वैदिक विदुषी डॉ० अन्नपूर्णा मिश्रा ने गम्भीर वैदिक वाङ्मय का गहन अध्ययन व अनुशीलन कर चारों वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों में राष्ट्रीय एकता व अखण्डता का सार्थक अन्वेषण किया है, जो सकल सारस्वत-संस्कृतसाहित्य में सर्वथा उपयोगी होगा, ऐसा मुझे विश्वास है।

अपने शोधग्रन्थ में स्थान-स्थान पर वैदिक सूक्तों के अनेक उद्धरणों द्वारा डॉ० अन्नपूर्णा मिश्रा ने राष्ट्रीयएकता व अखण्डता को बड़ी बुद्धिमत्ता से खोज निकाला है। उदाहरणार्थ— "**राष्ट्रे जागृयाम बयम्**" अर्थात्, **हम सब राष्ट्र में जागें**, इस वैदिक सूक्त का आशय यही है कि मानवमात्र में राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता के प्रति जागरूकता सदा बनी रहे।

वैदिक काल में प्रत्येक व्यक्ति अपने राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य बोध से परिचित होता था, उस समय मात्र राजा में ही गुणों की अपेक्षा नहीं की गई थी, अपितु नागरिकों में भी राष्ट्र के प्रति दायित्व निश्चित किये गये थे। यथा— "**मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्**" अर्थात्— **तुमसे राष्ट्र (कभी) गिरे नहीं**। यहाँ राष्ट्र के न गिरने का अभिप्राय इसका एकता व अखण्डता की सुरक्षा की कामना से ही है।

डॉ० मिश्रा के शोधग्रन्थानुसार, **राष्ट्रीयएकता से ही राष्ट्र की अखण्डता सुनिश्चित होती है, तथा वही राष्ट्र शत्रु का सामना करने में पूर्ण सक्षम होता है**— मिश्रा जी का यह कथन एक पूर्णतया अनुभूत सत्य है।

डॉ० अन्नपूर्णा मिश्रा के प्रस्तुत बृहत्शोधग्रन्थ का मैंने आद्योपान्त अवलोकन एवं मनन किया है। निस्सन्देह, उन्होंने अपनी इस मौलिक शोध-कृति में सागर की गहराई में जाकर दुर्लभ रत्नों को खोज निकालने के समान ही अति परिश्रम किया है, क्योंकि

समुद्र इव अगम्य एवं अथाह वैदिक वाङ्मय के चारों वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों एवं सूत्रों में से '**राष्ट्रीय एकता व अखण्डता**' विषयक सुविस्तृत सन्दर्भों को, प्राप्त करने के लिए, डॉ० मिश्रा द्वारा उन सब का सूक्ष्म अध्ययन करके उनमें वर्णित समाजदर्शन, राजदर्शन, धर्मदर्शन, आचारदर्शन, शिक्षादर्शन तथा अर्थदर्शन का अलग अलग अनुशीलन करके, उक्त प्रत्येक 'दर्शन' में से शोधविषयक दुर्लभ **अंश-रत्नों** को खोज निकाला है।

निस्सन्देह, वैदुष्य से विभूषित डॉ० अन्नपूर्णा मिश्रा वैदिक संस्कृत समीक्षा जगत् की विशिष्ट विभूति हैं। उनमें अभिव्यक्ति एवं अनुभूति का मणिकांचन योग है। उनका यह शोधग्रन्थ भी तात्विक विश्लेषण के साथ ही विशिष्ट अनुभूतियों को व्यक्त करता है। निश्चय ही यह बृहत्शोधग्रन्थ समीक्षा के भावक सहृदयों के लिए एक विलक्षण ज्ञानदीप सिद्ध होगा, जिसके आलोक में जिज्ञासु को वाञ्छित वस्तु प्राप्त हो सकेगी।

अन्नपूर्णाप्रसादेन समीक्षा संप्रवर्द्धते।
वेदानां दिव्यविज्ञानं तया लोकेषु दीव्यति।।
लोकमङ्गलकामेन राष्ट्रमङ्गलभावनाम्।
पुष्णातु भारती नित्यं शङ्करः शं तनोति च।।

दि० ५-५-२०११ ई०

डॉ० शिवबालक द्विवेदी
प्राचार्य
बद्रीविशाल स्नातकोत्तर महाविद्यालय
फरुखाबाद (उ०प्र०)
सम्पादक - नवप्रभातम्

अभिमत

डॉ० अन्नपूर्णा मिश्रा संस्कृत वाङ्मय जगत् का गौरव हैं। उन्होंने वैदिक एवं लौकिक संस्कृत वाङ्मय का विशेष अध्ययन कर महत्त्वपूर्ण शोधकार्य किये हैं। उनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "**वैदिक वाङ्मय में राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता**" प्रकाशित हो रहा है, यह अत्यधिक प्रसन्नता की बात है। मैं उसका हार्दिक स्वागत करता हूँ।

वैदिक वाङ्मय अपनी अनेक मौलिक विशेषताओं के कारण विश्वविश्रुत है। वेदों का सर्वत्र समादर है। वेद आर्यों की सभ्यता, संस्कृति एवं साहित्य का आदि स्रोत है। यह भारत की अमूल्य निधि है। ज्ञान की तरह वेद भी अनन्त, अखण्ड एवं ब्रह्मरूप है। वैदिक वाङ्मय के पाश्चात्य प्रकाण्ड विद्वान् मनीषी **विण्टरनिट्स** का यह कथन पूर्णतया सत्य है—

"**यदि हम अपनी संस्कृति की आदिम अवस्था को जानना चाहते हैं या पुरातन भारतीय संस्कृति को समझना चाहते हैं, तो हमें भारत की शरण में जाना होगा, जहाँ भारतीय जाति का पुरातन साहित्य सुरक्षित है।**"

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद का महत्त्व-गान केवल भारतवर्ष तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु अनेक विदेशी विद्वान् भी वेदों में निहित ज्ञान-विज्ञान से अत्यधिक प्रभावित हुए। भारतीय एवं पाश्चात्य सभी विद्वानों के मत में वेद मानवजाति के प्राचीनतम साहित्य हैं। इसमें **राष्ट्रियएकता व अखण्डता** तथा सकल विश्व के अभ्युदय एवं कल्याण का वह दिव्य आलोक सम्भृत है, जिसकी मानव जाति को आज भी आवश्यकता है और सदैव रहेगी। वेदों में अनेक स्थानों पर अपने राष्ट्र तथा मातृभूमि के प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है। स्वराज्य रक्षा के लिए प्रार्थना की गयी है। वेदों में हमें सम्पूर्ण विश्व के लिए एक राष्ट्र की कल्पना मिलती है। राजा के लिए स्पष्ट निर्देश है कि उसे ईमानदार, जनप्रिय और प्रजापालक होना चाहिए। यथा निम्न मन्त्र में कहा गया है कि "**राजा को पर्वत के समान स्थिर होकर राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए**"—

"**इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाचलिः।**
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमुपधारय॥"

डॉ० अन्नपूर्णा मिश्रा वैदिक वाङ्मय की अधीती विदुषी हैं। वैदिक वाङ्मय में राष्ट्रियएकता व अखण्डता के विवेचन की दृष्टि से डॉ० मिश्रा का यह मौलिक बृहत्शोधग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने संहिताओं, ब्राह्मण, आरण्यक और

उपनिषदों में निरूपित राष्ट्रधर्म, राष्ट्रियचेतना एवं राष्ट्रियभावना को सम्यक् निरूपित किया है। उनके इस कार्य से राष्ट्रभक्तों को हमारे ऋषियों की अतिमहत्त्वपूर्ण विरासत प्राप्त हो सकेगी तथा राष्ट्रियता की दृष्टि से शोधकार्य करने वालों को वैदिक ज्ञान की शेवधि हस्तगत हो जायेगी। डॉ० मिश्रा ने विवेच्य विषय को गम्भीरता के साथ मनन कर प्रस्तुत किया है। वे अपने विवेच्य विषय के अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर अनमोल शोधमुक्ताओं को हस्तगत करने में सफल हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में उनकी प्रवणता एवं विषयाभिव्यक्ति को सहज रूप में देखा जा सकता है। अतएव पाठक को वर्ण्य विषय को हृदयंगम करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। डॉ० अन्नपूर्णा मिश्रा की अनवरत शोध-साधना का यह ग्रन्थ सुन्दर प्रतिफल है। इसके सम्यक् आस्वादन से जिज्ञासुजनों को विशेष लाभ होगा, यह हमारा सुदृढ़ विश्वास है। इस कृति का संस्कृत जगत् में समादर होगा और अध्येताओं तथा शोधकर्ताओं को नूतन दृष्टि तथा प्रेरणा प्राप्त होगी।

दि० ११-११-२०१० ई०

डॉ० राजदेव मिश्र
पूर्व कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ०प्र०)

डा. रमाकान्त शुक्लः
एम.ए. (हिन्दी-संस्कृतयोः) पीएच.डी.
साहित्याचार्यः, सांख्ययोगाचार्यः
राष्ट्रपतिसम्मानितः संस्कृतविद्वान्
सम्पादकः, अर्वाचीनसंस्कृतम् (त्रैमासिकम्)
महासचिवः, देववाणी-परिषद्, दिल्ली
अध्यक्षः, भारतीयसंस्कृतपत्रकारसङ्घः
शास्त्रचूडामणिविद्वान्, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

आवासः
'रमालयः' - आर-6, वाणी विहारः,
नई दिल्ली - 110059
दूरभाषः 011-28561846
मो. - 09560532392

दिनांक- १५/०७/२०११

अभिनन्दन

मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि संस्कृत वाङ्मय की लब्ध प्रतिष्ठ विदुषी डा. (श्रीमती) अन्नपूर्णा मिश्रा द्वारा अत्यन्त परिश्रम से ग्रथित **'वैदिक वाङ्मय में राष्ट्रीय एकता और अखण्डता'** शीर्षक दस अध्यायों का शोधग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत इस बृहत् परियोजना में डा. मिश्रा ने वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं कल्पसूत्र आदि का परिचय देने के साथ राष्ट्र और उसकी एकता और अखण्डता के विषय में वैदिक दृष्टि का सप्रमाण विवेचन कर महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष दिये हैं। डा. मिश्रा ने अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेकर अपने वैदुष्य से विद्वज्जगत् को प्रभावित किया है। उनके निर्देशन में अनेक शोधकार्य हुए हैं जिनमें आपकी निर्देशनपटुता प्रतिबिम्बित होती है। उनका दीर्घकालीन विद्याव्यासंग का अनुभव इस ग्रन्थ में आद्यन्त झलकता है।

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ डा. मिश्रा के दीर्घकालीन चिन्तन-मनन का परिणाम है जो कालातीत और सनातन वैदिक वाङ्मय की उस काल में विशेष प्रासंगिकता रेखांकित करता है जिसमें राष्ट्र की एकता, अखण्डता, सुरक्षा, समृद्धि और पुष्टि विशेषतः अपेक्षित है।

मैं इस ग्रन्थ की रचना के लिए डा. मिश्रा का अभिनन्दन करता हूँ।

(रमाकान्त शुक्ल)

गुरुपूर्णिमा, आषाढ़ शुक्ल १५ वि.सं. २०६८

प्रो० महावीर
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

उपाध्यक्ष
उत्तराखण्ड संस्कृत अकादमी
संस्कृत भवन
हरिद्वार दिल्ली राष्ट्रीय राजमार्ग
ज्वालापुर, हरिद्वार

पत्रांक- ....

दिनांक- 16-7-2011

मनोगतम्

वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य गंगा में सतत अवगाहन करने से उभयविध वाङ्मय मे परम निष्णात, गोकुलदास स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय, मुरादाबाद की पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष एवं प्राचार्या डॉ० अन्नपूर्णा मिश्रा द्वारा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की बृहद्-शोध-परियोजना के अन्तर्गत **'वैदिक वाङ्मय में राष्ट्रिय एकता और अखण्डता'** शीर्षक से कृत कार्य का अवलोकन कर मुझे अपार हर्ष हो रहा है। इस बृहद् शोध कार्य में डॉ० अन्नपूर्णा जी का वैदुष्य, चिन्तनशीलता, गवेषणात्मकता तथा लेखन नैपुण्य का मञ्जुल समन्वय निश्चित ही आनन्दित करने वाला है। भाषा पर आपका असाधारण अधिकार है, विषयानुकूल भाषा के प्रयोग से ग्रन्थ चित्ताकर्षक हो गया है।

हम भारतीयों का यह दृढ़ विश्वास है कि संसार का समस्त ज्ञान-विज्ञान एवं विविध विद्यायें वेदों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में विद्यमान हैं। **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** का तथा-

'यः कश्चित् कस्यचित् धर्मः मनुना संप्रकीर्तितः।
सः सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञान मयो हि सः'

का यही अभिप्राय है। युगों-युगों से भारतीय मनीषियों ने ज्ञान की विविध शाखाओं का पल्लवन वेदतरु की छाया में ही किया है।

वर्त्तमान समय में देश की एकता और अखण्डता कैसे बनी रहे, यह बहुत बड़ा यक्ष प्रश्न है। राष्ट्र की अवधारण, राष्ट्रधारक प्रमुख तत्त्व, एकता और अखण्डता के उपाय, विश्वसाहित्य में यदि कहीं उदात्त रुप में प्राप्त होते हैं, तो वह वैदिक वाङ्मय है। वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों,

निवास २२ नन्द विहार, निकट अवधूत मण्डल आश्रम, पो० गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार 249404
दूरभाष-0133-228544, 9412918949, Email-mahavir_gkv@yahoo.co.in

आरण्यकों एवं उपनिषदों में राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता के प्रतिपादक एवं परिपोषक अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं।

परम विदुषी प्रो० अन्नपूर्णा जी ने अत्यन्त परिश्रम, योग्यता, श्रद्धा एवं निष्ठापूर्वक वेदोद्यान से चुने हुए सुन्दर पुष्पों का स्तबक पाठकों को उपायन के रुप में समर्पित किया है। अनेक विदेशी विद्वान् तथा उनके उच्छिष्ट भोजी भारतीय विद्वान् राष्ट्र विषयक चिन्तन पश्चिम की देन मानते हैं, डॉ० अन्नपूर्णा जी ने अपने विशद चिन्तन से इस भ्रमित धारणा का सप्रमाण निराकरण किया है।

इस बृहद् शोध ग्रन्थ में गवेषिका का प्रौढ़-वैदुष्य पदे-पदे परिलक्षित होता है।

मुझे यह विश्वास है कि आज संपूर्ण विश्व में आतंकवाद, प्रान्तवाद, सम्प्रदायवाद, भ्रष्टाचार एवं अनाचर का जो बीभत्स रुप दिखाई दे रहा है, उसका समाधान इस ग्रन्थरत्न के माध्यम से हो सकेगा।

डॉ० अन्नपूर्णा जी के निर्देशन में अनेक छात्राओं ने शोध कार्य कर पी-एच०डी० उपाधि प्राप्त की है। अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रिय पुरस्कारों से आप सम्मानित है। एक उच्चकोटि की लेखिका, आचार्या एवं मानवीय गुणों से ओतप्रोत कुशल प्राचार्या के रुप में आपकी ख्याति है।

मैं इस उत्तम ग्रन्थ लेखन के लिये डॉ० अन्नपूर्णा जी को हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएं प्रेषित करता हूं। शोध कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूं एवं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि आपको स्वस्थ, धवल कीर्तियुक्त शत वर्षीय जीवन तथा सब प्रकार के सुख सौभाग्य प्राप्त हों और आप इसी प्रकार वैदिक वाङ्मय की एवं मानवता की सतत सेवा करती रहें।

मंगलाभिलाषी

(प्रो० महावीर)
आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
एवं
उपाध्यक्ष, उत्तराखण्ड संस्कृत अकादमी

निवास २२ नन्द विहार, निकट अवधूत मण्डल आश्रम, पो० गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार 249404
दूरभाष-0133-228544, 9412918949, Email-mahavir_gkv@yahoo.co.in

प्राक्कथन

राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता की सुरक्षा एवं संरक्षा प्राचीन भारतीय-संस्कृति का सार्वकालिक सन्देश रहा है, और वैदिक वाङ्मय इस भारतीय संस्कृति का वाहन रहा है। समस्त वैदिक वाङ्मय राष्ट्रीयएकता अथवा विश्व-बन्धुत्व की भावना से आकण्ठ आप्लावित है, जिसका प्रभाव समय-समय पर अखिल-भारतीय-चिन्तन-पद्धति पर पड़ा, तथा जिसके कारण भारत में राष्ट्रीयएकता तथा धर्मनिरपेक्षता की भावना को बहुत बल मिला। भारत जैसे विशाल देश में विभिन्न जातियाँ, धर्म, वेश-भूषा तथा रीतिरिवाज होने के बाद भी राष्ट्रीयएकता स्थापित रहना इसी वैदिक-वाङ्मय की मूल संस्कृति के प्रभाव का परिणाम है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब मानव ने **''सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्''** की भावना से जितना अधिक तादात्म्य स्थापित किया है, वह उतना ही सुखी, सुरक्षित तथा चिरायु हुआ है।

आज की विषम परिस्थितियों में राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता को भारतीय समाज में जीवित रखने का प्रयास ही एक ज्वलन्त समस्या है। हमारा देश इस समय ऐसी भयावह स्थिति का सामना कर रहा है, जिसका समुचित एवं सार्थक समाधान यदि शीघ्र नहीं हो सका तो भारतीयसमाज को विघटित होने से बचा पाना बहुत ही कठिन हो जाएगा। कुछ बाह्य एवं आन्तरिक शक्तियों द्वारा अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए धार्मिक-संकीर्णता के आधार पर मनुष्य को बाँटने वाली राजनीति की जा रही है। मानवीय-कल्याण की भावनाओं को त्यागकर उच्च मूल्यों से विमुख होकर आज धर्म पर आधारित राजनीति को बढ़ावा दिया जा रहा है। राष्ट्रीयएकता एवं धर्मनिरपेक्षता के विपरीत भारतीय समाज के विभिन्न वर्ण अपनी-अपनी व्यक्तिगत, धार्मिक, क्षेत्रीय एवं जातीय विचारधाराओं तथा मान्यताओं के आधार पर देश को बाँटने के प्रयास कर रहे हैं। ऐसी विषम परिस्थितियों का सामना करने के लिए एक ऐसे शोधकार्य की परम आवश्यकता थी, जिससे राष्ट्रीयएकता और धर्म-निरपेक्षता की भावना को बढ़ावा मिले।

इस सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति के संवाहक तथा विविध-ज्ञान-विज्ञान के आदिस्रोत **वैदिक वाङ्मय** के गम्भीर-ज्ञान-सागर के असंख्य-सूक्त-रत्नों में से **राष्ट्र-सम्बन्धित इस बहुमूल्य रत्न** को भी खोजने की मेरी प्रबल इच्छा हुई, क्योंकि वेद असंख्य एवं अक्षय ज्ञान की निधि हैं, यह सर्वविदित है। इनमें आध्यात्मिक-ज्ञान के

साथ-साथ, इस भौतिक-जगत् का भी कोई विषय इनसे अछूता नहीं है। अत: **यदिहास्ति तदत्र** कथन की सार्थकता पर पूर्ण आश्वस्त होकर, मैंने अपनी बृहत्शोधयोजना हेतु, **''राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में वैदिकवाङ्मय का समीक्षात्मक अनुशीलन''** को अपने शोध का शीर्षक बनाकर **'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग'** को स्वीकृति हेतु नयी दिल्ली भेज दिया, जो वहाँ से सहर्ष स्वीकृत होकर आ गया। मेरी यह प्रबल-जिज्ञासा थी कि उल्लिखित राष्ट्रीयसमस्या के समाधान में **वैदिक वाङ्मय** ने अपना कितना योगदान प्रदान किया हैं।

अभी तक अनेक दृष्टियों से संस्कृत-साहित्य का मूल्याङ्कन किया जा चुका था, किन्तु **राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य** में संस्कृत-वैदिक साहित्य का अनुशीलन नहीं किया गया था।

वैदिकवाङ्मय विश्वविश्रुत हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य सभी विद्वान् एक स्वर से इसका महत्त्व स्वीकार करते हैं। वेदों में **ऐहिक एवं आमुष्मिक** दोनों ही प्रकार का **ज्ञान-विज्ञान** पुष्कल मात्रा में विद्यमान है। प्राचीन भारतीयों का धर्म, दर्शन, आचार, रहन-सहन तथा परम्पराएँ आदि सब **वैदिक-वाङ्मय** में सुरक्षित हैं। अत: उक्त विषय की जानकारी के लिए वेदों का अध्ययन एवं अनुशीलन अत्यावश्यक था।

राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता किसी भी राष्ट्र का मूल आधार है। इसके बिना राष्ट्र का सर्वाङ्गीण विकास सम्भव ही नहीं है। वैदिकवाङ्मय में राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के महत्त्वपूर्ण सूत्र विद्यमान हैं। राष्ट्रीय एकता के सन्दर्भ में वेदों का स्पष्ट निर्देश है कि हम सभी के लक्ष्य, कार्य व हृदय समान हों, हम सब मिलकर राष्ट्र के कल्याणकारी कार्यों में लगें—

संगच्छध्वम्, संवदध्वम्,
सं वो मनांसि जानताम्।
देवाभाग् यथापूर्वे,
संजानाना उपासते।।

निस्सन्देह, परस्पर मिलकर राष्ट्रीय कार्यों को करते हुए ही लोककल्याण सम्भव है। पारस्परिक राग-द्वेष, इर्ष्या-कलह आदि से राष्ट्र विखण्डित होता है। अत: **वेद** हमें सावधान करता हुए कहता है कि हम भाई परस्पर द्वेष न करें, परस्पर मिलकर राष्ट्र के कार्यों में संलग्न होवें—

मा भ्राता भ्रातरम् द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा, वाचं ददत भद्रया।।

ऋग्वेद में **धर्म** की विस्तृत व्याख्या करते हुए **'पारस्परिक-प्रेम'** को **'राष्ट्रीयएकता'** का मूल माना गया है। यही **'मानवधर्म'** है—

यथा, **विश्वदानी सुमनसः स्याम्।** (ऋग्वेद ६/५२/५)

अर्थात् ''हम मर्यादासम्पन्न रहें, प्रसन्न रहें क्योंकि मन के प्रसाद से समस्त आपदाएँ शान्त होती हैं।''

ऋग्वेद में अन्यत्र कहा गया है—

पुमान् पुमासं परिपातु विश्वतः अर्थात् **''मानव मानव की रक्षा करे, यही मानवधर्म का मूल मन्त्र है।''**

अर्थात् **धर्म की रक्षा करने में अपनी रक्षा है, और धर्म के हनन में अपना ही विनाश है।**

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः (मनुस्मृति ८/१५)

वैदिकवाङ्मय में **'विश्वधर्म'** से लेकर **'व्यक्तिधर्म'** तक, **समष्टि से व्यष्टि** तक, सभी धर्मों का निरूपण सन्निहित है। उदाहरणार्थ, **यजुर्वेद** का निम्नलिखित मन्त्र **राष्ट्रधर्म** का साङ्गोपाङ्ग वर्णन करता है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् आ राष्ट्रे राजन्यः शूरइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्।

दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः, सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो नः ओषधयः पचन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्।।

(यजुर्वेद २२/२२)

भाव यह है कि **विश्वभावन-ब्राह्मण ब्रह्मतेज से सम्पन्न हों। राष्ट्र में क्षत्रियगण शूरवीर, धनुर्धर, लक्ष्यवेधी और महारथी हों। गायें दुधारू, बैल भारवहन में सक्षम, अश्व शीघ्रगामी, स्त्रियाँ शोभामयी, रथी विजयशील हों, और इस यजमान का युवा पुत्र निर्भय व वीर हो। आवश्यकतानुसार वर्षा हो, वनस्पतियाँ फलवती हों। हमारा योगक्षेम हो।**

यजुर्वेद के **उक्त मन्त्र** की व्याख्या से **राष्ट्रधर्म** का स्वरूप निर्दिष्ट होता है।

अथर्ववेद में भी राष्ट्रोन्नति के उपाय बताये गये हैं, जो उपर्युक्त यजुर्वेद के मन्त्र के ही अधिपूरक हैं।

पृथिवीसूक्त का वचन है कि **बृहत्-सत्य, उग्र ऋतु** अर्थात् (सत्यकर्म व

सत्यज्ञान), **दीक्षा, तप एवं ब्रह्मयज्ञ पृथिवी को धारण करते हैं:-**

सत्यं बृहद्तमुग्रदीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः।

पृथिवीं धारयन्ति। (अथर्ववेद १२/१/१)

वेदों के अनुसार **राष्ट्रभावना** के मूल आधार हैं— **एकदेश** (भौगोलिक एकता), **एक केन्द्रीय शासन** (संघटनात्मक एकता), **एक संस्कृति** (भावनात्मक एकता), **एकसभ्यता** (ऐतिहासिक एकता) और **एक भाषा** (अभिव्यक्ति की एकता), इन सभी का सुविस्तृत वर्णन **वेदों** में किया गया है।

उक्तानुसार **राष्ट्र, राष्ट्रीयएकता** तथा **राष्ट्र की संरक्षा** के **सन्दर्भित सूत्र वैदिकवाङ्मय** में **यत्र तत्र सर्वत्र** उपलब्ध हैं, जिनका निरूपण एवं प्रकाशन भारत देश की वर्तमानकालिक परिस्थितियों में विशेष महत्त्व रखता है। आज के इस कठिन समय में **प्रस्तुत यह बृहत्शोधकार्य निश्चय ही राष्ट्र के लिए मार्गदर्शक एवं कल्याणकारी सिद्ध होगा। भारतीयों में परस्पर भ्रातृत्वभाव के प्रति निष्ठा बढ़ेगी तथा राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।** आश्चर्य है कि इस परिप्रेक्ष्य में **ज्ञान-विज्ञान के आदिस्रोत वैदिकवाङ्मय** का अनुशीलन अभी तक नहीं किया गया था, जबकि **धर्म, नीति, आचार, शिक्षा, दर्शन तथा राष्ट्रसंरक्षादि के मूल्यवान एवं लाभदायक घटकतत्त्व पर्याप्त मात्रा में हमारे वैदिक साहित्य में विद्यमान हैं, जो सर्वथा सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक हैं, कालातीत तथा देशातीत हैं।**

तपःपूत, वैदिकमन्त्रद्रष्टा ऋषियों-मुनियों ने अपनी अमरवाणी द्वारा राष्ट्र, राष्ट्रधर्म तथा राष्ट्रीयएकता के साथ-साथ राष्ट्रीय-सर्वाङ्गीण-विकास हेतु आवश्यक, उसकी सुरक्षा के जो तात्कालिक एवं सार्वकालिक सूक्त प्रदान किये हैं, उन सभी का इस 'बृहद्शोधग्रन्थ के **परिशीलन** नामक **तृतीय खण्ड के सातों अध्यायों** में सुविस्तृत विवेचन किया गया है।

सागर इव अपार-ज्ञान के भण्डार, वैदिक वाङ्मय की यह अनुपमयेता ही है कि वैदिक ऋषियों की दिव्य-दृष्टि, सहस्राब्दियों पूर्व उद्भूत होते हुए भी आज भी, उनके निर्देश व सन्देश प्रत्येक देश, प्रत्येक समाज, प्रत्येक परिवार व प्रत्येक व्यक्ति के लिए यथापूर्व ग्राह्य एवं लाभप्रद हैं। **प्राचीनतम् वेद आज भी अर्वाचीन है— "THOUGH THE VEDAS ARE THE OLDEST, BUT THEIR MESSAGE IS ALWAYS LATEST."**

अभीष्ट ग्रन्थ **चार खण्डों** तथा **दश अध्यायों** में विभक्त है:—

प्रथम खण्ड— परिप्रेक्ष्य (विषय प्रवेश)

द्वितीय खण्ड— परिपार्श्व

तृतीय खण्ड— परिशीलन

चतुर्थ खण्ड— तुलनात्मक परिशीलन

अन्तिम **दशम अध्याय** में उपसंहार दिया गया है।

प्रस्तुत राष्ट्र-परक यह बृहत्ग्रन्थ, जो लगभग ३०० पृष्ठों में है, अत्यन्त संक्षेप में **विषयानुक्रमानुसार निम्नवत् अवलोकनीय है :-**

१. **परिप्रेक्ष्य** नाम से ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के प्रथम अध्याय में अभीष्ट शोध विषय का प्रारम्भ (प्रवेश) किया गया है, जिसमें **राष्ट्र, राष्ट्र की संकल्पना** व **राष्ट्र का स्वरूप** आदि को पाश्चात्य तथा भारतीय विशेषज्ञों के अनेक उद्धरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

वस्तुतः **राष्ट्र** के सुदृढ़ अस्तित्व का आधार **राष्ट्रीयएकता** ही होती हैं, और **राष्ट्रीयएकता** पर ही **राष्ट्र की अखण्डता** निर्भर करती है। इसीलिए **नेहरू जी** ने कहा था— **मेरे जीवन का मुख्य कार्य भारत एकीकरण है।** उनके कथन का तात्पर्य यह नहीं था कि भारत में एकता का अभाव है। हमारा **स्वाधीनता-संग्राम** एक ऐसा दृढ़ स्तम्भ था, जिसने **राष्ट्रीयता** (राष्ट्रीयएकता) के अङ्कुर को सींच-सींच कर बड़ा किया, तथा हमारे संविधान ने भी उसे बल प्रदान किया, कि— **हम सब भारतवासी हैं, हम सब का एक ही संविधान है व एक ही राष्ट्रीय चिह्न है।**

२. **परिपार्श्व** नामक द्वितीय खण्ड तथा ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में वैदिकवाङ्मय का संक्षिप्त सर्वेक्षण किया गया है, जिसके अन्तर्गत **'वेद'** का अर्थ, **वेदों का महत्त्व, वेदों का कालनिरूपण** एवं **वेदों की शाखाएँ** तथा **ऋक्, यजुः, साम व अथर्ववेद-** इन चारों संहिताओं तथा उनके **ब्राह्मणों, आरण्यकों** तथा **उपनिषदों** के साथ-साथ, **गृह्यसूत्रों** तथा **धर्मसूत्रों** का भी पूर्ण विवेचन तथा परिचय प्रदान किया गया है।

३. **परिशीलन** नाम का तृतीय खण्ड **इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा व सर्वप्रमुख अंश है।** यही शोध विषय का मूलभाग है। वस्तुतः यह **तृतीय खण्ड** इस **बृहत्ग्रन्थ का 'हृदय'** है, केन्द्र बिन्दु है। यह तृतीय अध्याय से लेकर अष्टम अध्याय तक, अर्थात् **छः अध्यायों में विस्तृत है।**

राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में **ऋग्वेद** का समीक्षात्मक अनुशीलन **तृतीय अध्याय में, यजुर्वेद** का **चतुर्थ अध्याय में, सामवेद** का **पञ्चम अध्याय** में तथा

अथर्ववेद का **षष्ठ अध्याय** में किया गया है। इसी प्रकार, **ब्राह्मणों, आरण्यकों** तथा **उपनिषदों** का एवं **गृह्यसूत्रों** व **धर्मसूत्रों** का अनुशीलन क्रमशः **सप्तम** व **अष्टम**— इन दो अध्यायों में किया गया है।

हमें गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों के भी आधारतत्त्व **वैदिक-ग्रन्थों** से ही प्राप्त होते हैं। इन्हीं के अनुसार **धर्मयुक्त समाज** एवं समाज के सदस्यों का **धर्मयुक्त आचरण** ही राष्ट्र की उन्नति में सहायक होता है। **धर्म की कसौटी पर खरा उतरने वाला राजा ही राष्ट्र की एकता व अखण्डता की रक्षा में सक्षम होता है,** इसीलिए अथर्ववेद में लिखा है—

त्वां विशो वृणुतां राज्यायत्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।

अर्थात् **राजा का चयन प्रजा द्वारा किया जाए। ये पाँच दिव्य दिशाएँ भी तुम्हें (राजा को) स्वीकार करें। राष्ट्र के उत्कृष्ट पद पर तुम आसीन रहो। राजन्! सदैव राष्ट्र की रक्षा के प्रति सचेत रहो।**

इस प्रकार प्राचीन वाङ्मय में राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के प्रति सम्पूर्ण दायित्त्व प्रजा का ही नहीं था, उसमें **प्रथम भूमिका राज की ही होती थी**। यथा **अथर्ववेद** में वर्णित है—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। (अथर्ववेद ११/५/१७)

(ब्रह्मचर्य एवं तपस्या का पालन करने वाला राजा ही राष्ट्र की रक्षा कर सकता है)।

४. उल्लिखित तृतीय खण्ड के बाद इस ग्रन्थ के **चतुर्थ** एवं **अन्तिम खण्ड** के **नवम अध्याय** में राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के सम्बन्ध में **प्राचीन तथा अर्वाचीन विचारों का तुलनात्मक अनुशीलन किया गया है।**

यद्यपि भारत की अनेकता में एकता का होना विस्मयकारी है, तथापि भारत **एक राष्ट्र** है। इसका प्रतीक है हमारी **तीनों सेनाएँ**। जिनमें सभी प्रदेशों, जातियों के लोग मिलकर **एक** राष्ट्र की सुरक्षा में दिन-रात सीमा पर चौकन्ने रहते हैं। वे सब अपने को **भारतीय** ही मानते हैं, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। **सर्वपल्ली राधाकृष्णन्** ने भी व्यक्त किया है— **हमारी राष्ट्रीयएकता व अखण्डता की नीवें खोखली नहीं हैं, बल्कि वटवृक्ष की तरह अन्दर मीलों तक गहराई तक फैली हुई हैं। वह वैदिक काल से ही उस ज़मीन की तह में समाई हुई हैं।**

यह एकता एक **स्थायी-भावना** है, जो पावन-भूमि पर जन्म लेते ही मानव के मन में समाहित हो जाती है। इसी राष्ट्रीयएकता व अखण्डता पर सम्पूर्ण राष्ट्र को गर्व

है— कि हमारा **एक संविधान, एक राष्ट्रीय ध्वज** तथा **एक ही राष्ट्रीय सम्मान** सदैव अक्षुण्ण रहेंगे।

अन्तिम दशम अध्याय के उपसंहार में राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता की संरक्षा के लिए वर्तमान, आतंकवादी-विध्वंसक प्रवृत्तियों को समाप्त करने के लिए महत्त्वपूर्ण उपाय व कतिपय सुझाव भी प्रस्तुत किये गये हैं।

आज भारतीय लोकतन्त्र के लिए **आतङ्कवाद** एक गम्भीरतम चुनौती बना हुआ है। यह देश की राष्ट्रीयएकता व अखण्डता के लिए **'बारूद के गोले'** की तरह भयावह है। फिर भी यह आतङ्कवाद केवल कानून व व्यवस्था का प्रश्न नहीं है, यह एक **राजनीतिक परिप्रेक्ष्य है, एक मनोवैज्ञानिक पक्ष है,** जो बल प्रयोग से नहीं सुलझ सकता है। बल प्रयोग भी विवेक व सद्भावना के साथ करना चाहिए। शासन द्वारा आतङ्कवादियों से बातचीत अवश्य की जानी चाहिए। शर्त केवल यह हो कि बातचीत संविधान के दायरे में हो, तथा बातचीत हेतु आगे आने वाले आतंकवादी भविष्य में अपने आपको देश की एकता व अखण्डता के लिए प्रतिबद्ध घोषित करें तथा आतंकवाद का रास्ता छोड़ने की घोषणा करें।

उक्तानुसार, भारत के वर्तमान प्रजातान्त्रिक परिवेश में वैदिक ऋषियों द्वारा प्रदत्त वैदिक-वाङ्मय में राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के संरक्षित सूत्रों का समीक्षात्मक अध्ययन कर आगामी मानवता हेतु उनकी उपादेयता प्रमाणित करना ही मेरी इस शोधयोजना का लक्ष्य रहा है। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि मेरे शोधावधि में वैदिक वाङ्मय के ऐसे अनेक अनछुए एव उपयोगी प्रसङ्ग उभर कर सम्मुख आए हैं, जिनसे वर्तमान एवं आगामी भारतीय मानवता अपने हितों की रक्षा कर सकती है, तथा विश्वमानवता के मञ्च पर समादृत हो सकती है। मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि मेरी इस बृहत-शोधयोजना के अन्तर्गत प्रस्तुत शोधकार्य के माध्यम से न केवल बुद्धिजीवी-देशवासी प्रेरणा प्राप्त करके लाभान्वित होंगे, प्रत्युत् यह विशद् एवं बृहत्शोधग्रन्थ राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता को सुरक्षित रखने में भी महान् उपयोगी सिद्ध होगा।

और, अब मैं सर्वप्रथम, अपने पितृ-तुल्य गुरु स्वर्गीय डॉ० हरिदत्त शास्त्री को अपनी भावाञ्जलि अर्पित करते हुए उन्हें हृदय से नमन करना चाहूँगी, जिनसे प्राप्त सुशिष्यत्व, शोधनिर्देशन, मार्गदर्शन तथा पितृ-तुल्य स्नेहिल आशीर्वादों के कारण ही मैं विगत पञ्चाशताधिक वर्षों से सुरभारती संस्कृत की सतत् सात्विक-अनेकविध-सेवाओं द्वारा आज इस गन्तव्य तक पहुँच सकी हूँ। मैंने न केवल अनेक छात्र-छात्राओं का निःस्वार्थ संस्कृत-शोधनिर्देशन करके उन्हें सुयोग्य बनाया, प्रत्युत् महाविद्यालयीय-सत्यनिष्ठ-प्राचार्यत्व के साथ ही साथ, विश्व-संस्कृत-परिषद् तथा

अखिल भारतीय प्राच्य परिषद् पुणे, की आजीवन सदस्या के रूप में स्वदेश-भारत एवं विदेशों में भी आयोजित संस्कृत-सम्मेलनों में उपस्थित होकर अपने मौलिक संस्कृत शोधपत्रों को प्रस्तुत किया तथा परिषदीय-अध्यक्षों व श्रोतृसमूह से प्रशस्ति-पत्र प्राप्त किये। यह मेरे इन्हीं प्रात:स्मरणीय श्रद्धेय गुरु से प्राप्त प्रेरणाओं का ही प्रतिफल है।

तत्पश्चात् मैं, अपने गुरुभाई, परम प्रिय अनुज, आजीवन-संस्कृत-सेवी डॉ० शिवबालक द्विवेदी, जो सम्प्रति स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फरुखाबाद में प्राचार्य हैं, के प्रति भी अपना हार्दिक कृतज्ञताज्ञापन करती हूँ, जिन्होंने मेरे, यू०जी०सी० से स्वीकृत बृहत्शोधयोजना के कार्यान्वयन हेतु, नियमानुसार विज्ञापित किये गये साक्षात्कार के लिए 'संस्कृत विशेषज्ञ' के रूप में उपस्थित होकर सुयोग्य एवं संस्कृतनिषठ शोध-सहायकों की नियुक्ति करके, मेरे बृहत्शोधकार्यभार को सुकर बनाया। इसके अतिरिक्त भी अनेक बार संस्कृत अधिवेशनों में आमन्त्रित करके मुझे विनम्र सम्मान प्रदान किया है।

अन्त में, मैं अपनी उन तीनों शोधसहायिकाओं— डॉ० विनोदिनी पाण्डेय, डॉ० सुषमा शर्मा तथा डॉ० लक्ष्मीदेवी शर्मा को उनके सुखी एवं सफल जीवन हेतु अपना शुभाशीर्वाद प्रदान करती हूँ, जिन्होंने ही मेरे इस बृहत्शोधकार्य के संस्कृत महायज्ञ में अपनी अपनी सश्रम कर्त्तव्यनिष्ठता की आहुतियाँ अर्पित की हैं। विशेषत: मेरी शिष्या, डॉ लक्ष्मीदेवी शर्मा द्वारा इस शोधग्रन्थ के प्रूफसंशोधन तथा संस्कृतसम्बन्धी अन्यानेक लेखनकार्य में कृतसाहाय्य के लिए मैं आभार व्यक्त करती हूँ।

तत्पश्चात् मैं उन विद्वत्जनों व पाठक गणों को भी हार्दिक धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझती हूँ, जो मेरे इस अथक श्रमसाध्य बृहत्ग्रन्थ को साभिरुचि पढ़कर, मेरे श्रम को सार्थक बनाने में सहायक होंगे। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरे इन ग्रन्थ द्वारा प्रस्तुत, राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता से सम्बन्धित, वैदिक वाङ्मय का अक्षुण्ण-बहुमूल्यज्ञान, जो सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक है, सभी देशभक्त राजनीतिज्ञों व केन्द्रस्थ नेताओं के लिए सर्वदा एवं सर्वथा हितकर सिद्ध होगा।

इस बृहत्ग्रन्थ के प्रकाशन में सहायक दिल्ली निवासी स्व० के०एल० जोशी तथा उनके सुपुत्र सुप्रिय परिमल जोशी तथा 'परिमल पब्लिकेशन्स' से सम्बद्ध सभी आत्मीयजनों को मैं साधुवाद देती हूँ, जिनके नैष्ठिक योगदान से मेरा यह ग्रन्थ देश के सम्मुख उपस्थित हो सका है।

अन्नपूर्णा मिश्रा

बसन्त पञ्चमी, सन् २०११

विषयसूची

प्रथम खण्ड – परिप्रेक्ष्य

द्वितीय खण्ड – परिपार्श्व

तृतीय खण्ड – परिशीलन

प्रथम खण्ड - परिप्रेक्ष्य

प्रथम अध्याय

राष्ट्र की संकल्पना

राष्ट्र का स्वरूप एवम् प्रकृति

वैदिक काल में '**राष्ट्र**' शब्द देश या राज्य के लिए प्रयुक्त किया जाता था।[1] **ऋग्वेद** में स्वराज्य का उल्लेख भी मिलता है। राष्ट्र शब्द की उत्पत्ति राजृ धातु से ष्ट्रन प्रत्यय के योग से हुई है, जिसका सामान्य अर्थ है— राज्य, देश, साम्राज्य। **राष्ट्र शब्द** बहुत ही व्यापक अर्थ रखता है, इसमें निश्चित भू-भाग पर निवास करने वाली समस्त प्रजा की भावनाओं और विचारों की प्रतीक संस्कृति और सभ्यता सम्मिलित होती है। किसी देश की सभी इकाईयों की समष्टि ही राष्ट्र का वास्तविक स्वरूप है किन्तु राष्ट्र के स्वरूप को स्पष्ट करने हेतु कुछ व्यापक तथा अनिवार्य तत्त्व भी होते हैं, जिसमें धर्म, संस्कृति, भाषा, जनता, राजनैतिक विचार आदि प्रमुख हैं। राष्ट्र का प्राकृतिक स्वरूप भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है जितना सामाजिक।

विश्व के प्राचीनतम साहित्यों में **राष्ट्र या देश** के प्रति सुन्दर उद्गारों की अभिव्यक्ति की झलक यत्र-तत्र स्पष्ट दिखाई पड़ती है। राष्ट्र शब्द एक सुनिर्दिष्ट अर्थ और भावना का प्रतीक है जिस प्रकार **यजुर्वेद** में राष्ट्र के कल्याण की कामना कितने सुन्दर शब्दों में की गयी है—

आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्।[2]

अर्थात् हमारे राष्ट्र में क्षत्रिय, वीर, धनुर्धारी, लक्ष्यवेधी और महारथी हो।

अभिवर्धताम् पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्।[3]

अथर्ववेद में भी '**राष्ट्र**' के धन-धान्य, दुग्धादि से संवर्धन प्राप्ति की कामना की गयी है :—

'**राष्ट्र**' से सम्बन्धित शब्दों का प्रयोग वैदिक साहित्य में अत्यधिक किया गया

---

1. ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त, २७३, ऋचा ५ और म० ४, सू० ४२, ऋ० १ तथा मं० ५, सू० ६६, ऋ० ६।
2. यजुर्वेद - अध्याय २८/२२
3. अथर्ववेद - अध्याय ६/७८/२

है। जैसे साम्राज्य, स्वराज्य, राज्य, महाराज्य आदि। इन सबमें 'राष्ट्र' शब्द ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। **'राष्ट्र'** शब्द से आशय उस भूखंड विशेष से है जहाँ के निवासी एक संस्कृति विशेष में आबद्ध होते हैं।

एक सुसमृद्ध राष्ट्र के लिए उसका स्वरूप निश्चित होना आवश्यक है। **कोई भी देश एक राष्ट्र तभी हो सकता है जब उसमें देशेतरवासियों को भी आत्मसात् करने की शक्ति हो।** उनकी अपनी जनसंख्या, भू-भाग, प्रभुसत्ता, सभ्यता, संस्कृति, भाषा, साहित्य, स्वाधीनता और स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीय एकता आदि समस्त तत्त्व हों, जिसकी समस्त प्रजा अपने राष्ट्र के प्रति आस्थावान हो। वह चाहे किसी भी धर्म, जाति तथा प्रान्त का हो। प्रान्तीयता और धर्म संकुचित होते हुए भी राष्ट्र की उन्नति में बाधक नहीं होते हैं क्योंकि राष्ट्रीय एकता 'राष्ट्र' का महत्त्वपूर्ण आधारतत्त्व है, जो नागरिकों में प्रेम, सहयोग, धर्मनिष्ठा, कर्त्तव्यपरायणता, सहिष्णुता तथा बन्धुत्व आदि गुणों का विकास करता है तथा धर्म तथा प्रान्तीयता गौण हो जाती है। तब राष्ट्र ही सर्वोपरि होता है। इन गुणों के विकास से ही राष्ट्र स्वस्थ तथा शक्तिशाली होता है।

राष्ट्र नागरिकों पर अनिवार्य रूप से कर लगाता है जिसे राष्ट्र की व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित कर सके। **इस प्रकार 'राष्ट्र' प्रभुत्त्व-सम्पन्न स्वाधीन तथा स्वतन्त्र संगठन है जिसका स्वरूप आध्यात्मिक भावना तथा राष्ट्रीय एकता पर निर्भर रहता है,** जो अमूर्त होता है जिसे केवल अनुभव किया जा सकता है।

राष्ट्र का प्राकृतिक स्वरूप भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है जितना सामाजिक। राष्ट्र को सुसम्पन्न तथा गौरवपूर्ण होने के लिए उसकी प्राकृतिक-सम्पदाएँ भी अपनी पूर्णता को प्राप्त होनी चाहिए, जिससे राष्ट्र निवासी अपना भरण-पोषण स्वयं कर सकें तथा अपने राष्ट्र पर बोझ न बनने पाएँ। जिस प्रकार **पर्वतराज हिमालय** हमारे राष्ट्र की प्राकृतिक सम्पदा है, जिस पर सैकड़ों ऋषि-मुनि निरन्तर साधना करते रहते हैं और उस पर उगने वाली असंख्य जड़ी-बूटियाँ भयानक से भयानक रोगों को दूर करने में सक्षम हैं। जो उत्तर दिशा में मुकुट के समान देदीप्यमान है। महाकवि कालिदास ने हिमालय का वर्णन कितने सुन्दर शब्दों में किया है—

अस्युत्तरस्यां दिशि देवात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोय निधीवगाह्य-
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥[१]

---

१. महाकवि कालिदास

ब्रह्मपुत्र, गंगा, यमुना, सिन्धु आदि महानदियाँ इसी हिमालय से निकलती हैं जो भारत-भू को हरा-भरा तथा उपजाऊ बनाती हैं। इसकी प्राकृतिक शोभा अनुपम है जिसका वर्णन करते हुए सैकड़ों महाकवियों ने प्रकृति-परक रचनाएँ लिखी हैं। स्वराष्ट्र भारत का मौसम भी सर्वानुकूल है। यहाँ पर वर्ष भर में छः ऋतुएँ आती हैं। जिनका क्रम बहुत ही सुन्दर है तथा प्राणियों के स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यन्त उपयुक्त है। सर्वप्रमुख वसन्त ऋतु है जिसमें चित्र-विचित्र रंगों वाले सुगन्धित पुष्प खिल जाते हैं, कोयल पंचम स्वर में गाने लगती है। **यह वसन्त ऋतु अन्य किसी देश में नहीं होती।**

इस वसन्त ऋतु में समस्त विशेषताओं को एकत्र देखकर ही भगवान् श्रीकृष्ण ने **गीता** में वसन्त को अपना स्वरूप बताया है—

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।।[१]

इसी प्रकार **महाकवि कालिदास** ने अपने **ऋतु संहार** में वसन्त ऋतु का कितना सटीक वर्णन किया है जिसका एक अनुपम उदाहरण यह है—

द्रुमा सपुष्याः सलिलं सपद्मम्
स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः।
सुखा प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः
सर्वप्रिये चारुतरं बसन्ते।।[२]

अर्थात् वसन्त ऋतु में वृक्ष पुष्पों से युक्त हो जाते हैं, जल में कमल खिल जाते हैं, स्त्रियाँ कामभाव से युक्त हो जाती हैं तथा पवन सुगन्धित हो जाता है। सन्ध्या काल सुखदायक तथा दिन रमणीय हो जाते हैं। इस प्रकार प्रिय **वसन्त ऋतु** में सब कुछ चारुतर हो जाता है।

यहाँ का साहित्य, दर्शन, ज्योतिष, आयुर्वेदादि संसार के प्राचीनतम साहित्य, दर्शन तथा विज्ञान है जो पाठक के हृदय में ऐसी भावनाओं को उद्वेलित करता है जो **राष्ट्रीय एकता** तथा **विश्व-बन्धुत्व** की भावना से ओत-प्रोत हो। अधोलिखित उदाहरण भारत की **विश्व बन्धुत्व** की भावना का सार्थक उदाहरण है—

विश्वबन्धुत्वमुद्घोषयत्पावनं
विश्ववन्द्यैश्चरित्रैर्जगत्पावयत्।

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १०/३५
२. महाकवि कालिदास का ऋतुसंहार।

विश्वमेकं कुटुम्बं समालोकयद्
भूतले भाति मेऽनारतं भारतम्॥[१]

अर्थात् पवित्र विश्वबन्धुत्व-भावना की उद्घोषणा करने वाला, विश्ववन्द्य चरित्रों से जगत् को पवित्र करने वाला और सम्पूर्ण विश्व को एक कुटुम्ब के रूप में देखने वाला मेरा भारत भूतल पर सदा प्रोद्भासित रहता है।

इस प्रकार भारत में जनसंख्या, भौगोलिकता, प्रभुसत्ता, सभ्यता, संस्कृति, भाषा, साहित्य, स्वाधीनता और स्वतन्त्रता आदि समस्त तत्त्व हैं जो किसी भी राष्ट्र की आन्तरिक शक्ति होते हैं और यही आन्तरिक शक्ति राष्ट्रीय एकता का आधार है जो राष्ट्र का प्राणतत्त्व होती है।

अतः राष्ट्र के प्रति विशिष्ट आत्मीयता व गौरव की भावना से युक्त व्यक्तियों का समुदाय ही राष्ट्र कहलाता है जिसका सार्थक उदाहरण है– भारत।

राष्ट्र की विषयवस्तु एवं क्षेत्र

राष्ट्र की रचना के लिए जनसमूह अर्थात् जनसंख्या का होना अति-आवश्यक है। जनसमूह के पश्चात् उसमें एकता, सहायता और सहयोग की भावना राष्ट्र का प्राणतत्त्व है क्योंकि एक राष्ट्र के संगठन के लिए सदस्यों में एकता, सहायता तथा सहयोग की भावना अति आवश्यक है, उसके अभाव में राष्ट्र का संगठन ही असम्भव है। रेम्जेम्यूर ने राष्ट्र के स्वरूप को कुछ इस प्रकार परिभाषित किया है– **''अस्थायी तौर पर हम कह सकते है कि राष्ट्र वह जन-समुदाय है जिसके सदस्य अपने को स्वाभाविक रूप से एकता के कुछ ऐसे सूत्रों में बँधा हुआ अनुभव करते हैं जो इतने दृढ़ और वास्तविक होते हैं कि उनके कारण वे प्रसन्नतापूर्वक साथ-साथ रह सकते हैं, पृथक् हो जाने पर दुःखी होते हैं और ऐसे लोगों की अधीनता सहन नहीं कर सकते जो उन बन्धनों के अन्तर्गत नहीं है।''**[२]

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि राष्ट्र के संगठन हेतु किन्हीं निश्चित तत्त्वों की आवश्यकता नहीं। **समान जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति, भूभाग की अपेक्षा उनमें साथ-साथ रहने की इच्छा तथा एकता की भावना होना अति आवश्यक है।** अतः **'राष्ट्र'** एक कल्पना है जिस कल्पना का आधार होता है– **मानवीय एकता।** **'राष्ट्र'** वह भावना है जो एकत्व की ओर प्रेरित करती है। राष्ट्र के लिए जनसंख्या, भू-भाग, सरकार, प्रभुसत्ता आवश्यक नहीं, उसके लिए आवश्यक है मिट्टी से प्यार।

---

१. भातिमे भारतम् — शुक्ल, रमाकान्त।
२. आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ, लेखक सत्यनारायण दुबे, पृ० ३३१

"जो भरा नहीं है भावों से, बहती जिसमें रसधार नहीं।
वह हृदय नहीं है पत्थर है, जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।।"[१]

आध्यात्मिक संगठन ही राष्ट्र का स्वरूप

राष्ट्रीय भावनाओं का सम्बन्ध मुख्यतः मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक तथ्यों से है। राष्ट्रीयता की भावना को जगाने वाले मूल तत्त्व आवश्यक रूप से अमूर्त होते हैं। **गिलक्राइस्ट** ने भी राष्ट्र के प्राणतत्व **राष्ट्रीयता** को एक भाव ही माना है। **गिलक्राइस्ट** के अनुसार— "राष्ट्रीयता एक भावना है, जिसकी उत्पत्ति उन लोगों में होती है, जो साधारणतः एक जाति के होते हैं, जो एक भू-भाग पर रहते हैं, जिनकी एक भाषा, एक धर्म, एक साहित्य, एक-सी परम्पराएँ एवं समान हित होते हैं तथा जिनके एक से राजनीतिक समुदाय तथा राजनीतिक एकता के समान आदर्श तथा आंकाक्षाएँ होती हैं, जिन पर राष्ट्रीयता आधारित होती है। यह सब राष्ट्रीयता के आधार हैं, स्वयं राष्ट्रीयता नहीं।

राष्ट्र भावनात्मक शक्ति पर निर्भर

राष्ट्र की शक्ति आन्तरिक रूप से भावनात्मक होती है जिसका सम्वन्ध नैतिकता से है। **इस प्रकार राष्ट्र की मूल शक्ति नैतिकता ही है।** राष्ट्र जब सदस्यों से कोई कार्य करवाना चाहता है तब वह ऐसे वातावरण का निर्माण करता है जिससे लोगों के मन में स्वतः ही उस कार्य को करने की भावना उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार वह प्रार्थना करता है परन्तु आज्ञा नहीं देता। **अतः राष्ट्र की शक्ति प्रजा की स्वैच्छिक नैतिक शक्ति है।**

राष्ट्र निर्माणक तत्त्व अनिश्चित

राष्ट्र को निर्मित करने के लिए कोई निश्चित तत्त्व नहीं है क्योंकि उनमें सदैव समयानुसार परिवर्तन होता रहता है। जिस प्रकार राज्य के **चार** निर्माणक तत्त्व निश्चित है— **जनसंख्या, भू-भाग, सरकार** और **प्रभुसत्ता**। जहाँ ये चारों संयुक्त हो जाते हैं वहीं राज्य का निर्माण हो जाता है। वैसे राष्ट्र के कोई निश्चित निर्माणक तत्त्व नहीं है।

इस प्रकार राष्ट्र के मूलतः कोई निश्चित तत्त्व नहीं है क्योंकि राष्ट्र का स्वरूप अमूर्त होता है जिसकी संरचना को अनुभव के आधार पर समझा जा सकता है, देखा नहीं जा सकता।

राष्ट्र के निर्माणक तत्त्व

राष्ट्र के निर्माणक तत्त्व मुख्यतः अनिश्चित है, तत्त्वों की अनिश्चितता होते हुए भी राष्ट्र के निर्माण हेतु अधोलिखित तत्त्वों की आवश्यकता पड़ती है।

---

१. राष्ट्रकवि मैथिलीशरणगुप्त की कविता से उद्धृत।

१. जनसंख्या
२. भौगोलिकता
३. भाषा
४. धर्म
५. शासन व्यवस्था
६. सभ्यता और संस्कृति
७. साहित्य
८. राष्ट्रीय एकता और कल्याणकारी भावना
९. स्वाधीनता और स्वतन्त्रता

१. जनसंख्या

जनसंख्या राष्ट्र का मुख्य तत्त्व है। जब तक राष्ट्र में पर्याप्त जनसंख्या नहीं होगी तब तक राष्ट्र को संगठित नहीं किया जा सकता क्योंकि राष्ट्र का प्राणतत्त्व है— **राष्ट्रीय भावना**, जो कि लोगों के परस्पर मिलजुल कर एक साथ रहने से तथा विचारों के आदान-प्रदान, प्रेम सहयोग की भावना, सभ्यता और संस्कृति आदि के द्वारा पल्लवित तथा पुष्पित होती है। यह तभी सम्भव है जब जनसंख्या का उद्देश्य राष्ट्रीय एकता, शान्तिमय जीवन तथा **जीओ तथा जीने दो** की भावना से ओत-प्रोत हो।

अतः राष्ट्र की उन्नति हेतु यह भी आवश्यक है। राष्ट्र की जनसंख्या न तो इतनी कम हो कि शासन-व्यवस्था सुचारू रूप से कार्य न कर सके और न ही इतनी अधिक कि राष्ट्र पर बोझ बन जाये अर्थात् उसे पराश्रयी होना पड़े।

२. भौगोलिकता

राष्ट्र की आध्यात्मिकता की भावना को दृढ़ता प्रदान करने में **भौगोलिकता** का अपना विशेष महत्त्व है क्योंकि भौगोलिकता ही मनुष्य को एकत्व की शिक्षा प्रदान करती है। **एक भू-भाग पर बसा हुआ जन-समूह स्वाभाविक रूप से राष्ट्रीय एकता के दृढ़-बन्धन में बँध जाता है** क्योंकि उसकी समान जाति, भाषा, धर्म, परम्परा, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, आचार-विचार तथा भाव आदि समान होने के कारण उनसे प्रेरित होकर ही वह दूसरे के दुःख में अपना दुःख तथा दूसरों के सुख में अपना सुख समझता है। यही प्रेम, परस्पर सहयोग की भावना ही उसे राष्ट्रीयता से जोड़ती है जो निश्चित भू-भाग पर रहने के लिए बाध्य करती है तथा राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता रूपी निधि को सुरक्षा प्रदान करती है।

३. भाषा

प्रत्येक राष्ट्र के संगठन हेतु भाषा का होना अति आवश्यक है **क्योंकि भाषा रहित राष्ट्र गूँगे व्यक्ति के समान होता है जिसकी अपनी कोई भाषा, शैली, भाव तथा विचार नहीं होते।** अत: राष्ट्र को सुसंगठित करने हेतु राष्ट्र की एक राष्ट्रीय भाषा होनी चाहिए जो सम्पूर्ण राष्ट्र में बोली जाए तथा जिसके माध्यम से ही राष्ट्रीय स्तर पर समस्त कार्य किये जाएँ तथा राष्ट्र अपनी शासन-व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित कर सके। भाषा ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा ही हम अपने भावों, विचारों तथा अनुभवों को व्यक्त कर सकते हैं तथा दूसरों के भावों, विचारों तथा अनुभवों को समझ सकते हैं। भाषा के माध्यम से ही मानव जाति ने न केवल समाज के रूप में अपितु, राष्ट्र रूप में स्वयं को गुम्फित कर लिया है। इस प्रकार राष्ट्र संगठन तथा राष्ट्रीयता को दृढ़ता प्रदान करने में **भाषा** अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

४. धर्म

मनुष्य स्वेच्छा से जो कुछ धारण करता है वही धर्म है और **धर्म** का राष्ट्र के संगठन में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है **क्योंकि धर्म ही मनुष्य को मानवता से जोड़ता है और मानवता मनुष्यता से।** जब मनुष्य के मन में सुखी जीवों को अधिक सुखी और दु:खी जीवों को सुखी बनाने का भाव जाग्रत होता है, **तब उसके द्वारा किये गये प्रत्येक कल्याणकारी कार्य उसका धर्म होते हैं।** यही धर्म उसे राष्ट्र की भावनात्मक शक्ति **राष्ट्रीयता** से जोड़ता है जो राष्ट्र को सुसंगठित करता है।

५. शासन-व्यवस्था

सुसंगठित राष्ट्र के संचालन हेतु शासन-व्यवस्था की आवश्यकता होती है जिसके अभाव में राष्ट्र में अराजकता, वैमनस्य आदि व्याप्त हो जाते हैं जिससे सब अपनी मनमानी करने लगते हैं। **''जिसकी लाठी उसकी भैंस''** वाली कहावत चरितार्थ होने लगती है। अत: समस्त मानव जाति तथा राष्ट्र उन्नति के मूल उद्देश्य की पूर्ति हेतु ही शासन-व्यवस्था की महती आवश्यकता पड़ती है, जिससे राष्ट्र का गौरव तथा उसकी स्वतन्त्रता सदैव बनी रहती है। शासन व्यवस्था से तात्पर्य यहाँ केवल राजनैतिक व्यवस्था से ही नहीं है, अपितु सामाजिक, आर्थिक, नैतिक आदि उसमें सभी सम्मिलित हैं। इस प्रकार सरकार शासन-व्यवस्था को संचालित करने का माध्यम है और जिसका संचालक है राष्ट्र।

६. सभ्यता और संस्कृति

सभ्यता और **संस्कृति** राष्ट्र गठन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। किसी

भी राष्ट्र की पहचान उसकी सभ्यता तथा संस्कृति ही होती है जिसके द्वारा ही वह अन्य राष्ट्रों के समक्ष अपनी पहचान बनाये रखता है। सभ्यता और संस्कृति ही मनुष्य को आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों से सम्बद्ध करती है और राष्ट्रीयता की भावना को साकार करती है। सभ्यता और संस्कृति के माध्यम से ही मानव-समाज विचारों की संकीर्णता को त्यागकर विस्तृतता को प्राप्त होता है जिससे मानव का स्वयं का, समाज का तथा राष्ट्र का कल्याण होता है। **इस प्रकार संस्कृति ही धार्मिक, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक तथा विश्वबन्धुत्व की भावना को प्रवाहित करने वाली नदी है जिसका उद्गम स्थान है- राष्ट्र।**

७. साहित्य

साहित्य भी राष्ट्र संगठन को अत्यधिक प्रभावित करता है। साहित्य के द्वारा ही व्यक्ति स्वयं को समाज में समायोजित करने योग्य बनाता है। समाज में समायोजित व्यक्ति ही अपना, अपने परिवार का, नगर का, देश तथा समाज का कल्याण कर सकता है। **इस प्रकार साहित्य व्यक्ति पर, समाज पर तथा राष्ट्र पर अपना विशेष प्रभाव डालता है जिससे राष्ट्र की आन्तरिक भावनात्मक शक्ति को तथा राष्ट्रीय एकता को बल मिलता है।** साहित्य के माध्यम से ही व्यक्ति अपनी सभ्यता, संस्कृति, धर्म, भाषा, आचार-विचार आदि से स्वयं की पहचान बनाते हैं और सभ्यता, संस्कृति, धर्म, भाषा आदि से जोड़कर स्वयं को तथा राष्ट्र को गौरवान्वित करते हैं।

राष्ट्रीय एकता और कल्याणकारी भावना

राष्ट्रीय एकता राष्ट्र का प्राणतत्त्व है जिसके अभाव में राष्ट्र का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। राष्ट्रीय एकता मूलतः वह भावना है जो प्रत्येक जन के हृदय में विद्यमान रहती है, जिससे प्रेरित होकर ही वह एकता के सूत्र में बँध जाते हैं और राष्ट्र के उत्थान हेतु सदैव तत्पर रहते हैं। **जे०एच० रोज़ के शब्दों में— "राष्ट्रीयता हृदयों की वह एकता है जो एक बार बनकर कभी नहीं बिगड़ती।"**[१] उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट ही है जब प्रत्येक जन हृदय से एकता के सूत्र में बँध जाता है, तो वह मन, वचन, कर्म से स्वतः ही एकता के अटूट बन्धन में बँध जायेगा, तब उसका प्रत्येक कार्य **बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय तथा निःस्वार्थ भाव लिये अवश्य ही कल्याणकारी होगा, जिससे सम्पूर्ण राष्ट्र सुगन्धित हो उठेगा। जिसका प्रत्येक जनरूपी विकसित पुष्प प्रफुल्लित हो, वह राष्ट्ररूपी उपवन को ही सर्वोपरि समझेगा और अपने उपवन की सुगन्ध को किसी को चुराने नहीं देगा।**

---

१. नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त, पृ० सं० ४०६

इस प्रकार राष्ट्रीय एकता और कल्याणकारी भावना राष्ट्र रूपी आत्मा के दो अलग-अलग नाम हैं जिनके अभाव में राष्ट्र संगठन कदापि सम्भव नहीं।

स्वाधीनता और स्वतन्त्रता

स्वाधीनता और स्वतन्त्रता ही प्रत्येक राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों से भिन्न करती है। जब तक राष्ट्र स्वाधीन और स्वतन्त्र नहीं होगा तब तक वह राष्ट्र ही नहीं कहला सकता। **राष्ट्रीय स्वाधीनता** और **स्वतन्त्रता** से तात्पर्य है– **राष्ट्र का आत्मनिर्भर होना** अर्थात् अपने आन्तरिक, बाह्य कार्य में पूर्ण स्वतन्त्र तथा शासन-व्यवस्था में किसी अन्य राष्ट्र का हस्तक्षेप न होना, स्वतन्त्रता जिसकी परिचायक है। **स्वाधीनता** और **स्वतन्त्रता राष्ट्र निधि के ऐसे बहुमूल्य रत्न है** जो नागरिकों में प्रेम, सहयोग, अनुशासन, धर्म, निष्ठा, कर्त्तव्यपरायणता, सहिष्णुता तथा बन्धुत्व आदि गुणों को विकसित कर राष्ट्र को स्वस्थ और शक्तिशाली बनाते हैं। **स्वाधीनता और स्वतन्त्रता के अभाव में राष्ट्र की स्थिति एक दास के समान होती है जिसकी अपनी कोई इच्छा नहीं होती।** इस प्रकार राष्ट्र के संगठन में स्वाधीनता और स्वतन्त्रता का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इस प्रकार राष्ट्र का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत तथा व्यापक है जो मुख्यतः अपने नागरिकों की बाह्य आक्रमणों से रक्षा करता है तथा उनके आत्मिक, मानसिक तथा शारीरिक विकास हेतु अवसर प्रदान करता है। विधि, सुरक्षा विभाग तथा न्यायालयों के द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र में शासन-व्यवस्था बनाये रखता है **क्योंकि देश में व्याप्त अशान्ति ही राष्ट्र उन्नति में बाधक होती है और सुरक्षा उन्नति का मार्ग प्रशस्त करती है। राष्ट्र द्वारा प्रदत्त सुरक्षा ही नागरिकों का नैतिक एवं मानसिक स्तर ऊँचा उठाती है** तथा उन्हें सभ्यता और संस्कृति की ओर उन्मुख करती है। राष्ट्र ही प्रत्येक नागरिक के अधिकार और कर्त्तव्य निश्चित करता है और अधिकार मनुष्य को वास्तविक रूप प्रदान करते हैं। राष्ट्र किसी भी नगर तथा प्रान्त को असामयिक, प्राकृतिक प्रकोप के आ जाने पर प्रत्येक दृष्टि से सहायता प्रदान करने हेतु सदैव तत्पर रहता है। सार्वजनिक वाचनालय, पुस्तकालय, चित्रशाला, पार्क, चलचित्र, प्रदर्शनी, मेले आदि साधनों के द्वारा राष्ट्र समस्त जनता का मनोरंजन कराता है जो मनोरंजन के साथ-साथ प्रेम-सौहार्द की भावना को विकसित करते हैं। राष्ट्र व्यापार, सहयोग के लिए दूसरे राष्ट्रों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करता है जिससे **विश्व-बन्धुत्व की भावना पल्लवित तथा पुष्पित होती है।** इस प्रकार राष्ट्र का उद्देश्य होता है अपनी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार-प्रसार करना तथा समस्त देशवासियों को शिक्षित कर उनका सर्वतोमुखी विकास करना।

इस प्रकार राष्ट्र की विषय-वस्तु एवं क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत तथा व्यापक है जिसे व्याख्यायित नहीं किया जा सकता।

राष्ट्र के विषय में भारतीय और पाश्चात्य अवधारणाएँ

राष्ट्र के विषय में विभिन्न विद्वानों ने अपने विचार भिन्न-भिन्न रूप में प्रस्तुत किये हैं। वैदिक काल से लेकर आज तक राष्ट्र को अपने-अपने मतानुसार परिभाषित किया जाता रहा है तथा उसके स्वरूप को सुनिश्चित करने का प्रयास किया जाता रहा है, जिनमें से कुछ प्रमुख विचार यहाँ प्रस्तुत हैं।

दाते तथा आपटे के शब्दकोष के अनुसार- राष्ट्र को विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया है। इस शब्द के विविध अर्थ है— देश, राज्य, मंडल, प्रांत, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक आत्मीयता से पूर्ण जनसमुदाय, अनेक लोग, राज कारोबार आदि।[१]

उपर्युक्त विचार से स्पष्ट है कि इन्होंने **राष्ट्र** को विविध अर्थो में प्रयुक्त करते हुए उसके प्राणतत्त्व, **आत्मीयता से पूर्ण जनसमुदाय** को ही **'राष्ट्र'** की संज्ञा दी है।

प्राचीन संस्कृत काव्य के अनुसार- 'राष्ट्र' शब्द का उल्लेख निम्नलिखित वाक्यों में प्राप्त होता है— **''पृथिव्यै समुद्रपर्यन्तया एक राष्ट्र''** और **''पशुधन हिरण्य सम्पदा च राजते शोभते इति राष्ट्रम्।''**[२]

अर्थात् पशु-धन-धान्य आदि सम्पदाओं से सुशोभित भू-भाग ही राष्ट्र है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार- शतपथ ब्राह्मण में **राष्ट्र** शब्द की व्याख्या इस रूप में मिलती है— **''श्री वैराष्ट्रम्''**।[३] अर्थात् **समृद्धियुक्त ओजस्वी जनसमूह ही राष्ट्र है।**

अथर्ववेद में राष्ट्र के स्वरूप को कुछ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है।

''राष्ट्र के सभी निवासी राष्ट्र के निज बनकर रहे अर्थात् राष्ट्र का हित अपना हित समझे और राष्ट्र का अहित अपना अहित समझें- सच्ची राष्ट्रीय भावना से परिचालित हो, संकीर्ण स्वार्थो से ऊपर उठकर राष्ट्रहित को सर्वोपरि महत्ता प्रदान करे। साथ ही यह भी प्रार्थना की गयी है कि शत्रु पर विजय प्राप्त करने वाली सचेत देव सेना के सहयोग में हम (प्रजाजन) अपना सर्वस्व अर्पित करते हैं। शत्रु के उन्मूलन में समस्त राष्ट्रवासियों का योग अपेक्षित है।

माता भूमिः, पुत्रोऽहं पृथिव्याः अर्थात् **मेरी माता भूमि है और मैं मातृभूमि का**

---

१. (अ) दाते— महाराष्ट्र शब्द-कोष, पृ० २६६२
   (ब) आपटे— संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८०२
२. डा० सुधाकर शंकर कलवडे की आधुनिक हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना, पृ० १७
३. शतपथ ब्राह्मण, पृ० ६-७-३-६।

पुत्र हूँ– राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र के सच्चे अभ्युदय में यथाशक्ति योग दे।[१]

उपर्युक्त विचार से स्पष्ट है कि राष्ट्र का हित ही अपना हित है। इस भावना से ओत-प्रोत होकर प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र के अभ्युदय में अपना यथाशक्ति योग दे।

डा० सिन्हा ने राष्ट्र की उत्पत्ति किस प्रकार होती है तथा राष्ट्र के उत्पत्तिकाल को अपने शब्दों में व्यक्त करने का प्रयास किया है।

डा० सिन्हा के अनुसार– "जब आर्यजन (कबीले) निश्चित भू-भाग पर रहने लगे तो उन्हें उस भूमि से अवश्य ही प्रेम उत्पन्न हुआ होगा, उस प्रेम के साथ उनमें आदिवासियों के प्रति घृणा और अपने वर्ण (रंग) तथा विजित प्रदेश के रक्षण के लिए गहरी चिन्ता उत्पन्न हुई होगी। इस प्रकार आर्यों के मन में उसी भूमि के प्रति, जहाँ के वे निवासी थे, एक सुदृढ़ भावना पैदा हुई होगी क्योंकि उस भूमि से वह कभी हटना नहीं चाह सकते थे। इस भावना ने, जिसे प्रतिरक्षा व आक्रमण की आवश्यकता ने अधिक सुदृढ़ बनाया होगा, प्रारम्भिक राजनीतिक चेतना का रूप धारण किया होगा और इस प्रकार प्रथम राज्य, जिसे वैदिक आर्यों ने राष्ट्र कहा, उत्पन्न हुआ होगा।"[२]

डा० सुधीन्द्र के शब्दों में– भूमि, भूमिवासी जन और जन संस्कृति का समुच्चय 'राष्ट्र' है और 'राष्ट्र' के उत्थान और प्रगति के संयोजक तत्त्वों का समीकरण– राष्ट्र धर्म है।[३]

डा० सुधीन्द्र महोदय भूमि, उस पर निवास करने वाले समस्त जनसमूह तथा संस्कृति के समुच्चय को ही राष्ट्र मानते हैं तथा राष्ट्रधर्म को राष्ट्र की उन्नति का सर्वोत्तम कारण।

प्रोफेसर बर्गेस के अनुसार– राष्ट्र जातीय एकता के सूत्र में बँधी हुई वह जनता है जो किसी अखण्ड भौगोलिक प्रदेश पर निवास करती हो।[४] उपर्युक्त परिभाषा में जातीय आधार को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। जातीय एकता से अभिप्राय केवल जाति विशेष से नही हैं अपितु **ऐसे समस्त समान जन समूह से है जिसकी भाषा, साहित्य, परम्परा, इतिहास तथा रीतिरिवाज आदि सभी समान हो।**

ब्राइस ने 'राष्ट्र' को इस प्रकार परिभाषित किया है। **राष्ट्र वह राष्ट्रीयता है जिसने**

---

१. परमात्मा शरण की प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थायें, पृ० ५३५

२. H.N.Sinha : The Development of Indian Polity, P. 23.

३. डा० सुधीन्द्र– हिन्दी कविता में युगान्तर, पृ० ३६.

४. आर०सी० अग्रवाल की भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास, पृ० सं० २

अपने आप को स्वतन्त्र अथवा स्वतन्त्रता होने की इच्छा रखने वाली राजनीतिक संस्था के रूप में संगठित कर लिया हो।[१]

ब्राइस की इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि **राष्ट्र एक राजनीतिक संस्था के रूप में संगठित स्वतन्त्र एवं स्वतन्त्रता की इच्छा रखने वाला जन-समूह है।** उनकी परिभाषा से सिद्ध होता है कि **उन्होंने स्वतन्त्रता को अत्यधिक महत्त्व दिया है।**

गिलक्राइस्ट के अनुसार– राष्ट्र अर्थ की दृष्टि से राज्य के बहुत समीप है। वे कहते है कि **राष्ट्रीयता तथा राज्य को मिलाकर राष्ट्र बन जाता है।**[२]

गिलक्राइस्ट जी **राष्ट्र को राज्य के अत्यन्त समीप बताते है तथा एक-दूसरे को एक-दूसरे का पूरक मानते है।** उनके अनुसार किसी एक के अथवा **राष्ट्रीयता और राज्य के अभाव में राष्ट्र का निर्माण नहीं किया जा सकता।** अत: **राष्ट्र के लिए राष्ट्रीयता तथा राज्य दोनों का होना महती आवश्यक है।**

हैज के अनुसार– राष्ट्रीयता, राजनीतिक एकता तथा सत्ताधारी स्वतन्त्रता को प्राप्त करके राष्ट्र बन जाता है।[३]

श्री हैज के इन शब्दों का अभिप्राय यह है कि **राष्ट्रीयता, राजनीतिक एकता तथा सत्ताधारी स्वतन्त्रता के अभाव में राष्ट्र के स्वरूप की कल्पना नहीं की जा सकती है।**

रैम्जेभ्योर के अनुसार– राष्ट्र एक ऐसा समूह होता है जिसके सदस्य स्वभावत: आपस में कई प्रकार की समानताओं से बँधे होते हैं। ये समानताएँ इतनी सुदृढ़ और वास्तविक होती है कि वे प्रसन्नता के साथ रह सकते हैं और यदि उन्हें अलग-अलग कर दिया जाये, तो वे असन्तुष्ट रहेंगे, साथ ही ऐसे व्यक्तियों के अधीन रहना नहीं चाहते, जो कि उस जन समूह से उन समानताओं द्वारा न बँधे हुए हो।[४]

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि **राष्ट्र ऐसे व्यक्तियों का समूह होता है जो स्वभाव से अर्थात् अन्तर्मन से ऐसे बन्धन में बँधे होते हैं जिसे** देखा नहीं जा सकता अर्थात् **अनुभव किया जा सकता है।** वहीं बन्धन उनकी एकता अर्थात् राष्ट्रीयता कहलाता है और **जिसके अभाव में वह डाल से टूटे हुए मुरझे हुए पुष्प के समान स्वयं को अनुभव करते हैं।**

डा० गार्नर के शब्दों में– राष्ट्र पारस्परिक समानता रखने वाले व्यक्तियों का

---

१. आर०सी० अग्रवाल की भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास, पृ० सं. ३

२. आर०सी० अग्रवाल की राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास, पृ० ३

३. उपर्युक्त पृ० सं. ३

४. आर०सी० अग्रवाल की राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास, पृ० ३

एक संगठित समूह है, उन व्यक्तियों का जो अपनी पारस्परिक समानता के प्रति सजग होते हैं।[१]

गार्नर महोदय की परिभाषा इस ओर संकेत करती है कि **राष्ट्र उन व्यक्तियों का समूह कहलाता है जिनमें पारस्परिक समानता होती है, जिसके प्रति वे सदैव सजग रहते हैं।**

साम्यवादी विचारक स्तालिन के अनुसार– राष्ट्र ऐतिहासिक प्रक्रिया से निर्मित वह स्थायी जनसमुदाय है जिसका निर्माण समान भाषा, भूमि, आर्थिक जीवन और समान संस्कृति के रूप में अभिव्यक्त एक से मानसिक गठन के आधार पर हुआ हो।[२]

उपर्युक्त विचार से स्पष्ट है कि राष्ट्र अपने मूल निर्माणक तत्त्वों जैसे समान भाषा, भूमि, आर्थिक स्तर, संस्कृति पर मूलत: निर्भर होता है जिनका आधार है समस्त जनसमुदाय का समान मानसिक संगठन तथा देश के प्रति सच्ची भक्ति।

प्रादियर फोदरे के अनुसार– जिन-जिन तत्त्वों के सयुंक्त रूप से 'राष्ट्र' शब्द का बोध होता है, वे हैं— प्रजाति, भाषा, रीति-रिवाज तथा धर्म।'[३] फ्रांस के लेखक **प्रादियर फोदरे ने राष्ट्र को इन चारों— प्रजाति, भाषा, रीतिरिवाज** तथा **धर्म** के संयुक्त को **'राष्ट्र'** शब्द से अभिहित किया है। यहाँ पर इन्होंने इन चारों के व्यापक रूप को प्रस्तुत किया जैसे **प्रजाति** से तात्पर्य उनका **समस्त मानव जाति से है न कि किसी जाति विशेष से।** इसी प्रकार **भाषा** से तात्पर्य उनका **राष्ट्रभाषा** से है। **रीति-रिवाज** से **संस्कृति विशेष** से है जो **राष्ट्र के गौरव की कथा कहती है,** जो **प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र से जोड़ती है।** इसी प्रकार **धर्म** से तात्पर्य यहाँ **मानव धर्म से है न कि हिन्दू या मुस्लिम धर्म विशेष से।**

हॉलेड रोज के अनुसार– राजनीतिक दृष्टि से संगठित जनता को ही राष्ट्र कहते हैं।

रोज के अनुसार राजनैतिक दृष्टि से जब राष्ट्र के समस्त तत्त्व होते हैं और राजनैतिक दृष्टि से शासन व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहती है **वही सुसंगठित जनता अर्थात् समाज ही राष्ट्र कहलाने लगता है।**

नेविको के अनुसार– राष्ट्र एक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक एकता है और वह सामाजिक विकास का सर्वोत्कृष्ट उत्पादन होता है।[४]

---

१. आर०सी० अग्रवाल की राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास, पृ० ३
२. सत्यनारायण दुबे की आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ, पृ० ३३१
३. डा० आर०पी० साहनी की राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त, पृ० १५९
४. डा० इकबाल नारायण की राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, पृ० ८०

ब्लुंशली के मतानुसार– राष्ट्र ऐसे व्यक्तियों का समूह होता है जो विशेषतः भाषा और प्रथाओं द्वारा परस्पर एक-सी सभ्यता में आबद्ध होता है और जिसके कारण उसमें एकता तथा सब विदेशियों से पृथकता का भाव उत्पन्न हो जाता है।[१]

ब्लुंशली जी ऐसे व्यक्तियों के समूह को राष्ट्र कहते है जिनकी विशेष रूप से भाषा, प्रथा, सभ्यता एक हो तथा वह सब एकता के सूत्र मे गुँथे होने के साथ-साथ विदेशियों से पृथक् उनकी अपनी अलग पहचान हो।

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि सभी ने अपने-अपने मतानुसार राष्ट्र के स्वरूप को परिभाषित करने का प्रयास किया और एकता, समानता जिसके आवश्यक अंग हैं।

राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता के आधार तत्त्व

''वसुधैव कुटुम्बकम्'' भारतीय संस्कृति का एक आदर्श है। इस आदर्श की संकल्पना वैदिक है। हमारे धर्मग्रन्थों में इसको उल्लिखित किया गया है। हमारे वैदिक ऋषियों ने समग्र मानवता को एक माना है, सबके कल्याण की कामना की है। यथा :—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।[२]

ऋग्वेद के निम्न मंत्र में भी मानव मात्र की समता की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते
संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वसा रुद्र एषां सुदुधा
पृशिनः सुदिना मरूद्भ्यः।।[३]

वेदों में वर्णित समता, सहृदयता और स्नेह का यह आदर्श अधिकांशतः मानव जाति के सन्दर्भ में प्रतिष्ठित हुआ है। यही भावना आगे चलकर उपनिषदों और गीता में विस्तारित हुई है। परम एकत्व के आदर्श के अन्तर्गत समस्त प्राणियों और वनस्पतियों तक के प्रति भी समभाव प्रकट किया गया है।

---

१. उपर्युक्त, पृ० ८०
२. संस्कृत परिचायिका, पृ० ५९ (मुख्यतः 'पद्मपुराण' से)
३. ऋग्वेद ५/६०/५

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।[१]

अद्वैत वेदान्त में समस्त प्राणियों में एक ही ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गयी है। यहाँ अपने और पराये के लिए कोई स्थान ही नहीं है। सभी प्राणी समान है, सभी के भाव एवं विचार समान है, एक हैं। सभी एकता के अटूट बन्धन में उसी प्रकार गुथे हुए हैं जिस प्रकार माला में मोती।

राष्ट्रीय एकता एक ऐसी भावना है जिसके अनुसार राष्ट्र के समस्त निवासी एक-दूसरे के प्रति सद्भावना रखते हुए राष्ट्र की उन्नति हेतु परस्पर मिलकर कार्य करते हैं। वस्तुतः यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जो राष्ट्र का एकीकरण करते हुए उसके निवासियों में पारस्परिक बन्धुत्व और राष्ट्र के प्रति निजत्व का भाव जाग्रत करते हुए राष्ट्र को सुसंगठित और सशक्त बनाती है। इस प्रकार राष्ट्रीय एकता भाषा, धर्म, जाति, सम्प्रदाय, संस्कृति और सभ्यता की भिन्नता होते हुए भी उन्हें एकता के सूत्र में बाँधकर राष्ट्र को सुदृढ़ बनाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देती है।

राष्ट्रीय एकता राष्ट्र रूपी शरीर में आत्मा के समान है। जिस प्रकार आत्माविहीन शरीर प्रयोजनहीन हो जाता है उसी प्रकार राष्ट्र भी राष्ट्रीय एकता के अभाव में टूट जाता है। राष्ट्रीय एकता के लिए भाषा, धर्म, जाति और संस्कृति की एकता आवश्यक नहीं होती और विविधता बाधक नहीं बनती। राष्ट्रीय एकता तो विविधता के बीच ही जन्म लेती हुई फूलती और फलती है।

हमारा देश भारत एक ऐसा ही देश है। यहाँ भाषा, धर्म, जाति, सम्प्रदाय, संस्कृति और सभ्यता आदि की भिन्नता पायी जाती है। लेकिन फिर भी यह एक गौरवशाली राष्ट्र है और राष्ट्रीय एकता इसकी मौलिक विशेषता है।

राष्ट्रीय एकता से सम्बन्धित कुछ प्रमुख विचार

राष्ट्रीय एकता सम्मेलन के अनुसार- ''राष्ट्रीय एकता एक मनोवैज्ञानिक एवं शैक्षिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा लोगों के दिलों में एकता, संगठन एवं सन्निकटता की भावना, सामान्य, नागरिकता की भावना और राष्ट्र के प्रति भक्ति की भावना का विकास किया जाता है।''[२]

नवभारत टाइम्स के प्रधान सम्पादक श्री अक्षय कुमार जैन के अनुसार-

---

१. गीता ६/२९
२. आधुनिक सामाजिक विज्ञान / लेखक उदयवीर तथा शकुन्तला सक्सेना, पृ० ३३३

"अनेकता में एकता इस प्रकार बैठी है जैसे शरीर में भिन्न-भिन्न अवयवों के होते हुए भी रीढ़ की हड्डी में चलता हुआ स्नायु मंडल।"[१]

महात्मा गाँधी के अनुसार– "एकता क्या चीज है और उसे किस तरह बढ़ाया जा सकता है? इसका उत्तर सीधा सादा है। **एकता के लिए आवश्यक यह है कि हम सब लोगों का उद्देश्य एक हो, लक्ष्य एक हो तथा हमारी तकलीफें भी एक समान हो। एकता को प्राप्त करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक-दूसरे के साथ सहयोग किया जाये, दूसरों के दुःखों में हिस्सा बँटाया जाए और परस्पर सहिष्णुता बरती जाये।**"[२] उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि **एकता अर्थात् राष्ट्रीय एकता** वह भावना है **जो समस्त जन-जन के हृदय में विद्यमान रहती है, जिससे प्रेरित होकर वह एकता के सूत्र मे बँध जाते हैं।**

अखण्डता शब्द से अभिप्राय है खण्डित न होने वाली स्थिति या प्रक्रिया **अर्थात् जिसका खण्डन न किया जा सके। राष्ट्रीय अखण्डता को कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है।** राष्ट्रीय संविधान का सम्पूर्ण राष्ट्र में समान रूप से लागू होना। **राष्ट्रीय अखण्डता भौगोलिक सीमाओं और भूखण्डों से प्रभावित होते हुए भी एक संविधान सूत्र के अन्तर्गत विभिन्न प्रान्त व भूखण्डों का एक राष्ट्र के रूप में स्थापित होना। राष्ट्रीय अखण्डता एक संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकता के आधार पर बनी रह सकती है।**

जैसे भारतवर्ष एक विशाल राष्ट्र है जो विभिन्न प्रान्तीय भूखण्डों में विभक्त होते हुए भी एक संविधान के अन्तर्गत अपनी अखण्डता को बनाये हुए है। जिसकी अखण्डता पर प्रान्तीय भूखण्डों, विचारधाराओं, धर्म, जातियों, सम्प्रदायों की विभिन्नताओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। राष्ट्रीय अखण्डता के कारण ही राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक सम्पूर्ण राष्ट्र को अपना घर समझता है और उसके किसी भी स्थान पर उसका जन्मसिद्ध अधिकार होता है चाहे वह किसी भी प्रान्त, धर्म, सम्प्रदाय जाति अथवा विचारधारा से सम्बन्धित हो। **एक अखण्ड राष्ट्र ही राष्ट्रीय एकता स्थापित रख सकता है। इस प्रकार राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता में घनिष्ठ सम्बन्ध है।** राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक तत्त्वों पर आधारित होती है। ये सभी तत्त्व एक-दूसरे से आबद्ध होते हैं। राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता के आधार तत्त्व मुख्यतः निम्न हैं।

---

१. हाईस्कूल सामाजिक विज्ञान भाग-१, पृ० ३६३

२. महात्मा गाँधी का सन्देश : संकलन और सम्पादन, यू० एस० मोहनराव, पृ० ८२

१. भौगोलिकता
२. नागरिकता
३. धर्म
४. राष्ट्रभाषा
५. राष्ट्रीय प्रतीक
६. राष्ट्रीय पर्व
७. सामाजिक समानता
८. साहित्य
९. संस्कृति

१. भौगोलिकता-

राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता के निर्माण हेतु भौगोलिक एकता अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है जिसके अभाव में नागरिकों में एकरूपता उत्पन्न नहीं हो पाती और वह अपनी भाषा, संस्कृति से तादात्म्य भी स्थापित नहीं कर पाते। भौगोलिक स्थिति, जलवायु तथा रहन-सहन का मनुष्य पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। भौगोलिक एकता के कारण ही अखण्ड राष्ट्र की कल्पना की जा सकती है। **भौगोलिक एकता एवम् अखण्ड राष्ट्र पर बल देते हुए रुथना स्वामी कहते है** कि "किसी देश की जनता में भले राजनीतिक तथा धर्म के कारण विभिन्नता पैदा हो जाये, किन्तु एक देश में निवास और देश-प्रेम की भावना उसे एकता के सूत्र में बाँधे रहती है।"[१]

गिलक्राइस्ट के शब्दों में- एक निश्चत भू-भाग पर निरन्तर एक साथ रहना राष्ट्रीयता के विकास के लिए आवश्यक है।[२]

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि **राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्रीय अखण्डता के विकास में भौगोलिक एकता का अपना महत्त्वपूर्ण योगदान है, जिसका प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक गठन, सामाजिक जीवन तथा चरित्र पर अवश्य ही पड़ता है।**

२. नागरिकता-

नागरिकता नागरिक शब्द की भाववाचक संज्ञा है। नागरिकता से नागरिक के उन अधिकारों और कर्त्तव्यों का बोध होता है जो उसे राष्ट्र की ओर से मिले हुए रहते हैं तथा नागरिक की श्रेणी प्रदान करते हैं। यह एक वैधानिक स्थिति है जो

---

१. नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त, पृ० ४०७
२. नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त, पृ० ४०७

व्यक्ति को राष्ट्र से जोड़ती है और राष्ट्र द्वारा प्रदत्त सामाजिक तथा राजनीतिक भौगोलिक अधिकारों के उपयोग एवं उसके बदले में राष्ट्रों के प्रति कर्त्तव्यों के पालन का विश्वास दिलाती है। इस प्रकार नागरिकता एक ऐसी भावना है जो नागरिक के हृदय में अपनेपन के भाव को जाग्रत करती है जिससे नागरिक अपने आपको राष्ट्र का अंग समझने लगते हैं, राष्ट्र के उत्थान को अपना उत्थान तथा पतन को अपना पतन मानते हैं। **उनकी यही भावना राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ तथा अखण्ड राष्ट्र की निर्माणक है। राष्ट्र की उन्नति हेतु ही आदर्श नागरिक अपने हितों का त्याग करने में तनिक भी संकोच नहीं करते।** पवित्र धर्मग्रन्थ **मनुस्मृति में त्याग की इस भावना का कितना सटीक वर्णन किया गया है जैसे–**

त्यजेद्देहं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत।। [१]

अर्थात् मनुष्य को अपने कुल के लिए देह का, ग्राम के लिए कुल का, देश के लिए ग्राम का और आत्मारूपी मानवता के लिए पृथ्वी तक का त्याग कर देना चाहिए। **त्याग की भावना तथा राष्ट्र की उन्नति ही नागरिकता की आधारशिला है।**

३. धर्म–

अखण्ड राष्ट्र तथा राष्ट्रीय एकता के निर्माण में वैदिक काल से ही धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। **धर्म अत्यधिक व्यापक शब्द है। व्यक्ति जो कुछ धारण करता है वही उसका धर्म है जैसे 'धारयति इति धर्मः'। जिससे उसे अभ्युदय व निःश्रेयस से पारलौकिक उन्नति का बोध होता है।**

महाभारत में भीष्म पितामह ने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की है कि धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है धारण करना। अभ्युदय, अपीड़न और धारण अर्थात् संरक्षण जिस उपाय से हो, वही धर्म है। **धर्म में ही वह क्षमता है जिससे जगत् का संरक्षण होता है।** धर्म के कारण ही व्यक्ति अपने स्थान अथवा पद में बन रहते हैं। **जो जगत् की स्थिति का कारण हो और प्राणियों की प्रत्यक्ष उन्नति एवं मोक्ष प्राप्ति का हेतु बने, वही धर्म है।**[२]

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार– "यज्ञ, दान, तप रूप, कर्म अर्थात् विश्वरूप परमेश्वर की अखण्ड तथा अनन्य भाव से सेवा ही धर्म है।"[३]

---

१. मनुस्मृति।
२. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १०९, श्लोक १०-१२.
३. श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १८, श्लोक ५

वैदिक विद्वानों के अनुसार– धर्म वह है जिससे अभ्युदय व निःश्रेयस की सिद्धि हो। अभ्युदय से लौकिक तथा निःश्रेयस से पारलौकिक उन्नति एवं कल्याण का बोध होता है।

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि **धर्म के द्वारा ही सम्पूर्ण संसार का अर्थात् राष्ट्र का संरक्षण तथा उन्नति सम्भव है क्योंकि धर्म से ही प्रत्येक जन के हृदय में सेवा भाव जाग्रत होता है। दूसरों की सेवा करना ही मानव धर्म है** जैसे कहा भी गया है– "**परेषाम् उपकारः परोपकारः।**" धर्म से ही व्यक्तियों में बन्धुत्व की भावना जाग्रत होती है, परन्तु आज के युग में धर्म को राष्ट्रीय एकता के निर्माण का प्रमुख आधार तत्त्व मानने में विवाद है। क्योंकि आज अनेक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रों की स्थापना हो गयी है, जिस प्रकार हमारा भारतवर्ष। परन्तु **धर्म** का राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्र की अखण्डता बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि **धर्म मानवता का सन्देश देता हुआ व्यक्ति को परमात्मा से जोड़ता है** अर्थात् **जीव तथा आत्मा के सम्बन्धों का विश्लेषण करता है।** इस प्रकार धर्म ही व्यक्ति को बुराइयों से बचाता है और अच्छाइयों को अपनाने की प्रेरणा प्रदान करता है। **व्यक्ति के विकास हेतु धर्म के लक्षणों को इस प्रकार लक्षित किया है–**

> **धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।**
> **धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।**[१]

अर्थात् धैर्य, क्षमा, विषय-भोगों का दमन करना, चोरी न करना, बाहर-भीतर की स्वच्छता, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध– ये धर्म के दस लक्षण हैं। निस्सेन्दह इन गुणों को अपनाने से व्यक्ति के विकास में कोई सन्देह नहीं है। **जब व्यक्ति का वैयक्तिक विकास होगा तभी वह अपने ही धर्म की भाँति सभी धर्मों का समादर करेगा।** परमात्मा सभी धर्मों का मूल है। **जब परमात्मा एक है तो सभी धर्म एक ही हैं भले ही हम उसे अपनी भाषा सुविधानुसार किसी भी नाम से पुकारे।** इस प्रकार **धर्म राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्रीय अखण्डता को व्यापकता प्रदान करता है तथा राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता को महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है।**

४. राष्ट्रभाषा–

राष्ट्रीय एकता के निर्माण में भाषा की एकता भी महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। समान भाषा के परिणाम-स्वरूप ही लोगों में परस्पर अपनत्व की भावना का प्रादुर्भाव होता है। राष्ट्रीयएकता एवम् अखण्डराष्ट्र को स्थिरता प्रदान करने में भाषा, जाति,

---

१. मनुस्मृति

समुदाय की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होती है। **प्रत्येक राष्ट्र में बोली जाने वाली विविध भाषाओं में से जिस भाषा को संविधान द्वारा राष्ट्रभाषा घोषित किया जाता है वही भाषा राष्ट्रभाषा कहलाती है। उस भाषा में ही राष्ट्र के समस्त कार्य होते हैं तथा अन्य भाषाओं की अपेक्षा उसका सर्वाधिक महत्त्व होता है।** अतः बहुभाषी होते हुए भी प्रत्येक राष्ट्र में एक राष्ट्रभाषा होना अति अनिवार्य है। **गाँधी जी ने कहा था— "राष्ट्रभाषा के बिना प्रत्येक वह राष्ट्र गूँगा है।"** जिस प्रकार भारत बहुभाषी राष्ट्र है। यहाँ संविधान द्वारा १४ भाषाएँ मान्य हैं। **भाषा की इस अनेकता में एकता को प्रतिपादित करने का श्रेय संविधान द्वारा हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रदान किया गया है।** हिन्दी में वह सभी गुण विद्यमान है जो राष्ट्रभाषा बनने हेतु अपेक्षित है। यह अन्य भाषाओं की अपेक्षा सरल और बोधगम्य है। इसका साहित्य विशाल तथा पूर्ण है। विदेशी भी कुछ समय में ही थोड़े से परिश्रम से सरलता से सीख सकते हैं और भारतीयों से उनकी राष्ट्रभाषा में ही पारस्परिक सम्पर्क, सद्भाव और सहयोग स्थापित कर सकते हैं। इस प्रकार राष्ट्रभाषा राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। **"राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रत करने का सफल आधार होने के कारण कई विद्वानों ने भाषा की एकता को महत्त्वपूर्ण बताया है।"**

५. राष्ट्रीय प्रतीक एवम् चिह्न–

प्रत्येक राष्ट्र के अपने राष्ट्रीय प्रतीक तथा चिह्न होते हैं जो राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों से भिन्न करते हैं तथा उसकी पहचान बनाते हैं। ये प्रतीक चिह्न राष्ट्र को एकरूपता प्रदान करते हैं। जिस प्रकार हमारे राष्ट्र भारतवर्ष के राष्ट्रीय प्रतीक— राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रगान और भारत सरकार का राष्ट्रीय चिह्न भारत के प्रमुख प्रतीक हैं, जो राष्ट्र को एकरूपता की डोरी में बाँधे हुए हैं। **राष्ट्रीयध्वज** हमारी स्वतन्त्रता, एकता तथा समानता का प्रतीक है। इसमें केसरिया, श्वेत और हरा रंग है, जो जागृति, शौर्य, त्याग, सत्य, पवित्रता तथा समृद्धि के प्रतीक हैं। मध्य में स्थित नीले रंग का चक्र धर्म तथा ईमानदारी का। **प्रसिद्ध कवि रविन्द्रनाथ टैगोर** द्वारा लिखित 'जन गण मन' **राष्ट्रगान** ध्वज फहराने के तुरन्त बाद सावधान की मुद्रा में गाया जाता है। भारत सरकार के दो भाग है— शीर्ष और आधार। शीर्ष की ओर बने सिंह साहस और शक्ति के प्रतीक हैं, शीर्ष के नीचे देवनागरी लिपि में **'सत्यमेव जयते'** लिखा है। आधार के बांयी, दांयी ओर बना **घोड़ा और वृषभ** ताकत और चाल तथा कठिन परिश्रम और स्फूर्ति के तथा इनके मध्य बना **चक्र** धर्म का प्रतीक है। यह चिह्न सभी नोटों, सिक्कों तथा सरकारी पुस्तकों पर देखा जा सकता है। **इस प्रकार राष्ट्रीय प्रतीक एवम् चिह्न राष्ट्रीय एकता के सन्देश वाहक है** जो राष्ट्र की अलग पहचान बनाते हैं अर्थात् राष्ट्र को परिचय

प्रदान करते हैं।

६. राष्ट्रीय पर्व–

राष्ट्रीय एकता एवम् भावात्मक एकता को बढ़ाने में राष्ट्रीय पर्वों का अपना विशेष महत्त्व है। इन पर्वों को सभी देशवासी चाहे वह किसी भी वर्ग अथवा सम्प्रदाय के हो एक साथ मिल–जुलकर प्रेमपूर्वक मनाते हैं। जिससे उनमें पारस्परिक भेद–भाव, ऊँच नीच की भावना मिट जाती है। **राष्ट्र को ही सर्वश्रेष्ठ धर्म मानते हुए राष्ट्रीयएकता के प्रति सदैव सजग रहते हैं तथा अखण्डराष्ट्र के संरक्षण हेतु सदैव तत्पर रहते हैं और राष्ट्रीयएकता एवम् राष्ट्रीयअखण्डता में बाधक तत्त्वों का निराकरण करते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय पर्व अखण्ड राष्ट्र के निर्माण में सहायक हैं और उसके प्राणतत्त्व राष्ट्रीय एकता के आधार स्तम्भ है।**

७. सामाजिक समानता–

सामाजिक समानता का अर्थ है **समाज के सभी व्यक्तियों को समान समझना।** रूप, रंग, जाति, धर्म, लिंग, धनी, निर्धन आदि के आधार पर किसी व्यक्ति के साथ किसी प्रकार का भेद–भाव नहीं किया जाना चाहिए **क्योंकि राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण निधि राष्ट्रीयएकता को तभी बनाये रखा जा सकता है जब समाज में सामाजिक समानता व्याप्त हो और तभी राष्ट्र की अखण्डता बनी रह सकती है।** जब तक समाज में विषमताएँ व्याप्त रहेंगी तब तक राष्ट्रीयएकता एवम् राष्ट्रीयअखण्डता के मार्ग में कठिनाईयाँ आती ही रहेंगी। समाज की नींव खोखली हो जायेगी और राष्ट्र टूट जायेगा। अतः सामाजिक असमानता को समाप्त करके ही राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण निधि को बचाया जा सकता है क्योंकि **सामाजिक समानता ही एक ऐसा तत्त्व है जो राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता को सुरक्षा प्रदान कर सकता है अन्य कोई नहीं। भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में अर्जुन से स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ''सर्वश्रेष्ठ पुरुष वह है जो सबको अपने समान ही समझे।''**

८. साहित्य–

''हितेन सहितमिति सहितम्। सहितस्य भावमिति साहित्यम्'' अर्थात् हितपूर्ण **भावों को ही साहित्य कहते है।** साहित्य के सम्बन्ध में **रविन्द्रनाथ टैगोर** ने कहा है कि **''साहित्य शब्द** से साहित्य में मिलने अर्थात् **एक साथ होने का भाव देखा जाता** है, वह मिलन मनुष्य का मनुष्य के साथ, अतीत का वर्तमान के साथ, दूर का निकट के साथ अत्यन्त अन्तरंग मिलन है।'' **'साहित्य' साहित्यकार की वह अमरकृति है जो समाज में चेतना का मन्त्र फूँकती है** जिससे अकर्मण्य, आलसी व निराश लोगों

के मन में भी नई चेतना और प्राण आ जाते हैं। इस प्रकार सामाजिक वातावरण सुखद और सुन्दर बना रहता है। **भतृहरि** ने तो साहित्य-रहित मनुष्य को **पुच्छ-विहीन पशु** की उपाधि से विभूषित कर दिया है। यथा—

साहित्य संगीत कला विहीनः।
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।।

इस प्रकार सत्साहित्य गंगा के समान सबका हित करता है तथा सत्यं शिवं सुन्दरम् की कल्याणमयी भावना से युक्त होता है। **आचार्य मम्मट** ने भी अपने **काव्यप्रकाश में काव्य का लक्षण करते हुए ''शिवेतरक्षतये''**[१] **को ही काव्य के अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है।** साहित्य सम्पूर्ण राष्ट्र, व्यक्ति, समाज पर अपना विशेष प्रभाव डालता है जिससे **राष्ट्रीयएकता** को बल मिलता है। साहित्य के माध्यम से ही हम अपनी प्राचीन सभ्यता, संस्कृति, धर्म तथा आचार-विचार से भलीभांति परिचित होते हैं तथा साहित्य द्वारा निर्दिष्ट आदर्शों पर चलने की प्रेरणा पाकर स्वयं को गौरवान्वित करते हैं। **साहित्य ही एक ऐसा आधार तत्त्व है जो किसी भी राष्ट्र में व्याप्त अशान्ति को शान्त कर राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता को स्थायित्व प्रदान कर सकता है।** जैसे भारत के वैदिक तथा लौकिक साहित्य की विशाल निधि इसका उत्तम उदाहरण है। जिसमें सर्वत्र राष्ट्रीय एकता एवम् राष्ट्रीय अखण्डता परक भावों की झलक दिखायी पड़ती है। **इस प्रकार 'साहित्य' राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता रूपी शरीर का रक्त है।**

९. संस्कृति–

'संस्कृति' शब्द का सामान्य अर्थ है संशोधन करना अर्थात् परिष्कार करना। जो संस्कार आत्मा अथवा चित्त का परिष्कार करते हैं वही संस्कृति कहलाते हैं। संस्कृति ही एक ऐसा आधार स्तम्भ है जो राष्ट्र की अखण्डता तथा उसकी अलौकिक निधि राष्ट्रीय एकता को बनाये रखती है। संस्कृति ही मानवमन से अपने-पराये के क्षुद्र विचारों की संकीर्णता रूपी अज्ञान को दूर कर **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** अर्थात् ज्ञान की ज्योति प्रकाशित कर अमरत्व रूपी शान्ति प्रदान करती है तथा निःश्रेयस कल्याण की भावना का विस्तार करती है।

सभी राष्ट्रों की अपनी संस्कृति होती है और अपनी संस्कृति के कारण ही प्रत्येक राष्ट्र की अपनी पहचान होती है। मुख्यतः राष्ट्रों का झुकाव अपनी संस्कृति की ओर विशेषतया रहता है क्योंकि राष्ट्र जितना अपनी संस्कृति को महत्त्व देता है उतना

---

१. आचार्य मम्मट का काव्यप्रकाश

सम्भवत: किसी को नहीं। राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता को **संस्कृति** धर्म, दर्शन, विचारों, कविता, संगीत और कला के माध्यम से स्थायित्व प्रदान करती है तथा अपने पराये के भाव को समाप्त कर सम्पूर्ण पृथ्वी को कुटुम्ब के रूप में मानने की प्रेरणा प्रदान करती है। जैसे **हिन्दू पुराण** के अनुसार—

अयं निज: पर: वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।[१]

अर्थात् अपना और पराया आदि भाव क्षुद्र व्यक्तियों के हृदय में ही उत्पन्न होते हैं। उदार हृदय व्यक्ति तो समस्त विश्व को ही एक कुटुम्ब के रूप में अनुभव करते हैं।

इस प्रकार संस्कृति मनुष्य के क्षुद्र अर्थात् संकीर्ण विचारों को त्याग कर विस्तृत विचारों को अपनाने की प्रेरणा प्रदान करती है। जैसे हमारा राष्ट्र भारत एक धर्मावलम्बी देश है और यहाँ की संस्कृति भी धार्मिक भावना से ओत-प्रोत है। **धर्म से तात्पर्य यहाँ कल्याण तथा सबके सुखी रहने की भावना से है।** इस प्रकार भारतीय संस्कृति धार्मिक, आध्यात्मिक तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना से अनुप्राणित है। यथा—

सर्वेभवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुख भाग्भवेत्।।[२]

उपर्युक्त वैदिक मन्त्र का स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सारी आयु जाप किया तथा उपदेश दिया। उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व भारतीय संस्कृंति का मूल है। ''**सा प्रथमा संस्कृति: विश्ववारा**''— यह संस्कृति विश्व की सबसे प्रधान तथा प्राचीन संस्कृति है। अपनी संस्कृति के कारण ही भारत सदैव अमर रहेगा। **स्वामी विवेकानन्द** ने भारतीय संस्कृति को इस प्रकार अपने शब्दों में व्यक्त किया है। ''**भारतीय संस्कृति पश्चिमी संस्कृति की अपेक्षा श्रेष्ठ है क्योंकि पश्चिमी संस्कृति भौतिकवादी है, जबकि भारतीय संस्कृति आध्यात्मवादी है,** इसलिए भारतीय राष्ट्र अमर है।''[३]

इस प्रकार भारतीय संस्कृति अक्षुण्ण, सनातन तथा राष्ट्रीयएकता एवम् अखण्डता की द्योतक है।

---

१. हिन्दू पुराण
२. संस्कृत परिचायिका
३. आर० सी० अग्रवाल की भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवम् संवैधानिक विकास, पृ० १

राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता का प्रयोजन :-

राष्ट्र का मूल प्रयोजन होता है समस्त देशवासियों का शैक्षिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, शारीरिक एवं मानसिक, अर्थात् प्रत्येक दृष्टि से नागरिकों का सर्वतोमुखी विकास करना, क्योंकि जब तक नागरिकों का सर्वतोमुखी विकास नहीं होगा तब तक वह स्वयं से असन्तुष्ट रहेंगे तथा अनेक दुर्गुणों से स्वयं को लिप्त पायेंगे तथा असन्तुष्ट और (अशिक्षित) असभ्य व्यक्ति से राष्ट्रीय एकता अथवा राष्ट्रहित और राष्ट्रीय अखण्डता की अपेक्षा करना निस्सार है।

इस प्रकार राष्ट्रीय एकता एवम् राष्ट्रीय अखण्डता का प्रयोजन है सर्वप्रथम मनुष्य के सर्वतोमुखी विकास हेतु समानावसर प्रदान करना तथा उसमें आदर्श नागरिकता का संचार करना। आदर्श नागरिकता का संचरण तभी किया जा सकता है जब व्यक्ति सुशिक्षित हो क्योंकि शिक्षा ही मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास करती है। गाँधी जी ने भी इस सम्बन्ध में कहा है कि **''शिक्षा जो आत्मा की रोटी है, स्वस्थ नागरिकता की प्रथम शर्त है।''**[१]

उपर्युक्त विचार से सहमत **बेनी प्रसाद** जी ने भी अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है। **''शिक्षा अच्छे नागरिक जीवन के वृत्तखण्ड की आधार शिला है शिक्षा समान अवसर लाती है जो नागरिक जीवन का मूलतत्त्व है।''**[२]

इस प्रकार आदर्श नागरिकता ही मनुष्य को बुद्धिमान्, संयमी, जागरुक, सुशिक्षित, कर्त्तव्यपरायण, व्यवहार कुशल, निःस्वार्थ, परिश्रमी, मितव्ययी, देशप्रेमी, राष्ट्रीय एकता एवम् राष्ट्रीय अखण्डता का सजग प्रहरी बनने की प्रेरणा प्रदान करती है।

राष्ट्रीय एकता के प्रयोजन को सार्थकता प्रदान करने हेतु आवश्यक है— **प्रत्येक देशवासी के लिए शिक्षा के समानावसर प्रदान करना।** जिसके लिए राष्ट्र के प्रत्येक गाँव में, नगर-नगर में, स्थान-स्थान पर स्कूल कॉलेजों की स्थापना करना तथा प्रौढ़ों के लिए उनके सुविधानुसार शिक्षा के अवसर प्रदान करना। पिछड़े वर्गों तथा निर्धन छात्र-छात्रों के लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करना। प्राथमिक स्तर तक विशेष शिक्षा की व्यवस्था करना जिससे बाल्यकाल से ही **राष्ट्रीय एकता की भावना पनप सके और अखण्ड राष्ट्र को प्रत्येक राष्ट्रवासी अपना परिवार तथा प्रत्येक देशवासी को अपना सम्बन्धी समझ सकें।**

---

१. नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त, पृ० ३०३
२. नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त, पृ० ३०४

समस्त देशवासी जाति, धर्म, सम्प्रदाय, प्रान्त आदि को विस्मृत कर सभी मेलों तथा उत्सवों में एक साथ मिल-जुल कर भाग लें तथा एक दूसरे के कल्याण की कामना करें। राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता के प्रचार-प्रसार तथा अनुभव योग्य बनाने के लिए **शिक्षा** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है जिसकी आज भी प्रत्येक राष्ट्र को आवश्यकता है। शिक्षा के अभाव में राष्ट्रीय एकता एवं अखण्ड राष्ट्र की कल्पना करना भी निरर्थक है।

इसके सम्बन्ध में **डा० राधा कृष्णन** कहते हैं कि **"राष्ट्रीय एकता ईंट और हथोड़े से नहीं बनती। यह लोगों के दिल और दिमाग में चुपके-चुपके विकसित होती है। इसका एकमात्र ढंग शिक्षा का ढंग है।"**[१]

उपर्युक्त विचार से स्पष्ट है कि शिक्षा के माध्यम से ही प्रत्येक व्यक्ति को यह ज्ञान कराया जा सकता है कि राष्ट्र से बड़ा कोई धर्म नहीं है। **लोकमान्य बालगंगाधर ने भी राष्ट्र को धर्म से भी ऊँचा स्थान दिया है और राष्ट्र का ईश्वर के साथ एकात्म्य स्थापित किया है।**

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के अनुसार- "ईश्वर तथा हमारा देश एक-दूसरे से भिन्न नहीं है। संक्षेप में हमारा देश ईश्वर का ही एक रूप है।"[२]

अतः राष्ट्रीय एकता की भावना को जाग्रत करने हेतु आवश्यक है प्रत्येक जन को स्वदेश के प्रति प्रेम, भक्ति तथा **'हम'** की भावना से परिचित कराना तथा उसका महत्त्व समझाना। राष्ट्र की उन्नति में सहायक तत्त्वों से अवगत कराना तथा स्वराष्ट्र का संस्कृति सम्बन्धी ज्ञान प्रदान करना। **"राष्ट्र ही सर्वोपरि है।" अतः हमारा अपना अस्तित्व ही हमारा राष्ट्र है और हम राष्ट्र के संरक्षक है।**

इस प्रकार **'हम' की भावना** अर्थात् समानता, एकता की भावना को पुष्पित तथा पल्लवित करने के लिए तथा राष्ट्र की अखण्डता के लिए आवश्यक है राष्ट्र के समस्त प्रान्तों से तथा राष्ट्र में निवास करने वाली समस्त जातियों, सम्प्रदायों से अधिक से अधिक मेल उत्पन्न करना तथा **बन्धुत्व** की भावना को बढ़ाना तथा राष्ट्रीय भक्ति तथा राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत साहित्य का पठन-पाठन कराना तथा विविध पद्धतियों द्वारा उनको प्रस्तुत करना तथा व्यवहार के योग्य बनाना। स्कूल तथा कॉलेज के पाठ्यक्रम में राष्ट्रीयपरक साहित्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करना।

इस प्रकार राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता का प्रयोजन है राष्ट्र को सर्वोपरि महत्त्व

---

१. कैडेट पत्रिका Vol. 41, 1991

२. सत्यनारायण दुबे की आधुनिक राजनीतिक शास्त्र

प्रदान करना। साम्प्रदायिकता तथा रक्त-पात, बैर-भाव के अर्थहीन झगड़ों को समाप्त कर राष्ट्र में अमन-चैन का सन्देश फैलाना तथा वैदिक साहित्य से प्रेरणा प्राप्त कर सब समान है न कोई छोटा है न कोई बड़ा, इसका प्रचार करना।

राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता की अवधारणा

राष्ट्रीय एकता से राष्ट्र के समस्त वासियों में '**हम**' की भावना का बोध होता है। **'हम' की भावना से तात्पर्य है राष्ट्रहित के समक्ष अपने वैयक्तिक हितों का त्याग करने में तनिक भी संकोच न करना।** जिस राष्ट्र में नागरिक उपर्युक्त गुणों से युक्त होते हैं उनमें ही '**हम' की भावना** पायी जाती है और यही '**हम की भावना' राष्ट्रीय एकता कहलाती है। राष्ट्रीय एकता राष्ट्र का प्राणतत्त्व होती है** जिसके बिना राष्ट्र की कल्पना ही निस्सार है।

राष्ट्र को सर्वोपरि तथा **राष्ट्रहित** को ही अपना हित मानते हुए राष्ट्रीय एकता को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं :—

''जब किसी राष्ट्र के व्यक्तियों में स्थान, जाति, भाषा, धर्म व संस्कृति आदि किसी भी आधार पर भिन्नता होते हुए भी राष्ट्रहित के आधार पर 'हम' की भावना होती है और वे राष्ट्रहित के आगे अपने वैयक्तिक हितों का त्याग करते हैं तो इसे राष्ट्रीय एकता कहते है।''[१]

राष्ट्रीयएकता के सम्मेलन ने राष्ट्रीयएकता को इस प्रकार परिभाषित किया है :— **''राष्ट्रीयएकता एक मनोवैज्ञानिक एवं शैक्षिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा लोगों के दिलों में एकता, संगठन एवं सन्निकटता की भावना, सामान्य नागरिकता की भावना और राष्ट्र के प्रति भक्ति की भावना का विकास किया जा सकता है।''**[२]

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि राष्ट्रीयएकता का स्वरूप अमूर्त है जिसे देखा नहीं जा सकता बल्कि अनुभव किया जा सकता है। जिसकी प्रकृति मनोवैज्ञानिक है, जो देशवासियों के हृदय में राष्ट्र के प्रति प्रेम, भक्ति, त्याग, बलिदान, संगठन, भाईचारे की भावना को जन्म देती है और जो अखण्ड राष्ट्र की निर्माणक है।

''नवभारत टाइम्स'' के प्रधान सम्पादक **श्री अक्षय कुमार जैन** ने राष्ट्रीयएकता को कुछ इस प्रकार परिभाषित किया है :—

---

१. रमन बिहारी लाल की 'शिक्षा के दार्शनिक और समाजशास्त्रीय सिद्धान्त' रस्तौगी पब्लिकेशन्स, शिवाजी रोड, मेरठ, पृ० ६५

२. आधुनिक सामाजिक विज्ञान-१
लेखक— उदयवीर सक्सेना एवं शकुन्तला सक्सेना, पृ० ३३३

"अनेकता में एकता इस प्रकार बैठी है जैसे शरीर में भिन्न-भिन्न अवयवों के होते हुए भी रीढ़ की हड्डी में चलता हुआ स्नायु मंडल।"[१] श्री जैन ने राष्ट्र को मानव शरीर की उपमा देते हुए कहा है- राष्ट्र एक मानव शरीर है। उसमें विभिन्न विचारधाराओं और मतों को मानने वाले विभिन्न धर्मों के लोग भिन्न-भिन्न अवयवों की भाँति होते हैं। भिन्न अवयवों को रीड़ की हड्डी एक शरीर के रूप में स्थापित रखती हैं, परन्तु इस आधार स्तम्भ रीड़ की हड्डी में बहुत ही सूक्ष्म स्नायु मंडल अनेकता के रूप में विद्यमान रहते हैं। यही अनेकता में एकता का मूल सार है। राष्ट्रीय शैक्षणिक नियोजन एवं प्रशासन संस्थान, नई दिल्ली के निदेशक प्रो० यूनिस रजा के अनुसार "विकास का मनोविज्ञान हमें सिखाता है कि एकता और विभिन्नता की प्रक्रिया परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे की पूरक हैं और इन दोनों के सह-अस्तित्व पर ही मानव शरीर और राष्ट्रों का अस्तित्व निर्भर करता है।"[२]

श्री रजा एकता तथा विभिन्नता को परस्पर विरोधी नहीं मानते बल्कि वह उन्हें एक दूसरे में अभिन्नता का पूरक मानते हैं। जिस प्रकार एक उपवन में विविध रंग के पुष्प एक साथ खिलते है तथा जिनके अनेक नाम होते है जो नामों से विभिन्नता को धारण करते हुए भी गन्ध रूपी एकता में बँधे हुए होते है। जिनका अस्तित्व एक-दूसरे पर निर्भर करता है। अत: इसी प्रकार राष्ट्र-राष्ट्रीय एकता रूपी भावना पर निर्भर रहता है।

डा० जे० एस० बेदी के अनुसार- "राष्ट्रीयएकता का अर्थ है देश के विभिन्न राज्यों के व्यक्तियों की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भाषा-विषयक विभिन्नताओं को वांछनीय सीमा के अन्तर्गत रखना और उनमें भारत की एकता का समावेश करना।"[३]

उपर्युक्त विचार से स्पष्ट है कि देश के विभिन्न राज्यों की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भाषा सम्बन्धी विभिन्नता के होते हुए भी समानता की भावना तथा देश के प्रति निजत्व की भावना ही विभिन्नता को एकता के सूत्र में बांधे रहती है, जिससे राष्ट्र का स्वरूप सजीव हो उठता है।

डा० राधाकृष्णन् के अनुसार- "राष्ट्रीय एकता एक ऐसी समस्या है जिससे सभ्य राष्ट्र के रूप में हमारे अस्तित्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है।"[४]

---

१. हाई समाजिक विज्ञान भाग- १, पृ० ३६३
२. हाई समाजिक विज्ञान भाग- १, पृ० ३६३
३. शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त, लेखक— पाठक एवं त्यागी, पृ० १६३
४. उपर्युक्त, पृ० १६३

राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता पर बल देते हुए **श्री कृष्णन्** ने राष्ट्रीय एकता को एक समस्या कहा है और जिसका समाधान करना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि राष्ट्र से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध है। राष्ट्र ही हमारा अस्तित्व है। अत: राष्ट्र के अस्तित्व को बनाये रखते हेतु राष्ट्रीय एकता का होना अत्यन्त आवश्यक है। राष्ट्रीय एकता के द्वारा ही हम स्वयं को तथा अपने राष्ट्र को सुरक्षित कर सकते हैं।

वाई०वी० चह्वाण भारतीयों को राष्ट्रीय एकता से सम्बद्ध करते हुए कहते हैं कि— ''राष्ट्रीय एकता समय का सबसे बड़ा सवाल है और हर कीमत पर उसे बनाये रखना है। प्रत्येक नागरिक को यह सोचना चाहिए कि पहले वह भारतीय है, इसके बाद और कुछ।''[१]

श्री चह्वाण जी के उपर्युक्त मत से स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति पहले भारतीय है तत्पश्चात् कुछ और। अत: इस प्रकार धर्म, जाति, सम्प्रदाय, संस्कृति, सभ्यता, प्रान्त आदि की विविधता राष्ट्रीय एकता में बाधक नहीं, अपितु उन्हें राष्ट्रीयता रूपी एकता के सूत्र में बाँधने में साधक ही है।

राष्ट्रीय एकता के प्रति भारतीयों का ध्यान आकर्षित करते हुए डा० कानूनगो लिखते हैं कि ''राष्ट्रीय एकता की हर देश को हर समय आवश्यकता है। किन्तु भारत के लिए इसकी कहीं अधिक आवश्यकता है।''[२]

राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता विषय का उद्देश्य :-

राष्ट्रीय एकता राष्ट्र का प्राणतत्त्व होती है। जिस प्रकार प्राण के अभाव में शरीर निष्प्रयोजन हो जाता है उसी प्रकार राष्ट्रीय एकता के अभाव में राष्ट्र का अस्तित्त्व ही नहीं रह जाता। एकता अर्थात् राष्ट्रीय एकता से तात्पर्य है राष्ट्र के व्यक्तियों में, स्थान, भाषा, धर्म, जाति, संस्कृति आदि किसी भी आधार पर भिन्नता होते हुए भी उन्हें एकता के सूत्र में बँधे रहना।

राष्ट्रीय एकता की उपमा हम वृक्ष से दे सकते हैं :— राष्ट्रीयएकता एक सम्पूर्ण वृक्ष है जिसकी शाखाएँ भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के मनुष्य हैं, उन शाखाओं के फूल और फल रीतिरिवाज व विचारधारायें हैं और तना है राष्ट्र। वृक्ष से यदि शाखाओं, फल-फूल, पत्ती और तने को पृथक् कर दिया जाये तो उसे हम सम्पूर्ण वृक्ष नहीं कह सकते, इसी प्रकार राष्ट्रीय एकता भी समस्त नागरिकों को राष्ट्र से जुड़ने अर्थात्

---

१. हाई स्कूल सामाजिक विज्ञान भाग-१, पृ० ३६१

२. शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त, लेखक— पाठक एवं त्यागी, पृ० १६४।

राष्ट्र के प्रति आस्था रखने से ही सम्भव हो सकती है। यही राष्ट्रीय एकता राष्ट्रीय अखण्डता की आधार शिला है। जब तक राष्ट्र में राष्ट्रीय एकता की भावना समस्त नागरिकों के हृदय में विद्यमान नहीं होगी, तब तक राष्ट्रीय अखण्डता की कल्पना करना ही व्यर्थ है। **इस प्रकार राष्ट्रीय एकता राष्ट्रीय अखण्डता की पूरक है।**

राष्ट्र में अमन-चैन बना रहे तथा राष्ट्र की अखण्डता कभी भंग न हो **यही राष्ट्रीय एकता का उद्देश्य है।** यह उद्देश्य तभी सार्थक हो सकता है जब समस्त धर्मावलम्बी तथा विविध भाषाभाषी धर्म तथा भाषा की विभिन्नता के होते हुए भी **एक-दूसरे को स्वयं उसी प्रकार अभिन्न समझें जिस प्रकार एक घर में रहने वाले व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र, आभूषण तथा पृथक्-पृथक् विचारों वाले होते हुए एक ही घर में रहते हैं तथा उसकी अखण्डता को बनाये रखते हैं। उसी प्रकार राष्ट्र में रहने वाले विभिन्न प्रकार के मतावलम्बी, भाषा-भाषी अपने राष्ट्र को अपने परिवार के समान उसकी देखरेख करते हुए स्वयं को राष्ट्र रूपी शरीर का अंग मानते हैं और अपने राष्ट्र के प्रति सदैव समर्पित रहते हैं। वे ही, उसके आदर्श नागरिक कहलाते हैं। यदि राष्ट्र सुरक्षित होता है तो वह स्वयं को सुरक्षित अनुभव करते हैं, यदि राष्ट्र असुरक्षित होता है तो वह तन, मन, धन से समर्पित हो उसकी मन-वचन कर्म से रक्षा करते हुए, अपने प्राणों को न्यौछावर करने में तनिक भी संकोच नहीं करते क्योंकि जब राष्ट्र उन्नति करता है तो वह स्वयं को उन्नत मानते हैं जिससे राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्रीय अखण्डता को स्थायित्व प्राप्त होता है।**

अतः प्रत्येक राष्ट्रवासी का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रीय एकता एवम् राष्ट्रीय अखण्डता में बाधक तत्त्वों का निवारण करे और उसे नन्हें पौधे के समान सींचकर उसको पुष्पित तथा फलित वृक्ष के समान तैयार कर अपने कर्त्तव्यों का पालन करें, तभी राष्ट्र सदैव अखण्ड, उन्नतिशील, समृद्धिवान, प्रभुत्वसम्पन्न रह सकेगा।

राष्ट्र में राष्ट्रीय एकता के द्वारा ही राष्ट्रीय अखण्डता बनी रहती है क्योंकि जब हम एक रहेगें अर्थात् ऊँच-नीच, भेद-भाव, जाति-धर्म, सम्प्रदाय को विस्मृत कर एकता की डोर में बँध जायेगें। प्रत्येक के प्रति हम मानवता का व्यवहार करेगें अर्थात् आदमी को आदमी समझेगें न कि किसी विशेष धर्म, प्रान्त, सम्प्रदाय आदि से सम्बन्धित मानव। **तब राष्ट्र के विभाजन का प्रश्न स्वयं ही समाप्त हो जायेगा।** जैसे अधोलिखित पक्तियाँ से स्पष्ट है— **प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से मिलने के लिए किसी धर्म, सम्प्रदाय का सहारा नहीं लेना चाहिए बल्कि संकीर्ण विचारधारा से ऊपर उठकर आदमी को आदमी ही समझना चाहिए। एक सामान्य नागरिक जगदीश कश्यप के अनुसार–**

रात से तुम मिलो चाँदनी की तरह,
और दिन से मिलो रोशनी की तरह।
प्रार्थना मेरी तुमसे ये है दोस्तो,
आदमी से मिलो आदमी की तरह॥

इस प्रकार **राष्ट्र की एकता एवम् अखण्डता का प्रमुख उद्देश्य है राष्ट्र को आन्तरिक तथा बाह्य रूप से सुरक्षा प्रदान करना। यह सुरक्षा तभी प्रदान की जा सकती है जब राष्ट्र के समस्त नागरिक एकता की डोर में बँधे हो। यही बन्धन उनमें राष्ट्रीयता की भावना को बल प्रदान करता है।** जिससे लोगों में **'हम'** की भावना पनपती है और राष्ट्र सबल होता है तथा किसी भी परिस्थिति में आन्तरिक तथा बाह्य दोनों रूप में किसी भी संकट का सामना सरलता से कर सकता है और यह राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता के द्वारा ही सम्भव है क्योंकि राष्ट्र में एकता नहीं होगी तो राष्ट्र टुकड़ों-टुकड़ों में बँट जायेगा और चरमरा कर ढह जायेगा।

इस प्रकार राष्ट्र की आन्तरिक तथा बाह्य सुरक्षा राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता पर निर्भर है और राष्ट्र, समस्त नागरिकों की एकता की भावना पर।

राष्ट्र के समस्त निवासियों पर राष्ट्र की बाह्य तथा आन्तरिक सुरक्षा हेतु पारस्परिक सहयोग अपेक्षित है और प्रत्येक जन-जन का सहयोग तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब उनमें 'हम' की भावना हो। यही भावना उन्हें राष्ट्र से जोड़ती है और राष्ट्र की आन्तरिक व बाह्य सुरक्षा करने को तैयार करती है। विदेशियों द्वारा आक्रमण किये जाने पर या किसी विशेष परिस्थिति, आंतकवाद, अराजकता, अशांति का सामना करने हेतु एकता आवश्यक तत्त्व है और इस तत्त्व के सहयोग से ही राष्ट्र में एकता स्थापित की जा सकती है तथा राष्ट्र को अखण्ड सदैव रखा जा सकता है।

देश में शान्ति का स्थायित्व **राष्ट्रीय एकता** के द्वारा ही प्रदान किया जा सकता है। अगर धर्म, सम्प्रदाय, जाति, वर्ण-भेद आदि को समाप्त कर, **सब एक हो जाएँ** और राष्ट्र को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करें और यह अनुभव करें कि हम सब एक हैं तो सम्भवतः राष्ट्र में सदैव शान्ति बनी रहेगी, जिससे राष्ट्र प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति करेगा। विदेशों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान प्राप्त करेगा तथा राष्ट्रीय स्तर ऊँचा उठेगा।

राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के द्वारा ही राजनैतिक वातावरण स्वच्छ रह सकता है क्योंकि जब प्रत्येक राजनेता निःस्वार्थ भाव से राष्ट्रहित के लिए कार्य करेगा तो स्वतः ही राष्ट्र का राजनैतिक वातावरण स्वस्थ होगा, जिससे राष्ट्र की शासन-व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहेगी।

इस प्रकार राष्ट्रीय एकता एवम् राष्ट्रीय अखण्डता का उद्देश्य है राष्ट्र की प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति करना तथा समस्त देशवासियों को एकता के महत्त्व से परिचित कराना।

विषय की मौलिकता और महत्त्व-

राष्ट्र का आवश्यक तत्त्व राष्ट्रीय एकता स्वयं में सदैव मौलिक रहा है तथा इसकी महत्ता पुरातन् काल से लेकर आज तक सदैव अनुभव की जाती रही है। जब-जब राष्ट्र में राष्ट्रीय एकता का अभाव हुआ है लोगों में फूट पड़ी है। तब ही राष्ट्र का पतन हुआ है तथा राष्ट्रीय अखण्डता को ठेस पहुँची है तथा राष्ट्र विभिन्न खण्डों में विभाजित हुआ है। नागरिकों में स्वार्थ की भावना पनपी है। धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों तथा प्रान्तों आदि को महत्त्व प्रदान किया गया है। एक धर्म, सम्प्रदाय, जाति तथा प्रान्त विशेष के लोग दूसरे धर्म, सम्प्रदाय, जाति तथा प्रान्त विशेष के लोगों के शत्रु हुए हैं। आपसी वैर-भाव, द्वेष, ईर्ष्या आदि सैकड़ों बीमारियाँ फैली है। मानवता त्रस्त हुई है। मानव ने स्वयं को सर्वथा असुरक्षित अनुभव किया है। जिससे वह विभिन्न विचार-धाराओं, राजनैतिक संगठनों, धर्मों के विभिन्न विवादों के घेरे में बँटा है। जिसके कारण परस्पर उपद्रव, दंगे, आंतक, खून-खराबा तथा धर्म के नाम पर झगड़े आदि को बढ़ावा मिला है, तभी राष्ट्रीय भावना लुप्त हुई है अर्थात् राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को ठेस पहुँची है।

राष्ट्रीय एकता का मानव के जीवन में अत्यधिक महत्त्व है जिसके अभाव में वह स्वयं को आदर्श नागरिक सिद्ध ही नहीं कर सकता तथा राष्ट्र के प्रति अपने सम्पूर्ण कर्त्तव्यों का निःस्वार्थ भाव से पालन ही नहीं कर सकता। **आदर्श नागरिकता हेतु आवश्यक है मनुष्य में राष्ट्र के प्रति समर्पण की भावना का होना। यही समर्पण की भावना मनुष्य को राष्ट्र से जोड़ती है।** यह समर्पण की भावना नागरिक में तभी आ सकती है जब सम्पूर्ण राष्ट्र में उसका उठना-बैठना अर्थात् आना जाना हो अर्थात् वह राष्ट्र के समस्त उत्सवों, आयोजनों में भाग लेता हो। जब उसका कार्य-व्यवहार एक साथ होगा तो सम्भवतः आत्मीयता बढ़ेगी। आत्मीयता होने के कारण परस्पर एक दूसरे के विचारों, भावनाओं को समझने का सुअवसर प्राप्त होगा जिससे राष्ट्रीय एकता को बल मिलेगा। अखण्ड राष्ट्र से जुड़कर ही प्रत्येक नागरिक राष्ट्र के महत्त्व से परिचित हो सकता है तथा राष्ट्र को धर्म से भी अधिक महत्त्व प्रदान कर सकता है। अर्थात् **''राष्ट्र देवोभव'' की भावना** से स्वयं को गुम्फित कर सकता है।

राष्ट्रीय एकता एवम अखण्डता के प्रति अपनी उद्भावना के बल पर उन सभी

समस्याओं का निवारण करने की शक्ति होती है जो राष्ट्र के लिए अहितकर हों, अर्थात् **राष्ट्रीय एकता व राष्ट्रीय अखण्डता** के मार्ग में बाधक हो। इसी कारण राष्ट्रीय एकता व अखण्डता का विषय सर्वथा मौलिक है, जिसकी मौलिकता सदैव बनी रहती है।

उक्तानुसार राष्ट्रीय एकता व राष्ट्रीय अखण्डता का हमारे जीवन में अत्यधिक महत्त्व है। **राष्ट्रीय एकता राष्ट्र रूपी शरीर में रीढ़ की हड्डी के समान होती है।** जिस प्रकार रीढ़ की हड्डी के टूट जाने पर मनुष्य जीवित तो रह सकता है लेकिन सीधा चल-फिर नहीं सकता अर्थात् बिना किसी सहारे के अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता, स्वतन्त्र रूप से कोई कार्य नहीं कर सकता, उसी प्रकार **राष्ट्रीय एकता व अखण्डता** के अभाव में राष्ट्र किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं कर पाता, जिसके कारण राष्ट्र विभिन्न खण्डों में विभक्त हो जाता है। **विखण्डित राष्ट्र खण्डित रीढ़ युक्त शरीर के समान जीवित रहते हुए भी मृत शरीर के समान ही होता है** और स्वेच्छा से कोई कार्य भी नहीं कर पाता है क्योंकि **राष्ट्रीय एकता राष्ट्र का मूल तत्त्व होती है जिसके अभाव में कोई भी राष्ट्र बहुत दिनों तक जीवित ही नहीं रह सकता।** जाति-धर्म के नाम पर जो साम्प्रदायिक दंगे व खून-खराबा होता है वह सब **राष्ट्रीय एकता** के समूल विनाशक हैं।

राष्ट्रीय एकता व अखण्डता के महत्त्व को दृष्टिगत रखते हुए आज आवश्यकता है कि हम प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र से जोड़ें, उसमें राष्ट्रीयएकता का विकास करें। राष्ट्रहित के समक्ष अपने हितों का त्याग करने के लिए सदैव तत्पर रहें। यदि आज भी हमने यह सब कार्य नहीं किया तो राष्ट्र का अस्तित्व चरमरा कर ढह जायेगा, जिसकी शासन व्यवस्था सुचारु रूप से कार्य नहीं कर सकेगी तथा उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा।

राष्ट्रीय एकता एवम् राष्ट्रीय अखण्डता के द्वारा ही राष्ट्र में सुव्यवस्था बनाई जा सकती है तथा अपने मूल आदर्शों व **सत्यं शिवं सुन्दरम्** की स्थापना कर सकते हैं, जो राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित होता है। मूल आदर्शों के कारण ही उसके हृदय में प्रेम, सहयोग, परोपकार, सहिष्णुता, नम्रता, नैतिकता, सदाचार आदि का विकास होता है। आदर्शों को जीवन में उतारने के कारण ही अर्थात् वह दूसरों के विचारों तथा भावनाओं को समझ पाते हैं **जिससे उनके विचारों में भावात्मक-एकता की झलक देखने को मिलती है और यही भावात्मक-एकता राष्ट्रीय एकता को जन्म देती है।** इस प्रकार आदर्शों के द्वारा राष्ट्रीयएकता व अखण्डता के महत्त्व को सरलता से समझा जा सकता है।

एकता की भावना के कारण जब प्रत्येक व्यक्ति परोपकार, दया, नैतिकता समानता और मानवता की भावना को हृदय में रखकर मूल आदर्शों के पथ पर अग्रसर होता है, तब उसे अपना भविष्य भी प्रकाशमान दिखाई देने लगता है क्योंकि उसके द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य सत्य की ओर ले जाता है। जिससे उसे असीम सुख की प्राप्ति होती है। उसमें धैर्य, संतोष तथा विश्वास की भावना जाग्रत होती है, जिससे उसमें राष्ट्र के प्रति कार्य करने का अर्थात् एकता तथा अखण्डता को बनाये रखने का उत्साह बना रहता है तथा राष्ट्र के प्रति प्राण तक न्यौछावर करने में वह संकोच नहीं करता। राष्ट्र हित के समक्ष वह अपने भूत, भविष्य और वर्तमान की तनिक भी चिन्ता नहीं करता।

राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्रीय अखण्डता के महत्त्व से परिचित हो जाने के पश्चात् क्षेत्रीयता, प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता, जातिवाद तथा भाषावाद की समस्या स्वतः ही समाप्त हो जाती है। अर्थात् हम इस क्षेत्र के है, इस प्रान्त के, इस सम्प्रदाय के, जाति के तथा इस भाषावाद के हैं, हमारी सभ्यता अन्य क्षेत्रों, प्रान्तों, सम्प्रदायों, जातियों तथा भाषावादियों से भिन्न है, इसलिए हम दूसरे क्षेत्रों, प्रान्तों, सम्प्रदायों, जातियों, भाषावादियों से भिन्न हैं, इनसे हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है, **यह विवाद** स्वतः ही समाप्त हो जायेगा।

तत्त्वचिन्तन एवं सत्य के उद्‌घाटन की दिशा में योगदान :-

राष्ट्रीयएकता व अखण्डता से रहित देशवासी जीवन, प्रकृति और सत्य का तत्त्वचिन्तन कर पाने मे सर्वथा असफल रहते हैं। राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता के अभाव में सम्पूर्ण राष्ट्र का वातावरण भय, उपद्रव, आतंक और असुरक्षा एवं स्वार्थ की भावना से ओत-प्रोत होता है। ऐसे वातावरण में राष्ट्र का कोई भी नागरिक जीवन से सम्बन्धित असत्य आवश्यकताओं एवम् वस्तुओं के विषय में ही चिन्तन करता है और जीवन के सत्य के उद्‌घाटन की ओर अपना ध्यान ही नहीं कर पाता है और वह सत्य के स्वरूप से अपरिचित ही रह जाता है।

तत्त्वचिन्तन और सत्य के उद्‌घाटन के लिए मनुष्य को शान्त और सद्भावनापूर्ण वातावरण की आवश्यकता होती है जिसमें रहते हुए वह अपनी चिन्तन-प्रक्रिया को सही दिशा में जारी रख सके। द्वेष-पूर्ण परस्पर कलह से परिपूर्ण वातावरण में मानव मन कुंठित हो जाता है और ऐसी दशा में सत्य की अति सूक्ष्म अवधारणा का चिन्तन कर पाना दुष्कर ही नहीं असम्भव सा प्रतीत होता है। **द्वेषपूर्ण और परस्पर संघर्ष, कलह, जातिवाद, आतंकवाद आदि के कारण दूषित वातावरण की स्थिति उसी**

राष्ट्र में उत्पन्न होती है जहाँ राष्ट्रीय एकता का अभाव और राष्ट्र की अखण्डता पर कुठाराघात होता है।

अत: हम कह सकते हैं कि **तत्त्वचिन्तन और सत्य के उद्घाटन में राष्ट्रीयएकता एवम् अखण्डता का अपना महत्त्वपूर्ण योगदान है।**

विषय की प्रासंगिकता

राष्ट्रीय एकता एवम् राष्ट्रीय अखण्डता का विषय पुरातन काल से आज तक सदैव प्रासंगिक विषय रहा है। आज के सन्दर्भ में भी राष्ट्रीय एकता एवम् राष्ट्रीय अखण्डता का विषय अत्यधिक प्रासंगिक है। आज भारत ही नहीं बल्कि विश्व के अधिकतम राष्ट्र इसका अत्यधिक अभाव अनुभव कर रहे हैं। आज भौतिकवादी प्रवृत्ति ने मनुष्य को बहुत ही स्वार्थी बना दिया है जिससे नैतिकता, सदाचार एवं मानव मूल्यों का अत्यधिक ह्रास हुआ है। जिसके कारण मनुष्य अपने शारीरिक सुख-सुविधा के लिए धन जुटाने में लगा रहता है और लौकिक सुखों को प्राप्त करने हेतु वह किसी भी अविवेकपूर्ण कार्य करने में तनिक भी संकोच नहीं करता, चाहे उसमें उसका अपना व्यक्तिगत, सामाजिक अथवा राष्ट्रीय अहित ही क्यों न हो रहा हो।

स्वार्थ-भावना की प्रबलता के कारण ही असहिष्णुता एवं अहंभाव को बढ़ावा मिलता है। इस भावना के कारण ही मनुष्य में मनुष्य से, अन्य प्रान्तों से, अन्य सम्प्रदायों तथा राष्ट्रों के प्रति घृणा की भावना जन्म लेती है और वह सबसे घृणा करने लगता है, जिससे समस्त मानव-जाति का अकल्याण होता है। मानवता का विस्तृत स्वरूप स्वार्थ-भावना की प्रबलता के कारण सिमट कर संकीर्ण हो जाता है। जब मानव-मानव का शत्रु हो जाता है, तब एक उन्नत, समृद्ध तथा शक्तिशाली राष्ट्र निर्बल तथा असहाय हो जाता है।

जब राष्ट्र निर्बल तथा असहाय हो जाता है तब लोग अपनी मनमानी करने लगते हैं। धनिक तथा शक्तिशाली वर्ग निर्धन तथा कमजोर वर्ग पर शोषण करने लगता है। **"जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत चरितार्थ होने लगती है।** जिससे मानवों में पाश्विकवृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। मानवता की नैतिकता का ह्रास होने लगता है। विश्व शांति भंग होती है और यही पशुता मानव कल्याण की भावना की विध्वंसक बन जाती है, जिसका प्रभाव राष्ट्रीय स्तर पर नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पड़ता है।

आज बारूद के ढेर पर बैठा हुआ यह विश्व अपनी ही प्राण रक्षा के लिए मृत्यु के दर्पण में विवश होकर ताक रहा है और इसे कहीं कोई ऐसा मार्ग ही नहीं सूझ रहा

है जिसमें शान्ति और स्थायी सुख-समृद्धि हो। आज विज्ञान ने मनुष्य के हाथ में ऐसे ऐसे भयानक शस्त्र थमा दिये हैं जिससे वह किसी छोटे-मोटे देश को ही नहीं वरन् सम्पूर्ण पृथ्वी को पल भर में नष्ट कर सकता है। ऐसी स्थिति में आज मनुष्य बहुत अहंकारी हो गया है और वह बल का गलत उपयोग करने में बहुत ही निर्लज्ज होता जा रहा है, जिसके कारण विश्व के अधिकतम राष्ट्रों में आतंकवाद, हत्याएँ, लूट, डकैती, बलात्कार, तस्करी, चोर-बाज़ारी, मूल्यविहीन राजनीति तथा साम्राज्यवाद का बाज़ार गर्म है। राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता के विषय की प्रासंगिकता को लेकर हम अपने भारत की वर्तमान स्थिति पर एक दृष्टि डाले तो हमें अनुभव होगा कि आज भारत में राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता की कितनी आवश्यकता है?

भारत आज जातिवाद, आतंकवाद एवम् साम्प्रदायिकता की आग में इस तरह झुलस रहा है कि उसके लिए **राष्ट्रीय एकता के जल की बूँदें खोज पाना अत्यधिक कठिन प्रतीत हो रहा है।** आज भारत में किसी भी समय साम्प्रदायिक दंगे हो जाना सामान्य बात हो गयी है **क्योंकि राष्ट्र, धर्म से बढ़कर है इस भावना का नागरिकों में लोप सा होता जा रहा है। इसी कारण वह स्वयं को हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई आदि पहले समझता है और भारतीय बाद में। जबकि प्राचीन काल से ही व्यक्तिगत धर्म, जाति और संस्कारों से बढ़कर अपने राष्ट्र को महत्त्व दिया जाता रहा है। परन्तु आज भारत में इसके विपरीत घटित हो रहा है।**

उदाहरण के लिए जैसे— एक हिन्दू और मुसलमान में व्यापारिक सम्बन्ध हैं, और धर्म के लेन-देन को लेकर परस्पर झगड़ा हो जाता है और इन दोनों में से एक को चोट आ जाती है, तभी अवसरवादी तत्त्व इस प्रकरण को इस तरह तूल देते हैं कि यह साम्प्रदायिक दंगें का रूप धारण कर लेती है। जिससे दोनों सम्प्रदायों के लोगों के प्राण जाते हैं, आर्थिक हानि होती है। इस सबके पीछे जातिगत भावनाएँ प्रमुख होती है और राष्ट्रीय भावना नगण्य। ऐसे झगड़ों में लड़ने वाले लोग मात्र यह सोचते हैं कि उनके सम्प्रदाय के व्यक्ति को हानि पहुँची है, अतः वह विरोधी सम्प्रदाय के व्यक्तियों को हानि पहुँचाकर उसका प्रतिशोध अवश्य लेगें। **कोई भी व्यक्ति इस बात पर तनिक भी विचार नहीं करता कि उनके इस कृत्य से राष्ट्र को कितनी क्षति होगी।** कितने निर्दोष लोगों के समक्ष रोजगार, चिकित्सा, खाद्य-सामग्री, शिक्षा, आवागमन एवम् सुरक्षा की समस्या खड़ी हो जायेगी।

इस प्रकार के दुर्भाग्यपूर्ण दंगों के निवारण का एक-मात्र साधन राष्ट्रीय एकता की अनुरक्षा ही है जिसके अभाव में भारत राष्ट्र ने अपने अतीत में बहुत ही भयावह स्थितियों का सामना किया है। इतिहास साक्षी है कि भारतीयों की आपसी फूट के

कारण ही बाहर से आये आक्रमणकारियों और अंग्रेजों ने वर्षों तक भारतवासियों को परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़े रखा। परतन्त्रता की इन बेड़ियों को काटने के लिए भारत के समस्त नागरिकों को जाति, धर्म, प्रान्तीयता से ऊपर उठकर एकजुट होना पड़ा, तब कहीं कड़े संघर्ष के पश्चात् भारत में स्वाधीनता के सूर्य का उदय हुआ। **अतः यह बात स्पष्ट रूप से उभर कर आज हमारे समक्ष है कि भारत में राष्ट्रीय एकता और अखण्डता का होना परमावश्यक है। अन्यथा ऐसी परिस्थिति में किसी भी राष्ट्र को दुर्दिन देखने पड़ सकते हैं। भारत के अतिरिक्त सकल विश्व के अधिकतम राष्ट्रों में आज कुछ ऐसी ही स्थिति बनी हुई है। आज राष्ट्रीय एकता व अखण्डता का विषय अत्यधिक प्रासंगिक है।**

द्वितीय खण्ड – परिपार्श्व

द्वितीय अध्याय

वैदिक वाङ्मय का संक्षिप्त सर्वेक्षण

वेद ईश्वरीय ज्ञान है। संसार के समस्त ज्ञानी पुरुष भूमण्डल के इतिहास में सर्वप्राचीन ग्रन्थ के रूप में वेद के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। प्राचीनतम ग्रन्थ के रूप में वेद, की गौरव गरिमा के समक्ष विद्वत्मण्डली एक मत से नतमस्तक है। वेद ऐसी दिव्य वाणी है, जो देश-काल-इतिहास की सीमाओं में न बँधकर समान रूप से, सदा सबको कल्याण का निर्देशन करती है। वेद का तात्पर्य ''ज्ञान'' है और ज्ञान का लक्ष्य है निर्माण, कल्याण, उत्थान। ज्ञान के नेतृत्व में विज्ञान सुख सुविधा का कारण बने, और इस प्रकार जीवन का प्रत्येक चरण सानन्द एवं सौल्लास हो।

आर्य जाति अथवा हिन्दू जाति की वेदों में आस्था एवं श्रद्धा अति प्राचीन काल से मान्य है। पृथिवी के किसी भी स्थान का निवासी हिन्दू अपने धर्म तथा संस्कृति के मूल-तत्त्व, वेदों को ही स्वीकार करता है। वेद आर्य जाति के प्राण सदृश हैं। आर्य सभ्यता, आर्य संस्कृति, आर्य-आचार प्रणाली, आर्य दर्शन सब कुछ वेद की ही देन है। वेद, प्राथमिक, अति पवित्र, अति उदात्त तथा श्रेष्ठ प्रमाण है। अपने सृष्टिकाल से लेकर अद्यावधि वेद अक्षुण्ण रूप से आर्य जाति का सहचर बना हुआ है। वेदों में जीवन, प्रकृति में भौतिकता, आध्यात्मिकता में, ज्ञान तथा कर्म में, सामञ्जस्य का सफल प्रयास है। यह आशा का संदेश है, निराशा का नहीं।

भारतीय साहित्य में वेदों का गुणगान सदा से किया जाता रहा है। हमारे साहित्य में जो स्थान वेदों को प्राप्त है, वह इतर ग्रन्थों को नहीं। वेदों को ईश्वर-निर्मित तथा अपौरुषेय स्वीकार करके इनकी प्रामाणिकता स्वीकार की गई है। विश्व साहित्य में वेद केवल प्राचीनता की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि सृष्टिविज्ञान की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय-दर्शन की अधिकांश विचारधाराएँ मुक्त कण्ठ से वेदों को प्रामाण्य मानती हैं। स्मृतियाँ भी वेदों के आदेश एवं उपदेश को मूर्धन्य स्थान प्रदान करती हैं। मनु के अनुसार वेद-निन्दक ''नास्तिक'' हैं अर्थात् आस्तिक होने के लिए ईश्वर के प्रति निष्ठा उतनी अपेक्षित नहीं, जितनी वेदों के प्रति। मनु की दृष्टि में वेद सनातन चक्षु हैं। वेद में जो कुछ उल्लिखित है, (वही) धर्म है। उसके प्रतिकूल आचरण अधर्म है। आज भी हिन्दुओं के घरों में सामाजिक एवं धार्मिक कृत्य बिना वेद-मन्त्रों के उच्चारण के सम्पन्न नहीं होते। 'गीता' भी शास्त्र के रूप में विधि-निषेध की मर्यादा

के लिये वेदों को ही अधिकार प्रदान करती है। **वेद** एक प्रकार से सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का आदि स्रोत है। उसमें सभी विद्याओं के बीज विद्यमान हैं। भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य, भाषा, सभ्यता, संस्कृति तथा कला का भव्य प्रासाद वेदों की सुदृढ़ आधारशिला पर अवलम्बित है।

वेद अनन्त ज्ञान-राशि का वह अक्षय भण्डार है, जो आर्यों के पूर्वज ऋषियों के द्वारा परिलक्षित तथा आविष्कृत होकर नाना प्रकार के मन्त्रों एवं विधानों के समूह के रूप में प्रादुर्भूत हुआ है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि वेदों से ही धर्म निःसृत हुआ **''वेदाद्धर्मोहिनिर्बभौ।''** वेद-मन्त्र मानव-निर्मित नहीं है, बल्कि ऋषियों ने इनका साक्षात्कार किया है। ऐतरेय ब्राह्मण (३१९) तथा कौषीतिक ब्राह्मण (१०/३०) के अनुसार वेद मन्त्रों का अवलोकन किया गया है। इसीलिये यास्क ने **निरुक्त** में और कात्यायन ने ''सर्वानुक्रमसूत्र'' में मन्त्र-दर्शियों को 'ऋषि' की संज्ञा से सम्बोधित किया है। कहा भी गया है— **ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः** अर्थात् मन्त्रों को देखने वाले 'ऋषि' है। श्वेत-श्वतरोपनिषद् (६/२) के अनुसार **यो वै वेदाश्य प्रहिणोति तस्मै** अर्थात् सर्वप्रथम ईश्वर ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया तथा लोक-शिक्षार्थ उन्हें वेद प्रदान किए। उसी वेद को ऋषियों ने समाधिस्थ-अवस्था में प्राप्त करके **छन्दोमयी वाणी** के रूप में प्रकट किया। जो मन्त्र ऋषियों द्वारा साक्षात्कृत किये गये थे, वे मन्त्र **कष्ठाप्त,** तथा जो मन्त्र ऋषियों की स्मरण-शक्ति के द्वारा अनुमोदित किए गए, वे मन्त्र **कल्प्य** कहलाते हैं। वेदों के शब्दों, अर्थों, मन्त्रों एवं छन्दों का रूप नित्य है।

वेद और उपवेद

वेद शब्द 'विद् ज्ञाने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाने से बनता है। इस प्रकार वेद शब्द का अर्थ ''सम्यक ज्ञान'' है। आचार्य सायण वेद शब्द की मीमांसा करते हुए लिखते हैं- **इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो, वेदयति, सः वेदः।** भाव यह है कि वैदिक ज्ञान वह है जो नित्य एवं शाश्वत है तथा जिससे **अभ्युदय** एवं **निःश्रेयस** की प्राप्ति सहज में ही हो जाती है।

वेद चार हैं— १. **ऋग्वेद,** २. **यजुर्वेद,** ३. **सामवेद,** ४. **अथर्ववेद।** प्रत्येक वेद— **संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक** तथा **उपनिषद्** इन चार ही रूपों में चर्चित पाया जाता है। **ऋग्वेद** की एकमात्र **शाकल-शाखा** ही उपलब्ध है। **शुक्ल यजुर्वेद** की **काण्व** तथा **माध्यन्दिन**— ये दो शाखाएँ उपलब्ध होती हैं। **सामवेद** की **कौथुम** तथा **राणायनीय**— ये दो शाखाएँ प्राप्त होती हैं। **अथर्ववेद** की **पिप्पलाद** एवं **शौनक** शाखाएँ उपलब्ध हैं। इन शाखाओं में मन्त्र, संख्या-भेद, उच्चारण-भेद तथा पाठ-भेद मिलते हैं जो कि

प्रायः साम्प्रदायिक हैं। ऋग्वेद का उपवेद 'आयुर्वेद', यजुर्वेद का 'धनुर्वेद', सामवेद का 'गन्धर्ववेद' तथा अथर्ववेद का 'अर्थ-वेद' है। चारों वेदों में चौबीस हजार मंत्र हैं तथा सात लाख अड़सठ हजार शब्द हैं। ऋग्वेद सभी वेदों में बड़ा है। इसमें १० मण्डल हैं। इन मण्डलों में १०२८ सूक्त और १०५८९ ऋचाएँ हैं। इन ऋचाओं में १५, ३८२६ पद हैं जिनमें ४३२००० अक्षर हैं। सामवेद में १५४३ साममन्त्र हैं। यजुर्वेद में ४० अध्याय हैं जिनमें १९७५ कण्डिकाएँ हैं। अथर्ववेद में २० काण्ड हैं जिनमें ७६० सूक्त और लगभग ६००० मन्त्र हैं।

वेदत्रयी

उपर्युक्त विवेचन में बतलाया गया है कि **वेद चार हैं- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद** तथा **अथर्ववेद**। फिर **वेदत्रयी** से क्या तात्पर्य है? वस्तुतः वेद तो चार ही हैं, जैसा कि अति प्राचीन काल से माना जाता रहा है, परन्तु विद्या तीन प्रकार की होती है। अतः वेद को **त्रयीविद्या** भी कहा जाता है। मनु ने इसे **त्रयं ब्रह्म** की संज्ञा प्रदान की है तथा उसे सनातन स्वीकार किया है। सनातन तथा **शाश्वत** का अर्थ है— जो सदैव विद्यमान रहे, कभी नष्ट न हो। सृष्टि के आरम्भ में यह विद्या प्रकट होती है और प्रलय काल में ब्रह्म में तिरोहित हो जाती है।

गद्य, पद्य तथा गान की दृष्टि से भी वेद तीन प्रकार से उच्चरित होते हैं। यजुर्वेद प्रमुखतः गद्य में ऋग्वेद पद्य में तथा सामवेद गानरूप में है। यह त्रयीविद्या 'ऋग्यजुः साम' लक्षण वाली हैं। शतपथब्राह्मण (४/६/७/१) में कहा गया है— **त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषी सामानि।** तैत्तरीय ब्राह्मण (१/२/२६) के अनुसार **त्रयी यजूंषि सामानि।** ऐतरेयब्राह्मण (५/५/६) के अनुसार **त्रयोवेदा अजायन्त, ऋग्वेद एव अग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः सामवेदः आदित्यात्।** छान्दोग्यब्राह्मण (१/१७/१/१०) का कथन है— **अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् सएतां त्रयीं विद्यामभ्यपतत्।** इन्हीं तीन विद्याओं को आगे चलकर ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हुई। **ऋग्वेद में ज्ञान की मुख्यता है, यजुर्वेद में कर्मकाण्ड की मुख्यता है** और इसी प्रकार **सामवेद में भक्ति की मुख्यता है। अथर्ववेद में इन तीनों ही विद्याओं का समाहार है** तथा **अध्यात्म की प्रधानता** है। अतः **वेद चार** हैं किन्तु **विद्या तीन** है, अतः विद्या की दृष्टि से "वेदत्रयी" संख्या भी सार्थक है।

वेद मन्त्र

वेद **मन्त्रों** का समूह है। **मन्त्र** शब्द मन् धातु से बना है। **मन्त्र का अर्थ होता है- मनन कराने वाला। मंत्राः मननात्।** श्री दुर्गाचार्य स्वयं **निरुक्त** (७/३/६) के भाष्य में

कहते हैं— **तेभ्यः मन्त्रेभ्यः हि अध्यात्म अधिदेव अधियज्ञादि मन्तारो मन्यते, तदेषां मन्त्रत्वम्। मनन हेतुर्मन्त्रः।** मन्त्र मनन का हेतु है, इन्हीं मन्त्रों से मनन के उपरान्त मननशील विद्वानों, कवियों, ऋषियों तथा विचारकों ने अध्यात्म, अधिदैव तथा अधियज्ञादि को यथार्थ ग्रहण किया। इसी कारण यास्क का कथन है—

सत्काम ऋषिः यस्यां आर्थपत्यमिच्छन्।

स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति॥ (निरुक्त (७/७/१/१)

निरुक्त का सातवां अध्याय दैवत काण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। वेद में अमुक सूक्त अथवा मन्त्र का अमुक देवता है, इस विषय का ज्ञान मनन के बिना सम्भव नहीं। मन्त्र का देवता अथवा मन्त्रार्थ मनन के द्वारा ही स्पष्ट होता है। ऋषियों तथा वेदज्ञों ने आर्थपत्य, पद, पदार्थ पद में छिपी शक्ति, कर्म आदि की अभिलाषा की, तो जिस देवता में उन्हें स्तुति प्रयुक्त जान पड़ी, उसी देवता वाला वह मन्त्र हो गया। इस प्रकार एक ही मन्त्र के तीन प्रकार के अर्थ हो सकते हैं— अध्यात्मपरक, अधिदेवपरक तथा अधियज्ञपरक। इस अर्थ में मन्त्र का मनन ही हेतु होता है। इसके बिना अर्थ ज्ञान सम्भव ही नहीं।

यास्क ने निरुक्त में लिखा है— **कर्म सम्पत्तिः मन्त्रो वेदे** (निरुक्त १, २) अर्थात् मन्त्र वेद में उस कर्म सम्पत्ति के मार्ग को प्रशस्त करते हैं जो हमें आनन्दधाम तक ले जा सकता है। यास्कानुसार **जिस इच्छा से ऋषि मन्त्रोचारण करता है तथा जिस देवता से वह अपने अर्थ का सम्पादन कराने की अभिलाषा रखता है, वह मन्त्र उसी देवता से सम्बद्ध हो जाता है।** अतः तीन प्रकार की इच्छा होने के कारण तीन प्रकार की ऋचाएँ भी होती हैं— (१) परोक्षकृत, (२) प्रत्यक्षकृत एवं (३) आध्यात्मिक। परोक्षकृत ऋचाएँ गुह्य (छिपी हुई) हैं। प्रत्यक्षकृत ऋचाएँ विषय से सीधे सम्बन्धित होते हैं। आध्यात्मिक ऋचाएँ आत्मसम्बन्धी तथा उपासनापरक होती हैं। इन तीन प्रकार की ऋचाओं के अतिरिक्त दो प्रकार की ऋचाएँ और भी होती हैं, उनकी संज्ञा है, **प्राजापत्य** तथा **नराशंस**। **प्राजापत्य** ऋचाओं में जड़ एवं चेतन तत्त्वों का संमिश्रण होता है तथा **नाराशंस** ऋचाएँ माता, पिता, गुरु, अतिथि आदि से सम्बन्धित होती हैं।

सामान्यतया यज्ञों में वेद मन्त्रों का ही विनियोग होता था। **सर्वानुक्रमणी** वृत्ति की भूमिका में लिखा है-

''विनियोक्तव्य रूपो यः स मन्त्र इति चक्षते।

विधिस्तुतीकरं शेषं ब्राह्मणाः कथयन्ति हि॥''

जो विनियोग के योग्य है, वह मन्त्र है। विधि एवं स्तुति करने वाला शेष भाग ब्राह्मण है। इन मन्त्रों में कहीं स्तुति, कहीं याचना, कहीं आशीर्वाद, कहीं विधि, प्रेरणा, प्रश्न, अवधारण, प्रवाहिलका, आज्ञा या रहस्य कथन है।

वर्तमान काल में जो वैदिक साहित्य प्राप्त होता है वह चार प्रकार का है- (१) संहिता (२) ब्राह्मणग्रन्थ (३) आरण्यक (४) उपनिषद्। ये सभी रचनाएँ परस्पर सम्बद्ध हैं। इनमें से अनेक रचनाएँ लुप्त भी हो गई हैं। यहाँ पर क्रमशः इन रचनाओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। इनका विस्तृत विवेचन इसी पुस्तक में आगे इन विषयों के पृथक् अध्यायों में किया गया है।

१. संहिता :– मन्त्रों के समूह की संज्ञा "संहिता" है। यज्ञानुष्ठान हेतु भिन्न भिन्न ऋत्विजों के उपयोगार्थ इन मंत्रों का संकलन तथा सम्पादन किया गया। दुर्गाचार्य (निरुक्तवृत्ति १/०) के अनुसार- "**वेदं तावदेकं सन्तम् अतिमहत्वाद् दुरध्येयमनेक शाखाभेदेन समाम्नासिषुः। सुख ग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः।**" अर्थान् इन मन्त्रों का संकलन कार्य अतिमहत्त्वपूर्ण होने के कारण वेद व्यास जी द्वारा सम्पन्न किया गया। महाभारत के अनुसार व्यासकर्म करने के कारण उन्हें **वेदव्यास** का सम्बोधन प्राप्त हुआ- "**वेदान् विव्यास यस्मात्, स वेदव्यास इति स्मृतः।**" अर्थात् जिसने वेदों को विन्यस्त किया वह "वेदव्यास" के नाम से स्मरण किया जाता है। अतः संहिता से तात्पर्य सूक्तों, मन्त्रों, देवस्तुतियों तथा याज्ञिक नियमों एवं विधियों से है। संहिताएँ ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व के भेद से चार प्रकार की होती हैं। क्रमशः विवेचन प्रस्तुत है—

(अ) ऋक् संहिता :– यह वेद पदार्थ-विज्ञान का सूचक, भौतिक वस्तुओं को गुणों का निर्देशक और विश्व की सर्वप्राचीन रचना है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इसकी २१ शाखायें मानी हैं। चरण व्यूह में यह लिखा हुआ है कि अध्येताओं के कारण ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ हुई हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) शाङ्खायन (२) शाकल (३) बाष्कल (४) माण्डूक्य (५) आश्वलायन।

श्रीमद्भागवत तथा **विष्णु-पुराण** में **वात्स्य** तथा **मौद्गल** नामक दो शाखाओं का अधिक उल्लेख हैं—

शाकलस्य शतं शिष्या नैष्ठिकाब्रह्मचारिणः।
पञ्चतेषां गृहस्थास्ते धर्मिष्ठाश्च कुटुम्बिनः॥
शिशिरो बाष्कलः शांखो वात्स्यश्चैवाश्वलायनः।
पञ्चैते शाकलाः शिष्याः शाखाभेदप्रवर्तकाः॥

महात्मा भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में ऋग्वेद की १५ शाखाओं का उल्लेख किया है। कतिपय विद्वानों ने तो इसकी ३४ शाखाएँ बतलाई हैं।

श्रीमद्भागवत में लिखा है कि महर्षि वेदव्यास ने मन्त्र समुदाय में से भिन्न-भिन्न प्रकरणों के अनुसार मन्त्रों का संग्रह करके उनसे ऋग्, यजुः, साम तथा अथर्व— ये चार संहिताएं बनाई। उन्होंने ''बृह्वृच्'' नामक पहली ऋक् संहिता पेल को, ''निगद'' नामक दूसरी यजुः संहिता वैशम्पायन को, सामश्रुतियों की ''छान्दोग-संहिता'' जैमिनी को, तथा सुमन्तु को ''अथर्ववाङ्गिरससंहिता'' का अध्यापन कराया-

पैलाय संहितामाद्यं बह्वृचाख्यामुवाच ह।
वैशम्पायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम्॥
साम्नां जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम्।
अथर्वाङ्गिरसीं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे॥

(स्कन्ध १२ अ० ६, श्लोक ५२५३)

पैल मुनि ने संहिता को दो भागों में करके एक का अध्ययन **इन्द्रप्रमिति** को और दूसरे का **बाष्कल** को कराया। **बाष्कल** ने अपनी शाखा के चार भाग करके अपने शिष्य बोध्य **याज्ञवल्क्य, पराशर** और **अग्निमित्र** को पढ़ाया। **इन्द्रप्रमिति** ने अपनी संहिता का अध्ययन **माण्डूकेय ऋषि** को कराया। माण्डूकेय के पुत्र का नाम **शाकल्य** था। उन्होंने अपनी संहिता के पाँच भाग करके उन्हें **वात्स्य, मुद्गल, शालीय, गोखल्य** तथा **शिशिर** नामक शिष्यों को पढ़ाया। इसी प्रकार का वर्णन विष्णु-पुराण में भी मिलता है।

(ब) यजुः संहिता :– यह संहिता दो भागों में विभक्त है— १. शुक्ल संहिता २. कृष्ण संहिता। इसके भेद का कारण सूर्य से वैशम्पायन तथा वैशम्पायन से याज्ञवल्क्य द्वारा आधीत वेद का वमन करना कहा जाता है और उस वमन का तित्तिर के रूप में जिन ऋषियों ने भक्षण किया, उनके द्वारा प्रवर्तित **तैत्तरीय शाखा** चली और वही **कृष्ण यजुर्वेद** कहलाया। यह प्रसंग इस प्रकार है— **महर्षि वैशम्पायन** ने यजुर्वेद की सत्ताइस शाखाओं की रचना की और अपने शिष्यों को पढ़ाया। वैशम्पायन को ब्रह्म हत्या लगी। वैशम्पायन ने अपने शिष्यों से कहा कि वे ब्रह्म हत्या को दूर करने के लिए व्रत का अनुष्ठान करें। इस पर **वैशम्पायन** के शिष्य **याज्ञवल्क्य** ने कहा— हे भगवन्! ये सब ब्राह्मण निस्तेज हैं। मैं अकेला ही व्रत का अनुष्ठान करूँगा। इस पर क्रोधित होकर गुरु वैशम्पायन ने कहा कि तू अत्यन्त ही अहंकारी है, तूने जो कुछ भी

मुझसे पढ़ा है, सब त्याग दे। याज्ञवल्क्य ने गुरु की आज्ञा पाते ही उनके पढ़ाये यजुर्वेद को वमन कर दिया। याज्ञवल्क्य द्वारा वमन किए गए यजुः को वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने तित्तिर बनकर ग्रहण कर लिया, इसलिये वे सब **तैत्तरीय** कहलाए। गुरु के निर्देश से व्रताचरण करने के कारण यजुः शाखाध्यायी **चरकाध्वर्यु** हुए, जैसा कि कहा भी गया है—

यजूंष्यथ विसृष्टानि याज्ञवल्क्येन वै द्विज।
जगृहुस्तित्तिरा भूत्वा तैत्तिरीयास्तु ते ततः॥
ब्रह्महत्याव्रतं चीर्णं गुरुणा चोदितैस्तु यैः।
चरकाध्वर्यवस्ते तु चरणान्मुनिसत्तम॥

याज्ञवल्क्य ने भी यजुर्वेद की प्राप्ति के लिए संयतचित्त होकर भगवान् सूर्य की उपासना की। भगवान् सूर्य ने अश्व रूप में प्रकट होकर उन्हें **अयातयाम** नामक यजुः श्रुतियों का उपदेश दिया जिन्हें उनके गुरु वैशम्पायन भी नहीं जानते थे। उन श्रुतियों का अध्ययन करने वाले ब्राह्मण **वाजी** के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन वाजि श्रुतियों की काण्व आदि पन्द्रह शाखाएँ हैं—

एवमुक्तो ददौ तस्मै यजूंषि भगवान् रविः।
अयातयामसंज्ञानि यानि वेन्ति न तद्गुरुः।
यजूंषि यैरधीतानि तानि विप्रैर्द्विजोत्तम।
वाजिनस्ते समाध्याताः सूर्योऽप्यश्वोऽमवद्यतः।
शाखाभेदास्तु तेषां वै दश पञ्च च वाजिनाम्।
काण्वाद्यास्सुमहाभाग याज्ञवल्क्याः प्रकीर्तिताः॥

कृष्णयजुर्वेद की **तैत्तिरीय, कठ** तथा **मैत्रायणी** मुख्य शाखाएँ हैं जो कि अब प्राप्त नहीं होती। शुक्ल-यजुर्वेद की **वाजसनेयी** और **कठ** शाखाएँ पूर्णतया सुरक्षित हैं।

ऐसा माना जाता है कि यजुर्वेद में किंचित् गद्यभाग भी उपलब्ध होता है। आधुनिक विचारकों की मान्यता है कि कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्र तथा ब्राह्मण साङ्कर्य है तथा उसका विवेक करना अत्यन्त कठिन है अतएव उसकी कृष्ण संज्ञा पड़ गई। **शुक्ल यजुर्वेद** में मन्त्र तथा ब्राह्मण पृथक्-पृथक् हैं, अतः उसे 'शुक्ल' कहा गया है। **कृष्ण यजुर्वेद** दाक्षिणात्यों में अधिक प्रचलित है। यजुर्वेद में याज्या, अनुवाक्या आदि ऋचाओं का विशेष निरूपण हुआ है। स्त्रोतों का निरूपण सामवेद में हुआ है। इस प्रकार कर्मों की आधारभित्ति **यजुर्वेद** है और उसमें विशेषतापादक ऋक् तथा साम हैं। तथाहि—

अध्वर्युमुख्यैर्ऋत्विग्भिश्चतुभिर्यज्ञसम्पदः।
निर्मिमीते क्रियासघैरध्वर्युर्यज्ञियं वपुः॥
तदलंकुरूते होता ब्रह्मोद्गातेत्यमी त्रयः।
यज्ञं यजुर्भिरध्वर्युर्निर्मिमीते तसो ह्यजुः॥
व्याख्यातं प्रथमं पश्चादृक्षां व्याख्यानमीरितम्।
साम्नामृगाश्रितत्वेन सामव्याख्याथ वर्ण्यते॥

यजुर्वेद में पहला अध्याय तथा अठ्ठाईसवीं कण्डिका **दर्शपूर्णमास** का प्रकरण है। द्वितीयाध्याय की समाप्ति तक **पिण्डपितृयाग** है। तृतीयाध्याय में **अग्न्याधान** है। अग्निष्टोम होम, अग्नि, उपस्थापन, चातुर्मास्य भी संक्षिप्त रूप में वर्णित है। चर्तुथाध्याय से आठवें अध्याय के ३३वें मन्त्र तक **सोम याग** है। फिर षोडशी याग, **द्वादशाह याग** तथा **गवानयन** है। ९वें अध्याय में ३४वें मन्त्र तक **वाजपेय याग** है फिर **राजसूय** है। दशम में भी राजसूय तथा तदन्तर्गत **चरक सौत्रामणी** है। ११वें अध्याय से १८वें अध्याय तक **अग्निचयन** है। इसके बाद १४वें अध्याय तक **सौत्रामणी** है। १८वें अध्याय तक **अश्वमेध** है। ३९वें अध्याय तक **खिलमंत्र** है तथा उनमें **सर्वमेघ** और पुरुषमेध का प्रतिपादन हुआ है। ४७वें अध्याय में **अध्यात्म** विषयों का निरूपण है।

(स) साम संहिता :– सामवेद संहिता दो भागों में विभक्त है— **छन्दोवेद** तथा **गानवेद**। इसको गान संहिता भी कहते हैं तथा **छन्द संहिता** भी। इसमें छन्दस् संहिता में तथा गान-संहिता में ऋगादि मन्त्रों का विशेष प्रयोग हुआ है। वर्णविकारों से विकृत गायत्री आदि छन्द गान संहिता में प्रयुक्त हैं। गान का लक्षण है— **''आभ्यन्तरप्रयत्नजन्यः वागिन्द्रियव्यापारविशेषो गानम्।''**

''षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा।
पञ्चमो धैवतश्चैवनिषादः सप्तमः स्वरः॥''

गान समय में मनस्वरूप में किंचित् विकृति हो जाती है, उसके ८ कारण हैं- (१) विकार (२) विश्लेष (३) विकर्षण (४) विराम (५) अभ्यास (६) लोप (७) आगम तथा (८) स्तोम। इनमें ''विकार'' का अर्थ स्पष्ट है जो ''इको यणचि'' आदि से होता है। सन्धि-विच्छेद को 'विश्लेष' कहते हैं। ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ और दीर्घ के स्थान पर लुप्त उच्चारण ''विकर्षण'' है। वर्णोच्चारण के पश्चात् दो तीन मात्रा काल तक रुकना 'विराम' है। अन्तिम या अथ पद की आवृत्ति या तीन

बार कथन ''अभ्यास'' कहलाता है। किसी वर्ण का उच्चारण न करना ''लोप'' है। किसी पद में किसी अन्य पद का संयोग कर के उच्चारण ''आगम'' है। जो शब्द मन्त्र के मध्य में गान-काल में असम्बन्ध रूप से बढ़ाकर बोले जावें, उन्हें ''स्तोम'' कहते हैं। यह कहा भी गया है—

''ऋचो यदधिकं किञ्चिद् द्विरूक्तं वापि दृश्यते।

स्तोभत्वं तस्य मन्यन्ते क्रमशः शास्त्रचिन्तकाः।।''

महर्षि जैमिनि ने सामवेद की शाखाओं का विभाग किया था। जैमिनि के पुत्र **सुमन्तु** तथा सुमन्तु के पुत्र **सुकर्मा** ने सामवेद की एक-एक शाखा का अध्ययन किया। सुकर्मा ने सामवेद संहिता के एक हजार शाखा भेद किए—

''सहस्रसंहिताभेदं सुकर्मा तत्सुतस्ततः।

चकार तं च तच्छिष्यौ जगृहाते महाव्रतौ।।''

सामवेद की १००० शाखाओं में सम्प्रति **जैमिनीय, राणायनीय** तथा **कौथुम**— ये तीन ही शाखाएँ प्राप्त हैं। सामवेद की प्रशंसा करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है— **'वेदानां सामवेदोऽस्मि'**। साम की प्रशस्ति में एक स्थान पर कहा गया है—

''यद् ऋचा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन् यत् साम्ना स्तुवते तदसुरा नान्ववायन्, य एवं विद्वान्, साम्ना स्तुवीत, इत्यृचं निन्दित्वा साम प्रशस्य लिङ्ग प्रत्ययेन साम विहिंत तस्मात् साम्नैव तव्यम्।''

बृहद्देवता में तो यहाँ तक कहा गया है कि जो व्यक्ति सामवेद को जानता है, वहीं वस्तुतः वेद को समझता है—

''सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्''

(द) अथर्व संहिता :- अथर्ववेद के द्रष्टा **ऋषि अथर्वा** अथवा **अङ्गिरस** हैं। इसमें २० काण्ड, ७५९ सूक्त और ५९७७ मन्त्र हैं। आदि के दश काण्डों को छोड़कर आगे के दश काण्डों को **अङ्गिरोवेद** कहते हैं। इसीलिए इसको **अथर्वाङ्गिरोवेद** भी कहा गया है। यहाँ तक भी ज्ञातव्य है कि ''अश्व'' शब्द मन का वाचक है। इस प्रकार अश्वमेध का अर्थ मनोनिरोध होग। जब यजुर्वेदोक्त अश्वमेध को इस भावना से कर चुके तब समाप्ति के अनन्तर पूर्णाहुति के पश्चात् गृहस्थ को ऋग्वेद का उपदेश देना चाहिए तथा जो अश्वमेधकर्ता वृद्ध हों उन्हें यजुर्वेद का द्वितीय दिन उपदेश करना चाहिए। तीसरे दिन युवकों को अथर्ववेद का उपदेश देना चाहिये। चौथे दिन स्त्रियों को अङ्गिरोवेद १०वें काण्ड से अन्तिम काण्ड तक अथर्ववेद का उपदेश देना चाहिए। अन्यत्र कहा भी गया है— **''युवतयः शोभना उपसमेता भवन्ति ता उपदिशत्यङ्गिरोवेद।''**

अथर्ववेद की नौ शाखाएँ हैं। दक्षिण भारत में **शौनक संहिता** तथा उत्तर भारत में **पैप्पलाद संहिता** का अधिक प्रचार है। अथर्ववेद का एक मात्र **गोपथ ब्राह्मण** है और **कौशिक सूत्र** नामक एक ही **कल्पसूत्र** है। अथर्ववेद परिशिष्ट में लिखा है कि जिस राजा के राज्य में अथर्ववेद का ज्ञाता निवास करता है, वह राष्ट्र विघ्न रहित होकर निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर होता है—

''यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः।
निवसत्यपि तद् राष्ट्रं वर्धते निरूपद्रवम्॥
तस्माद् राजा विशेषेण अथर्वाणं जितेन्द्रियम्।
दानसम्मानसत्कारैर्नित्यं समभिपूजयेत्॥''

अथर्ववेद की प्रशंसा में एक स्थान पर कहा गया है—

''न तिथिर्न च नक्षत्रं न ग्रहो च न चन्द्रमाः।
अथर्वमन्त्रसम्प्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति॥''

गोपथ ब्राह्मण में भी इस प्रकार कहा गया है—

''एतद्वैभूमिष्ठं ब्रह्मयद् भृग्विङ्गरसः। येऽङ्गिरसः सरसः येऽथर्वाणस्तद् भेषज्म्, यद् भेषजं तद्मृतम्, यदमृतं तद् ब्रह्म।''

स्कन्दपुराण में भी उल्लेख किया गया है—

''यस्तत्राथर्वणान् मन्त्रान् जपेच्छ्रद्धासमन्वितः।
तेषामर्थोद्भवं कृत्स्नं फलं प्राप्नोति स ध्रुवम्॥''

२. ब्राह्मण ग्रन्थ :– ब्राह्मण ग्रन्थ गद्यात्मक रचनाएँ हैं। इनमें आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण है। आध्यात्मिक तत्त्वों में मुख्यतः यज्ञ–यागों का प्रतिपादन तथा उनकी विधियों की स्पष्ट व्याख्या करना ही ब्राह्मणों का उद्देश्य रहा है। इनमें वैदिक अनुष्ठानों का क्रियात्मक रूप उपलब्ध होता है। इस प्रकार 'ब्राह्मण' में मन्त्रों, कर्मों एवं विनियोगों का सम्पूर्ण वर्णन प्राप्त होता है। 'ब्रह्म' का अर्थ 'यज्ञ' भी होता है। अतः यज्ञ का प्रतिपादन एवं यज्ञों की प्रचुर व्याख्या करने के कारण इनकी **ब्राह्मण** संज्ञा सार्थक है। वेदों के समान ही ब्राह्मण ग्रन्थों का भी साक्षात्कार किया गया है, किन्तु वेद मन्त्रों के द्रष्टा **ऋषि** कहलाते हैं, जबकि ब्राह्मणों के द्रष्टा **आचार्य**। स्वरूप की दृष्टि से भी वेदों तथा ब्राह्मणों में पर्याप्त अन्तर है। प्रायः चारों वेद छन्दों में उपनिबद्ध हैं, जबकि ब्राह्मण ग्रन्थ आद्योपान्त गद्यात्मक ही हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में जैमिनि शबरस्वामी ने निम्न दस घटकों का उल्लेख किया है—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण कल्पना।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु॥ (२/१/८)

किन्तु **विधि** ही ब्राह्मणों का प्रधान विषय है। अन्य विषय उसके अङ्ग होने के कारण गौण माने जाते हैं। इसके विपरीत संहिताओं में देव स्तुतियाँ, यज्ञ-यागों के लिए मन्त्र एवं मन्त्रांश तथा ऐहिक और पारलौकिक फल देने वाले विषयों का निदर्शन है।

पुरातन-काल में ब्राह्मण साहित्य अति विशाल था, किन्तु उनमें से अधिकांश ग्रन्थ काल-कवलित हो चुके हैं। अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों का मात्र नाम ही उपलब्ध होता है। उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम निम्नलिखित हैं—

ऋग्वेदीय ब्राह्मण— इसके दो ब्राह्मण हैं— **ऐतरेय एवं शाङ्खायन। ऐतरेय ब्राह्मण** चालीस अध्यायों वाला है जबकि **शाङ्खायन ब्राह्मण** तीस अध्यायों के रूप में प्राप्य है।

यजुर्वेदीय ब्राह्मण— इस वेद के दो उपविभाग होने के कारण ब्राह्मण भी दो भागों में विभक्त हैं। एक तो **कृष्ण-यजुर्वेदीय ब्राह्मण** तथा दूसरा **शुक्ल-यजुर्वेदीय ब्राह्मण**। कृष्ण-यजुर्वेद के ब्राह्मण का नाम **तैत्तिरीय ब्राह्मण** तथा शुक्ल-यजुर्वेद का ब्राह्मण **शतपथ ब्राह्मण** कहलाता है।

सामवेदीय ब्राह्मण— सामवेद के नौ ब्राह्मण हैं, वे हैं— **ताण्ड्य ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण, दैवत ब्राह्मण, उपनिषद् ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण** तथा **जैमिनीय ब्राह्मण**।

अथर्ववेदीय ब्राह्मण— अथर्ववेद का तो मात्र एक ही ब्राह्मण है— **गोपथ ब्राह्मण**। इसके दो भाग हैं— **पूर्वगोपथ** तथा **उत्तरगोपथ**।

३. आरण्यक :— इन ग्रन्थों का किंचित अंश ब्राह्मण से सम्बन्धित है तथा किंचित अंश स्वयं स्वतन्त्र अस्तित्व वाला है। वस्तुतः आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशिष्ट भाग के सदृश हैं। 'अरण्य' में पाठ होने के कारण **आरण्यक** नाम सार्थक है। वस्तुतः ये ग्रन्थ नगरों तथा ग्रामों में न पढ़े जाकर वनों में पढ़े जाते हैं। कहा भी गया है— **"अरण्ये एवं पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते।"** इन ग्रन्थों में अरण्यस्थ ऋषियों अथवा वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण कर चुकने वाले व्रतियों के यज्ञ, महाव्रत एवं होत्र आदि का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। मुख्यतः इनमें यज्ञीय रहस्यों का प्रतिपादन है। इनमें **आरण्यक** ऋषियों के कर्मकाण्ड के अतिरिक्त यज्ञ की आध्यात्मिक

व्याख्या एवं दार्शनिक चिन्तन का भी समावेश है। उपनिषदों में विकसित ब्रह्मज्ञान एवं दर्शन का मूल आधार ये आरण्यक ग्रन्थ ही हैं।

संहिताओं एवं ब्राह्मणों की संख्या के बराबर ही आरण्यक भी होने चाहिये किन्तु खेद का विषय है कि सम्पूर्ण आरण्यक साहित्य उपलब्ध नहीं है। आरण्यक साहित्य का एक विशाल भाग काल कवलित हो चुका है। जो आरण्यक प्राप्त होते हैं, वे निम्नलिखित हैं—

ऋग्वेद के दो आरण्यक मिलते हैं— (१) **ऐतरेयारण्यक** तथा (२) **कौषीतिक** या **शाङ्खायन आरण्यक**। **ऐतरेय आरण्यक** को **ऐतरेय ब्राह्मण** का अंश माना जाता है। **शाङ्खायन आरण्यक** भी **ऐतरेय आरण्यक** के सदृश ही हैं। सुविख्यात वैदिक भाष्यकार **सायण** एवं **शङ्कर** दोनों ने ही, **ऐतरेय** तथा **शाङ्खायन** आरण्यकों पर भाष्य लिखे हैं।

यजुर्वेद के भी आरण्यक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। शुक्ल यजुर्वेद का **बृहदारण्यक** है, जो काव्य शाखा से सम्बन्धित हैं। इस पर **शङ्कर**, **रामानुज** तथा **सायण** के प्रामाणिक भाष्य उपलब्ध हैं। **कृष्ण यजुर्वेद** की **मैत्रायणी शाखा** का भी एक आरण्यक है, जो **मैत्रायणीयोपनिषद्** कहलाता है। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तरीय शाखा से सम्बन्धित आरण्यक की संज्ञा **तैत्तरीय आरण्यक** है।

सामवेद से सम्बद्ध आरण्यक **तवलकार आरण्यक** के नाम से जाना जाता है। इसका दशम अनुवाद ही **केनोपनिषद्** है।

अथर्ववेद का कोई आरण्यक ग्रन्थ नहीं है। इससे सम्बन्धित उपलब्ध उपनिषद् किसी आरण्यक का अंश नहीं है। वह स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्राप्य है।

४. उपनिषद् :– उपनिषद् आरण्यकों में सम्मिलित होने से उन्हीं के विशिष्ट अङ्ग हैं। ये वेद के अन्तिम भाग हैं, वेद के सारभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादक हैं, इसीलिए इन्हें **वेदान्त** भी कहा जाता है। उपनिषद् वैदिक भावना के विकास के द्योतक हैं। जिस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड की व्याख्या के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, उसी प्रकार वैदिक ज्ञान काण्ड के लिए **उपनिषद्** रचे गए। **उपनिषद्** शब्द की निष्पत्ति दो शब्दों के योग से होती है, वे शब्द हैं— **उप** और **निषद्**। **उप** का अर्थ होता है **निकट** तथा **निषद्** का अर्थ है **नीचे बैठने वाला** अर्थात् परम तत्त्व के निकट बैठकर ग्रहण किये जाने वाला ज्ञान उपनिषद् के रूप में संग्रहीत हैं। यह अधिकारी को ब्रह्म के पास पहुँचा देता है। इसी कारण **उपनिषद्** शब्द ब्रह्मविद्या का भी द्योतक है। ये ग्रन्थ, ऋषियों, मुनियों एवं अन्य विद्वानों द्वारा **विश्व**, **ईश्वर** तथा **मानव (जीव)** के

सम्बन्ध में ध्यानस्थ अवस्था में प्रत्यक्षीकृत ज्ञान का विशाल भण्डार है।'' इन ग्रन्थों में एक अत्यन्त पुरातन् भारतीय दर्शन का मूलाधार निहित है। प्राचीन काल में इन ग्रन्थों का बृहद् भण्डार अवश्य रहा होगा और वे ग्रन्थ– गायकों, पुरोहितों एवं विचारकों द्वारा कण्ठस्थ करके कुल क्रमागत रूप में दूसरी पीढ़ियों को प्राप्त कराए जाते रहे होंगे। किन्तु विभिन्न कालों में वेद विरोधी शक्तियों द्वारा अनेक वैदिक ग्रन्थ नष्ट कर दिए गए। उन्हीं में ढेरों उपनिषद् भी समाप्त हो गएं। इसी कारण अब उपलब्ध वैदिक साहित्य अत्यन्त अल्प है, फिर भी इतना अधिक तथा उत्कृष्ट है।

उपनिषदों की संख्या के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। **मुक्तिकोपनिषद्** में १०८ उपनिषदों की सूची दी गई है, जिनमें दस उपनिषद् ''ऋग्वेद'' से सम्बन्धित, उन्नीस ''शुक्ल यजुर्वेद'' से, बारह 'कृष्ण यजुर्वेद' से, सोलह ''सामवेद'' से तथा इकत्तीस ''अथर्ववेद'' से सम्बन्धित है। किन्तु शङ्कराचार्य ने केवल दस उपनिषदों पर अपना भाष्य लिखा है, वे ही प्रामाणिक उपनिषद् हैं। **मुक्तिकोपनिषद्** के अनुसार उनके नाम एवं क्रम इस प्रकार हैं–

१. ईशोपनिषद्	६. माण्डूक्योपनिषद्
२. केनोपनिषद्	७. तैत्तरीयोपनिषद्
३. कठोपनिषद्	८. ऐतरेयोपनिषद्
४. प्रश्नोपनिषद्	९. छान्दोग्योपनिषद्
५. मुण्डकोपनिषद्	१० बृहदारण्यकोपनिषद्

उपर्युक्त दस उपनिषदों के अतिरिक्त तीन अन्य उपनिषद् भी प्राचीन माने जाते हैं क्योंकि शङ्कराचार्य ने ''ब्रह्मसूत्र भाष्य'' में इनका नामोल्लेख किया है; वे हैं–

१. कौषीतिकोपनिषद्

२. श्वेताश्वतरोपनिषद्

३. मैत्रायणीयोपनिषद्

इन उपनिषदों का विस्तृत विवेचन एवं उपनिषद् सम्बन्धी अन्य महत्त्वपूर्ण सामग्री आगे उपनिषदों के पृथक् अध्याय में विस्तारपूर्वक दी गई हैं।

वैदिक साहित्य दैविक प्रकाश हैं। इससे निकट का सम्बन्ध रखने वाली रचना 'वेदाङ्ग' है। यह वैदिक साहित्य के अन्तर्गत नहीं आती।

वेदाङ्ग :– वेद एक जटिल एवं दुरूह विषय है, भाव की दृष्टि से एवं भाषा की दृष्टि से भी। उसे सरल तथा सुबोध करने के लिए विद्वानों ने एक्र नूतन सूत्र साहित्य

का प्रणयन किया। यह सूत्र साहित्य 'वेदाङ्ग' के नाम से प्रसिद्ध है। 'वेदाङ्ग' का तात्पर्य है— **वेद के अङ्ग**। **अङ्ग** का व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ है **उपकारक** अर्थात् उपकार करने वाले। जिससे किसी वस्तु के स्वरूपज्ञान में सहायता प्राप्त हो वह **अङ्ग** कहलाता है। **वेद के भावों एवं अर्थों के ज्ञान करने में सहायक शास्त्र 'वेदाङ्ग' की संज्ञा से पुकारा गया**। वेदाङ्गों में छह अङ्ग सम्मिलित हैं। जो निम्नलिखित हैं—

अ.	शिक्षा	द.	निरुक्त
ब.	कल्प	क.	छन्द
स.	व्याकरण	ख.	ज्योतिष

इनका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है—

(अ) शिक्षा :– वैदिक साहित्य में वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण का विशेष महत्त्व है। इस कार्य में सहायता प्रदान करने वाला वेदाङ्ग 'शिक्षा' कहा जाता है। शिक्षा की परिधि में प्रातिशाख्य ग्रन्थ भी आते हैं जो संहिताओं एवं पद-पाठ से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित हैं। इस प्रकार शिक्षा के अन्तर्गत उच्चारण विधियों का निर्देश प्राप्त होता है।

(ब) कल्प :– वैदिक कर्मकाण्ड तथा यज्ञीय अनुष्ठानों के निमित्त प्रवर्तमान वेदाङ्ग **कल्प** कहलाता है। इनमें क्रमबद्ध सूत्रात्मक संक्षिप्त रूप में यज्ञ-याग के विधान का विवरण उपलब्ध होता है। **कल्प** का व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ है— **यज्ञीय प्रयोगों का समर्थन करने वाला शास्त्र**। अपने अर्थ के अनुसार ही कल्प में वैदिक कर्मकाण्ड का विवेचन है।

(स) व्याकरण :– पदस्वरूप एवं पदार्थ निश्चय के लिए उपयोग किए जाने वाला वेदाङ्ग **व्याकरण** है। वैदिक मन्त्रों के आलोचनात्मक अध्ययन के लिए व्याकरण अत्यन्त आवश्यक शास्त्र है। व्याकरण शास्त्र पदों की प्रकृति एवं प्रत्यय का निर्देश करके उनके अर्थों का निर्णय करता है।

(द) निरुक्त :– निर्वचन शास्त्र की ही 'संज्ञा' **निरुक्त** है। निरुक्त की रचना यास्क ने की है। यह 'निघण्टु' की टीका है। **निरुक्त का मुख्य कार्य है– पदों की निरुक्ति एवं व्युत्पत्ति का ज्ञान कराना**। निरुक्त की भिन्नता का प्रभाव अर्थों की भिन्नता का कारण बनता है। अतः वेदों के पदों के अर्थ-निर्णयार्थ प्रयुक्त वेदाङ्ग **निरुक्त** हैं।

(क) छन्द :– 'छन्द' पाँचवा वेदाङ्ग है। समस्त वेद छन्दोबद्ध हैं। अतः छन्दों की यथार्थ जानकारी के बिना मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण एवं पाठ सम्भव नहीं है। इस प्रकार छन्दों का ज्ञान मन्त्रों के उच्चारणार्थ अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण 'छन्द' वेदाङ्ग के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

(ख) ज्योतिष :- 'ज्योतिष' षष्ठ एवं अन्तिम वेदाङ्ग है। यज्ञों का अनुष्ठान किसी विशिष्ट ऋतु एवं नक्षत्र में होना चाहिए। इस प्रकार नक्षत्र, तिथि, मास एवं संवत्सर के ज्ञान से वैदिक कर्मकाण्ड का उचित काल में आयोजन होता है। इस कार्य के लिए निवर्तमान वेदाङ्ग ही **ज्योतिष** है। ज्योतिष का प्रतिनिधित्व 'वेदाङ्ग ज्योतिष' ग्रन्थ करता है।

सूत्र साहित्य :- 'वेद' तो ईश्वरीय ज्ञान है। ऋषियों द्वारा साक्षात्कृत साहित्य है। इसके अतिरिक्त एक अन्य रचना है— **कल्पसूत्र** अथवा **सूत्र साहित्य**। यह वैदिक साहित्य से अत्यन्त निकटता से सम्बद्ध है, किन्तु इसकी गणना वैदिक साहित्य में नहीं की जाती है। यह वेदाङ्ग के रूप में माना जाता है। यह सूत्र-ग्रन्थ वेदों तथा ब्राह्मणों के प्रतिपाद्य विषय का साररूप है। यह गद्य में विरचित है।

उपलब्ध सूत्रों का विवरण निम्नलिखित है—

(अ) **ऋग्वेदीय सूत्र-** आश्वलायन सूत्र तथा शाङ्खायन सूत्र।

(ब) **शुक्ल यजुर्वेदीय सूत्र-** कात्यायन श्रौत सूत्र, पारस्कर गृह्यसूत्र तथा कात्यायन शुल्ब सूत्र।

(स) **कृष्ण यजुर्वेदीय सूत्र-** विभिन्न शाखाओं के भिन्न-भिन्न सूत्र प्राप्त होते हैं, जो निम्नांकित हैं-

(अ) **बौधायन तथा आपस्तम्ब शाखाएं-** श्रौतसूत्र, गृह्य सूत्र, धर्म सूत्र तथा शुल्बसूत्र।

(ब) **काठक शाखा-** काठक गृह्यसूत्र।

(स) **मैत्रायणी शाखा-** मानव श्रौतसूत्र, मानव गृह्यसूत्र तथा वाराह-गृह्यसूत्र।

(द) **सामवेदीय सूत्र-** लाट्यायन श्रौतसूत्र, द्राह्यायन श्रौतसूत्र, खादिर गृह्यसूत्र, जैमिनीय श्रौतसूत्र, जैमिनीय गृह्यसूत्र, गौतम धर्मसूत्र एवं आर्षय कल्पसूत्र।

(क) **अथर्ववेदीय सूत्र-** वैतान श्रौत्रसूत्र, कौशिक गुह्यसूत्र एवं वैखानस गृह्यसूत्र।

अतः स्पष्ट है कि कल्प सूत्रों में श्रौतसूत्र, गुह्यसूत्र, धर्मसूत्र एवं शुल्बसूत्रों की भी गणना होती है; इनका किंचित परिचय निम्नलिखित है—

(अ) **श्रौतसूत्र-** श्रौतसूत्र में श्रौतयागों का क्रमबद्ध विवरण किया गया है। अधिक दिनों तक निरन्तर अनेक पुरोहितों द्वारा सम्पादन किए जाने वाले

श्रौताग्नि से सम्बन्धित यज्ञ **श्रौत याग** कहलाते हैं। कुछ प्रमुख श्रौतयाग निम्नलिखित हैं– **दर्श, पौर्णमास, सोमयाग, वाजपेय, राजसूय, सोत्रामणी, अश्वमेधादि**। इन्हीं श्रौतयज्ञों के विधानों एवं नियमों का संग्रह **श्रौतसूत्रों** में उपलब्ध होता है।

(ब) **गृह्यसूत्र–** गृह्याग्नि साध्य यज्ञों, विवाहादि संस्कारों तथा शाला निर्माण एवं कृषि कर्मों के विधान का संग्रह ग्रन्थ **गृह्यसूत्र** के नाम से विख्यात है। इनमें **षोडश संस्कार, पञ्चमहायज्ञ, सप्त पाकयज्ञ, गृह निर्माण, गृह प्रवेश, पशु-पालन, रोग विनाशक** विधियों का विवेचन उपलब्ध होता है।

(स) **धर्मसूत्र–** ये भारतवासियों के सर्वप्राचीन न्याय ग्रन्थ हैं। इनमें आध्यात्मिक एवं धार्मिक नियमों के सन्देश प्राप्त होते हैं। इनमें **नीति, धर्म, रीति, प्रथाओं, चार वर्णों, चार आश्रमों** आदि के कर्तव्यों एवं सामाजिक व्यवहारोपयोगी नियमों का वर्णन है।

(द) **शुल्ब सूत्र–** इन सूत्र-ग्रन्थों का वैज्ञानिक महत्त्व है। क्योंकि इनमें आर्यों की पुरातन ज्यामितीय कल्पनाओं एवं गणनाओं का प्रतिपादन है। प्राचीन भारतीय ज्यामिति के विकास की जानकारी इन ग्रन्थों से पता चलती है। इनमें यज्ञ-वेदी से सम्बद्ध नाप तथा वेदी निर्माण के नियमों का विवेचन है।

उपसंहार:–

इस प्रकार उपर्युक्त समस्त रचनाएँ वैदिक हैं। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य किसी एक काल की निश्चित अवधि की देन नहीं है। यह तो अतिदीर्घकाल में उपलब्ध गीति-संग्रहों, प्रार्थना-ग्रन्थों, आध्यात्मिक एवं पारमार्थिक निबन्धात्मक धार्मिक रचनाओं का समूह है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की विभिन्न विधाओं एवं ग्रन्थों में स्वयं में पर्याप्त भिन्नता होते हुए भी वह एकता के प्रशंसनीय आदर्श का उत्कृष्ट उदाहरण है। आर्यजनों ने सदैव वेदों को ''श्रुति'' की संज्ञा से सम्बोधित किया है। इसका कारण है कि संहिताओं की रचना तथा अध्ययन नहीं किया गया है, अपितु उच्चारण एवं श्रवण किया गया है। भारतीय दर्शनशास्त्र के अनुसार ऋग्वेद से लेकर उपनिषद् तक आद्योपान्त वैदिक साहित्य ईश्वरीय सम्पत्ति है जिसे प्राचीन महर्षियों ने अपने ध्यान-नेत्रों से प्रत्यक्षीकृत किया है। भारतीय दर्शन की विभिन्न विचारधाराएं परस्पर सैद्धान्तिक रूप से भले ही कितनी भेदयुक्त हो, किन्तु वेदों को सभी समान आदर

प्रदान करती हैं। भारतीय दर्शन में किसी भी विचारधारा की आस्तिकता अथवा नास्तिकता का निर्धारण ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करने अथवा न करने से नहीं होता, बल्कि वेदों की प्रामाणिकता को मानने अथवा न मानने से होता है। वेदों के "प्रामाण्य" को स्वीकार करने वाली विचार पद्धति "आस्तिक" तथा वेदों के "प्रामाण्य" को अस्वीकार करने वाली विचार पद्धति 'नास्तिक' कहलाती है। सर्वाधिक आश्चर्यजनक एवं महत्त्वपूर्ण विषय तो यह है कि बौद्ध जो कि नास्तिक हैं क्योंकि वे वेदों के प्रामाण्य को नहीं मानते, वे भी वेदों को परब्रह्म द्वारा प्रदत्त अथवा प्रणीत मानते हैं। जिस व्यक्ति, विषय अथवा ग्रन्थ को उसके विरोधी भी आलौकिक स्वीकार करें, इससे अधिक गौरव की बात, उसके लिए दूसरी क्या हो सकती है। वेदों के साथ ऐसा ही है।

द्वितीय

वेदों का महत्त्व

वैदिक वाङ्मय विश्व का प्राचीनतम वाङ्मय है। यह वाङ्मय अत्यन्त प्राचीन होते हुए भी अपना अनुपम वैशिष्ट्य रखता है। यह समस्त सत्यज्ञान की अप्रतिमराशि एवं विश्व के ग्रन्थागार में सर्वप्राचीन ग्रन्थ है। वह भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का प्राण है। मानव सभ्यता के विकास के अति प्राचीन काल से ही वेद की शिक्षाएं मानव मात्र को असत् से सत् की ओर प्रेरित करती रही हैं। वैदिक-मन्दाकिनी की सुधाधारा में अवगाहन कर हृदय को परम शान्ति प्राप्त होती है। यह युगों में प्रवाहित होने वाली वह पवित्र अक्षुण्ण ज्ञान-धारा है जो कि अनेक संक्रमण-व्युतक्रमणों को पार करती हुई आज भी अपने अनवद्यवपु के द्वारा बहती चली आ रही है। यह भारत ही नहीं अपितु समस्त विश्व के मानव हृदय का प्रतिनिधित्व करने वाली, परम शान्ति प्रदान करने वाली वह दिव्य ज्योति है जिससे आलोकित मानव को अपने कर्मपथ का ज्ञान होता है। भारत तथा भारतीयता से स्नेह रखने वाले सुधीजन जिसे सम्मान की दृष्टि से देखते हुए जिसके उपदेश पीयूष का पान कर उस दिव्य स्वर्गस्थ पीयूष की कामना नहीं करते, उस विश्व विश्रुत भगवती श्रुति की उपासना से ही भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन आदि का तात्त्विक अनुशीलन किया जा सकता है। भारत की समस्त मौलिक ज्ञान-विज्ञान की निधि इसी में विद्यमान है। भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, सभ्यता, ललित साहित्य, विधिशास्त्र, अर्थशास्त्र, स्थापत्य, गणित, फलित, विज्ञान, इतिहास, कलाएँ आदि सबका आदिस्तोत्र वैदिक वाङ्मय ही है। भारत के मौलिक रूप के दर्शनार्थ वैदिक वाङ्मय का अध्ययन अनुशीलन अत्यावश्यक है।

आर्य जाति की वेदों के प्रति अपूर्व आस्था है। पृथ्वी के किसी भी स्थान पर निवास करने वाला हिन्दू अपने धर्म और संस्कृति का मूलतत्त्व वेदों को ही मानता है। धार्मिक पर्वो तथा संस्कारों के समय पर हिन्दुओं के घरों में आज भी सादर वेदमन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। वेद मन्त्रों के उच्चारण को सुनकर हिन्दू जाति आज भी गौरव का अनुभव करती है। यद्यपि भारत में अनेक मतमतान्तर प्रचलित हैं, परन्तु उन सभी ने अपने मत का आधार वेदों को ही माना है। इस प्रकार वेदों की महत्ता सर्वातिशायी सिद्ध होती है। महर्षि मनु लिखते हैं—

''वेद एव द्विजातीयानां नि:श्रेयस्करः परम्''

अर्थात् मानव मात्र के लिए वेद ही एकमात्र सुख का साधन है। इसका अध्ययन पाँच प्रकार से होता है। जैसा कि लिखा गया है—

'वेदस्वीकरणं पूर्व विचारोऽभ्यसनं जपः।
तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासोहि पञ्चधा।।'

अर्थात्- (१) वेद पढूँगा, यह निश्चय करना।
(२) वेदार्थ का विचार।
(३) वेदमन्त्रों का अभ्यास या पाठ।
(४) शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा वेद का अध्यापन।
(५) वेदमन्त्रों का जप।

इस प्रकार वेदाध्ययन करने वाले मानव द्विज कहलाए। वेदों को महर्षि मनु ने सर्वज्ञानमय तथा समस्त विधाओं का आधार एवं स्रोत माना है—

'यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हिं सः।।'

मनु का मत है कि वेदों द्वारा ही तीनों काल के रहस्य को जाना जा सकता है-

'भूतं भव्यं भविष्यच्च, सर्व वेदात प्रसिध्यति।'

चाणक्य तथा महर्षि दयानन्द ने राजा के मंत्री को वेदवित् होना चाहिए, यह स्वीकार किया है। अतएव वेदभक्त कहलाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को स्वाध्याय करना आवश्यक है। यही तो इस स्वाध्यायोऽध्येतव्यः मीमांसक प्रोक्त घोषणा का आशय है। अपि च—

''वेत्ति यो विविधान् वेदानधीते च यथाविधिः।
स्वधर्मनिरतो विप्रो वैदिकः परिकीर्तितः।।''

तथा—

''ये साङ्गवेदान् विधिवद् विदन्ति, ते ब्राह्मणाः वैदिकनामधेयाः।
वेदेन हीनाः यदि केऽपि सन्ति, ते शूद्रतुल्या भुवि सञ्चरन्ति।।''

इस प्रकार वैदिक मतानुसार सृष्टिकाल के आदि में प्रकट हुए वेदों का आविर्भाव काल भी सृष्टिकाल के समान है। अतः मनु का कथन है—

'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वम् अनुज्ञातः स्वयम्भुवा।।'

अतः जब वेदों का इतना महत्त्व है तो तन्मूलक स्मृत्यादि का भी महत्त्व स्वयंसिद्ध है। अब हम भिन्न-भिन्न दृष्टियों से वेदों की महत्ता को प्रस्तुत कर रहे हैं—

(अ) धार्मिक दृष्टि से महत्त्व :- वेदों का सर्वाधिक महत्त्व धार्मिक दृष्टि से है। वेद हिन्दू धर्म के मूल स्रोत हैं। वेदों का आधार लेकर ही समस्त हिन्दू धर्म से सम्बन्धित ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। 'मनुस्मृति' में लिखा भी है— **'वेदोऽखिलोधर्ममूलम्'** अर्थात् वेद धर्म सभी धर्मों के मूल हैं। वे भारतीय ही नहीं, बल्कि संसार के सभी धर्मों के आदि स्रोत हैं—

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ (मनु० २.७)

धर्म के तत्त्व को जानने के इंच्छुक सामान्य जनों के लिए वेद परम प्रमाण के रूप में मान्य हैं— **''धर्म जिज्ञा समानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः''** (मनु २.१३) लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक जी ने कहा है कि हिन्दू धर्म का लक्षण ''केवल वेदों को प्रमाण रूप में स्वीकार करना है''— **'प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु'**। डॉ० सम्पूर्णानन्द के अनुसार ईश्वर की सत्ता न स्वीकार करने वाला हिन्दू संभव है, किन्तु वेद की सत्ता को नकारने वाला 'हिन्दू' सम्बोधन का अधिकारी नहीं।

इसी कारण महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कामना न करते हुए छः अङ्गों सहित वेदों का अध्ययन ब्राह्मणों के लिए आवश्यक कहा है— **''ब्राह्मणेननिष्कारणो धर्मः षडङ्गने वेदोऽध्येयोज्ञेयश्च''** (महाभाष्य) वेदों में हिन्दूओं के देवी-देवताओं, उनके स्वरूप तथा गुणों, उनकी शक्तिसम्पन्नता, उनकी पूजा तथा सेवा का महत्त्व तथा उनसे उपलब्ध होने वाले लाभादि समस्त धार्मिक तत्त्वों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। मनु का कथन है कि वेदों के अतिरिक्त शास्त्रों का परिश्रमपूर्वक अध्ययन करने वाला ब्राह्मण जीवित शूद्र है—

''योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वभाशु गच्छति सान्वयः॥'' (मनु : २.१६८)

और भी—

''आर्षधर्मोपदेशं च वेदशास्त्रविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धते स धर्म वेद नेतरः॥''(मनु. १२.१०६)

हिन्दू धर्मरूपी महल की आधारशिला 'यज्ञ' है तथा यज्ञ के अनेक प्रकार तथा उनके विधान हेतु आवश्यक मन्त्रादि का विवेचन वेदों में उपलब्ध होता है। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार तो धनादि से परिपूर्ण पृथ्वीदान के कर्म से होने वाली फलप्राप्ति

वेदों के अध्ययनशास्त्र से ही हो जाती है। वेदों के अध्ययन से अक्षय्य लोक की उपलब्ध होती है–

''यावन्तं हैवे इमां पृथिवी वित्तेन पूर्णांददतु लोकं जयति, त्रिमिस्तावन्तं जयतिः भूयांस च अक्षय्य च एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्ये तव्यः'' (शत. ११.५.६१)।

आर्यधर्म में यज्ञ की प्रधानता है। वेद इस विश्व के मूल में यज्ञ की भावना को स्वीकार करता है। ऋग्वेद के दशम मण्डलानुसार यज्ञमहिमा अपूर्व है– ''यज्ञ द्वारा ही सब कुछ वर्णित है।'' गीतानुसार भी यह सृष्टि, यह रचना, यह प्रजा, यज्ञ के साथ ही उत्पन्न हुई है। प्रजापति विश्वरूपी यज्ञ का याजक, होता, अध्वर्यु तथा पुरोहित है। **अथर्व** संहितानुसार भी सृष्टि का उद्गम-स्थल **यज्ञ** है। **शतपथ ब्राह्मण** में भी यज्ञ को उत्तम-कर्म स्वीकार करके **प्रजापति** तथा **विष्णु** का रूप कहा गया है।

शरीर भी यज्ञ रूप है, जिसमें चक्षु, श्रोत्र, मुख, वाणी, मन आदि भाग ले रहे हैं। मन–यजमान, चक्षु–होता, प्राण–उद्गाता, श्रवण–अध्वर्यु तथा वाणी–ब्रह्मा का रूप है। वेद के अनुसार– ''**इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा।**'' तथा ''**स्विष्टिनस्ता कृष्णवद विश्वकर्मा।**'' विश्वकर्मा ने ही इस यज्ञ का विस्तार किया। वही हमारी दुरिष्टियों को स्विष्टियों में परिणित कर सकता है। यज्ञ की भावना सहयोग, सौहार्द तथा संस्कृति की जननी है। यज्ञ के द्वारा हम अहिंसा, दान और ज्ञान का प्रसार करते हैं। समाज का सम्पूर्ण कंकाल इसी प्रसार पर अवलम्बित है। यज्ञ के द्वारा ही हम उस परम यज्ञ स्वरूप प्रभु के पास पहुँचते हैं, जिसने सृष्टि को यज्ञ के साथ ही उत्पन्न किया था। उसी ने हम सबको आदेश दिया था कि हम इसी यज्ञ प्रणाली द्वारा अभ्युदय में संलग्न हों। यही यज्ञ हमारे लिए **कामधेनु** है। गीतानुसार यज्ञ द्वारा ही हम दिव्य-शक्तियों को भावित तथा प्रसन्न करते हैं, इसीलिए देव भी हमें प्रसन्न करते हैं। इस प्रकार परस्पर भावित होते हुए हम सब कल्याण को प्राप्त करते हैं। अतः यज्ञ श्रेष्ठ कर्तव्य माना जाता है।

याज्ञिक विधान के अतिरिक्त वेदों में नैतिक मूल्यों का भी अत्यधिक महत्त्व है। धर्म का मेरुदण्ड नैतिकता, सद्गुण तथा सदाचरण आदि हैं। इन सबका वेदों में विपुल वर्णन उपलब्ध होता है। अतः नैतिक दृष्टि से भी वेदों का अत्यन्त महत्त्व है।

(ब) सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्व :– सांस्कृतिक तथा सामाजिक दृष्टि से भी वेदों का महत्त्व अपार है। अनेक सामाजिक संस्थाओं के निर्माण तथा नामकरण का श्रेय वेदों को प्राप्त है। मनुस्मृति के अनुसार–

''सर्वेषां तु स नामानि, कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ, पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥''

वैदिक संस्कृति के विषय में डॉ० आर० के० मुखर्जी का कथन है कि The Ṛgvedic civilization was based on plain living and high thinking

यह जानकारी वेदों से ही प्राप्त हुई है। सामाजिक जीवन, वर्ण व्यवस्था, व्यक्ति का संस्कार, परिवार अथवा कुटुम्ब का निर्माण, विवाह संस्था, आश्रम व्यवस्था, स्त्रियों की स्थिति, **दासप्रथा**, शिक्षा, नियमित **यौनसम्बन्ध**, सामाजिक आचार तथा व्यवहार, स्वजनों के प्रति कर्तव्य-भावना, सामयिक **दायित्वबोध**, निवास, भोजन, पेय, वस्त्र, नागरिकता की दृढ़ **आधारभूमि** तथा अन्य सांस्कृतिक एवं सभ्यता विषयक तत्त्वों के उद्‌गम तथा विकास की जानकारी के लिए वेद श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। इस विषय में पं० बलदेव उपाध्याय का कथन उचित ही है– ''यदि हम जानना चाहते कि हमारे पूर्वज किस प्रकार अपना जीवन बिताते थे, कौन क्रीड़ाएँ उनके मनोरंजन की साधिका थीं, किस प्रकार उनका **विवाहसम्बन्ध, देहसम्बन्ध** का ही प्रतीक न होकर **आध्यात्मिकसंयोग** का प्रतिनिधि माना जाता था, किन देवताओं की वे उपासना किया करते थे, किस प्रकार वे प्रातः काल प्राची के मुखमण्डल को उजागर करने वाली **पुराणी युवति** उषा की सुनहली छटा में अग्नि में आहुति प्रदान किया करते थे, किस तरह आवश्यकतानुसार वे इन्द्र, वरुण, पूषा, सविता तथा पर्जन्य की स्तुति अपने ऐहिक कल्याण तथा आमुष्मिक मंगल की साधना के लिए किया करते थे, तो हमारे पास एक ही साधन है, **वेदों का गाढ़ अनुशीलन–श्रुतियों का गहरा अध्ययन।''** अपनी बात को सबल तर्कों के साथ सिद्ध करते हुए उपाध्याय जी आगे कहते हैं कि– **''ये आर्यों के ही नहीं, प्रत्युत मानव जाति के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। मानव जाति के प्राचीन इतिहास, रहन-सहन, आचार-व्यवहार की जानकारी के लिए भी उतने ही उपादेय तथा आदरणीय हैं। वेद मानव जाति के विचारों को लिपिबद्ध करने वाले गौरवमय ग्रन्थों में सबसे प्राचीन माने जाते हैं। अतः अतीव अतीत काल में मानवों के व्यवहार तथा विचार का पता इन अमूल्य ग्रन्थों की पर्यालोचना से भली भाँति लग सकता है।''**

वेदों का **सांस्कृतिक-महत्त्व** इसलिए भी अधिक है, क्योंकि वैदिक संस्कृति सदाचार को जितना महत्त्व प्रदान करती है, उतना अन्य उपादानों को नहीं। व्यक्ति चाहे अद्वैतवादी हो चाहे द्वैतवादी, यदि व्यक्ति सदाचारी नहीं है, तो उसका अद्वैतवादी या द्वैतवादी होना निरर्थक है, वह तो बालू में से तेल निकालने के समान है। यदि व्यक्ति सदाचारी है, तो ईश्वर में अविश्वास या विश्वास का प्रश्न उठेगा ही नहीं। वेद के

शब्दों में "**ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः**" दुराचारी ऋत (सत्य) के पन्थ को पार कर ही नहीं सकता। सदाचारी व्यक्ति ही 'ऋतपथ' का अनुगामी है और जो ऋतपथ पर चल रहा है वह एक दिन उसे पार कर ही जायेगा तथा प्रभु का समीप्य ग्रहण कर ही लेगा। वैदिक संस्कृति में ऋत या सदाचार का नियम महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि संस्कृति रूपी जीवन की नींव वेद हैं।

(स) ज्योतिष ज्ञान की दृष्टि से महत्त्व :- वेद की प्रवृत्ति यज्ञ के सम्पादन के लिए है। यज्ञ का विधान विशिष्ट समयों की अपेक्षा रखता है। **यज्ञ याग** के लिए समय शुद्धि की बड़ी आवश्यकता रहती है। इसीलिए वैदिक आर्यों का **ज्योतिष ज्ञान** बहुत बढ़ा-चढ़ा था। नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु तथा सम्वत्सर—काल के समस्त खण्डों के साथ यज्ञ याग का विधान वेदों में पाया जाता है। जो व्यक्ति ज्योतिष को भली प्रकार से जानता है, वहीं यज्ञ का वास्तविक ज्ञाता है। ज्योतिष शास्त्र के मुख्यताः दो भेद हैं— (१) गणित ज्योतिष (२) फलित ज्योतिष।

गणित ज्योतिष– ऋग्वेद तथा यजुर्वेद दोनों में समान रूप से गणित ज्योतिष का विवेचन उपलब्ध होता है। गणित के योग-वियोग का आधार यजुर्वेदान्तर्गत निम्नलिखित मन्त्र में दृष्टव्य है—

'एकया च दशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यामिष्टये विंशती च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च नियुद्भिर्वायविह ता विमुञ्च॥'

(यजु० २७/३३)

उपर्युक्त मन्त्र में 'विमुञ्च' शब्द द्वारा वियोग प्रक्रिया स्पष्ट होती है। गुणन-प्रक्रिया के लिए निम्नलिखित मन्त्र प्रस्तुत किया जा सकता है—

"**युवां देवात्रयः एकादशासः सत्यस्यददृशेपुरस्त्रात।**" (ऋ० १०.५७.२)

अर्थात् (देवां) दिव्य गुणों को वहन करने वाले ११×३ = ३३ (सत्याः) सद्गुणों से सम्पन्न है। यजुर्वेद के एकमन्त्र **चतस्त्रश्चमे** से वर्ग प्रक्रिया पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है जैसे— २×२ = ४ होता है। वेदों में इकाई, दहाई, सैकड़ा आदि के प्रयोग से योग-वियोगादि का दर्शन उपलब्ध होता है। हमारे वेदज्ञों की संख्या-गणित की अनेक प्रक्रियाएँ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा ग्रहण कर ली गई। ऋक् संहिता (८/५६/२२) में हजार की संख्या का अंकन है। बीज-गणित तथा रेखा-गणित के नियमों तथा उपयोग की जानकारी वेदों से प्राप्त होती है। यज्ञीयस्तम्भादि के निर्माण में रेखा गणित का विशेष महत्त्व है। जैसे—

रेखा गणित– इयं वेदिः परोअन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।

उपर्युक्त मन्त्र से वृत्त के व्यास तथा परिधि की परिभाषा का भी परिज्ञान होता है। यथा— यज्ञवेदी के पृथ्वी का चारों ओर का घेरा **परिधि** कहलाता है।

व्यास– यज्ञवेदी को ऊपर से अन्त तक संयुक्त करने वाली रेखा ''व्यास'' कहलाती है।

फलित ज्योतिष के परिज्ञान की दृष्टि से भी **वेद** अत्यन्त महत्त्वशाली हैं क्योंकि वेदों में फलित-ज्योतिष सम्बन्धी विवेचन भी पर्याप्त मात्रा में किया गया है। यजुर्वेद के मन्त्र **''आकृष्णेन रजना वर्तमानो निवेशियन्न''** से सूर्य के क्रान्तिवृत्त में गतिशील होने का पता चलता है। **क्रान्तिवृत्त** सूर्य का मार्ग है। इसके १२ भाग कर लिए गए हैं। यही बारह भाग ही बारह राशियाँ हैं। इसके अतिरिक्त वेदों में अन्य ग्रहों का भी विवेचन है। जैसे— **'शुक्राङ्गारक बुध बृहस्पति शनैश्चर राहु केतु सोम सहित आदित्यः पुरोगाः ग्रहाः प्रीयन्ताम्।'** सूर्य चन्द्र के सदृश ही बृहस्पति तथा शुक्र को भी महत्त्वपूर्ण देव माना गया है। यजुर्वेद में **राहु** की स्तुति उपलब्ध होती है। इसी प्रकार नक्षत्रों तथा मुहुर्त आदि की भी पर्याप्त चर्चा वेदों में की गई है। आर्द्रा से द्वादश नक्षत्र वृष्टि के कारण होते हैं— **द्वादश धून्यदगोह्यस्याऽऽतिथ्येरणन्नृभवः ससन्तः।** (ऋ० ४.३३.७)। वेदों में शुभ नक्षत्रों के विधान का भी विवेचन है। वेद में सूर्याकर्षण के बल पर क्षितिज में नक्षत्र का वर्णन उपलब्ध होता है— **''तिस्रोद्यावः सवितुर्द्वा उपस्थांएका यमस्यभुवने विराषाट्। अणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतुयतच्चिकेतत्।** (ऋ० १.३५.६)'' वेदों में बीज रूप में विद्यमान ज्योतिष के तीनों स्कन्धों, **सिद्धान्त, गणित** तथा **फलित** का विकास बाद के युग में हुआ।

(द) दार्शनिक दृष्टि से महत्त्व :– वेदों की दार्शनिक दृष्टि से भी महत्ता अत्यन्त व्यापक है। **वेद** ही समस्त भारतीय दर्शन का मूल स्रोत्र है। भारतीय दर्शन की विभिन्न विचारधाराओं का उद्गम स्थल **वेद** है। प्रत्येक विचारधारा के प्रमुख सिद्धान्तों का बीज वेदों में विद्यमान है। सभी भारतीय आस्तिक दर्शन तो अपना मूल वेद को स्वीकार करते ही हैं, साथ ही साथ नास्तिक दर्शन भी वैदिक विचारधारा को आधार रूप में ग्रहण करके अपने सिद्धान्तों की विवेचना करते हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार— **'तद्वचनादाम्नायस्थ प्रामाण्यम्'** (वै०सू० १.१.३)। आचार्य वाचस्पति मिश्र का कथन है कि महाप्रलय में नित्य सर्वज्ञ परमेश्वर वेद का प्रणयन कर सृष्टि के आदि में स्वयं ही सम्प्रदायों का प्रवर्तन करते हैं— **''महाप्रलये तु ईश्वरेण वेदान् प्रणीय सृष्ट्यादौ स्वयमेव सम्प्रदायः प्रवर्त्यत एवेतिभावः''** (न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका)। बौद्ध दर्शन के आविर्भाव के पूर्व ही वैदिक साहित्य का प्रणयन हो चुका था, अतः इस दर्शन के निरूपण में भी वेदों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस विषय पर पं०

बलदेव उपाध्याय जी का विचार है कि– "श्रुतियों की सहायता से ही भारतीय दर्शनों के विविध विकास को हम भली-भाँति समझ सकते हैं। उपनिषदों में समग्र आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन के तत्त्वों की बीजरूपेण उपलब्धि होती है। यदि **'नेह नानास्ति काञ्चन,'** अद्वैत तत्त्व का बीजरूप से ही सूचक है, तो **श्वेताश्वतर** में वर्णित **'लोहितकृष्णशुक्लां अजां'** सांख्याभिमत सत्त्वरजतमोमयीत्रिगुणात्मिका-प्रकृति के प्रतीक हैं। यदि हम रामानुज मत के **विशिष्टाद्वैत**, निम्बार्क के **द्वैताद्वैत**, मध्वाचार्य के **द्वैत**, वल्लभ के **शुद्धाद्वैत**, चैतन्य के **अचिन्त्य भेदाभेद** के रहस्योद्घाटन के अभिलाषी हैं, तो उपनिषदों का गम्भीर अध्ययन, मनन तथा पर्यालोचन अनन्य साधन है।" वस्तुतः उपनिषदों में भी वैदिक तत्त्वों का ही वर्णन तथा व्याख्या है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से भी वेद महिमामय हैं।

(क) साहित्यिक दृष्टि से महत्त्व :- साहित्यिक-सौन्दर्य की दृष्टि से वेदों का अध्ययन अपरिहार्य है। औपम्यगर्भ-अलंकारों के अकृत्रिम रूप, सहज-नाद तथा साम-सौन्दर्य, छन्दों के लयात्मक तथा गत्यात्मक निखार का अनुशीलन वेदों के माध्यम से ही हो सकता है। डॉ० वी० राघवन ने अपने ग्रन्थ 'इण्डियन हेरीटेज' में वैदिक काव्यगत विशेषताओं का मार्मिक विवेचन किया है— The literary merits of vedic poetry are quite conspicuous. In handling metre or language, in the expression of striking fancies or telling similies, in graphic descriptions of natural phenomena as in hymns to dawn and night or in the embodiment of abstractions and speculative conceptions as in the cosmogonic hymns and even in the introduction of verbal assonances, the Vedic Ṛṣi shows him definitely a poet and an able one at that :

वेद के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को **कवि** की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है। इन कवियों ने ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ऋचाओं का प्रणयन किया। इस प्रकार कवि की भावमयी वाणी ने बल व तेज का संचार किया जिससे दक्षता तथा कर्मण्यता की प्रेरणा मिलती है। मनुष्य उसे श्रवण कर संकीर्णता का पर्दा फाड़ कर विशालता तथा उदारता में रमण करने लगते हैं। यथा—

"सोमं गावो धेनवो वावशानाः सोमं विप्रा मतिभिः पृच्छमानाः।
सोमः सुतः ऋच्यते पवमानः सोमे अर्काः त्रिष्टुभः सं नवन्ते॥"

अर्थात्— "दुधारू गायें रम्हाती हुई जैसे बछड़े की ओर जाती है, वैसे ही विप्र, व्यापक ज्ञान वाले ब्राह्मण अपनी मतियों द्वारा पूँछते हुए, खोज करते हुए, सौम्य कवि

के पास जाते हैं। उस समय प्रकट हुआ वेगवान, पवित्र भावों से वर्धमान कवि पूजा जाता है, स्तुति-भाजन बनता है।'' इस प्रकार त्रिष्टुप् छन्द में बँधे हुए जितने भी स्तुति गान हैं, वे सब काव्यात्मक सौन्दर्य से मण्डित हैं। वेदों के अनेक मन्त्रों में **रसों** का सुन्दर परिपाक हुआ है। प्रतिपक्षियों से संघर्ष में वीर-रस का तथा **पुरुरवा-उर्वशी संवाद** तथा **यमयमी संवादों** में शृङ्गार रस का आभास मिलता है। इन्द्र की स्तुति में वीररस का विशद संकेत किया गया है—

> यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
> यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः।।
>
> (ऋ० २/१२/९)

''इन्द्र के बिना मनुष्य विजय प्राप्त नहीं कर सकता। योद्धा लोग अपनी रक्षा के निमित्त उसे पुकारते हैं। वह इस विश्व से श्रेष्ठ है। वह च्युत न होने वाले लोगों को च्युत कर देता है, क्योंकि वह शौर्य तथा वीर्य का प्रतीक है।''

पुरुरवा के प्रेम-प्रसंग में विरह से दुःखी पुरुरवा के कथन में **विप्रलम्भ शृङ्गार** का उत्कृष्ट निदर्शन है—

> इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः।
> अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः।।३।।
>
> (ऋ० १०/९५/३)

''हे उर्वशी, मेरा बाण तरकस में फेंके जाने में असमर्थ होकर लक्ष्मी को नहीं प्राप्त कर पाता। अतः वेग से युक्त होकर मैं शत्रुओं की गायों को भोक्ता नहीं हो पाता। यज्ञकर्म में या शक्तिमान कार्य में मैं प्रकाशशील नहीं होता। मेरे योद्धा, विस्तार वाले युद्ध में मेरे सिंहनाद का श्रवण नहीं कर पाते।''

अलङ्कार – वैदिक कार्य में अलंकारों का भी यथोचित प्रयोग उपलब्ध होता है। अलंकारों का कहीं भी खींच-तान कर प्रयोग नहीं हुआ है वे सर्वत्र स्वाभाविक रूप से उपस्थित हुए हैं। वैदिक कवियों का प्रिय अलंकार **उपमा** है—

> अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
> जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः।।
>
> (ऋ० १/१२४/७)

'उषा कभी भातृरहित बहन के सदृश अपने दायभाग को ग्रहण करने के लिए

पितृस्थानीय सूर्य के समीप जाती है, तो कभी वह रमणीक वस्त्र धारण करके पति को अपने प्रेम पाश में आबद्ध करने के लिए मचलने वाली सुन्दरी के समान पति के सम्मुख स्वसौन्दर्य को प्रकट करती है।'

छन्द :- वैदिक ऋषियों की वाणी छन्दों के रूप में प्रकट हुई। इसीलिए वैदिक ऋषियों की दृष्टि में छन्दों का अत्यधिक महत्त्व था। ऋग्वेद में (१०-११४/५) 'छन्दांसि' शब्द आया है। यजुर्वेद ४-२४, ८-४७, १२-५, १३-५३ आदि कई स्थलों पर छन्द शब्द ही नहीं, छन्दों के नामों तक का उल्लेख हुआ है। गायत्री छन्द, त्रिष्टुप छन्द, जगती छन्द, अनुष्टुप छन्द आदि प्रसिद्ध छन्दों के अतिरिक्त यजुर्वेद १४-९, १०-१८ में मा, प्रमा, पंक्ति, उष्णिक्, बृहती, विराट् तथा १५-४-५ में वरिवः, शंभु, परिभू, ककुप, काव्य, अक्षर-पंक्ति, पद-पंक्ति, विष्टार-पंक्ति आदि अनेक छंदों के नाम आते हैं।

इस प्रकार वैदिक ग्रन्थों का साहित्यिक महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। वैदिक छन्द भारतीय काव्यउपवन के आदि प्रसून हैं। किन्तु, इसके साथ यह भी ध्यातव्य है कि लौकिक साहित्य से वैदिक साहित्य की चारुता नितान्त भिन्न प्रकार की है।

(ख) भाषा विज्ञान की दृष्टि से महत्त्व :- भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए भी वेद अत्यन्त महत्त्वशाली है। वैदिक साहित्य में भाषा के उद्भव तथा विकास को जानने के लिए विपुल सामग्री विद्यमान है। आधुनिक भाषा विज्ञान का उद्भव ही तब हुआ, जब विदेशी विद्वानों ने वेदों के विषय में जानकारी प्राप्त की। विश्ववाङ्मय में शायद **शतपथ ब्राह्मण** ही स्वराङ्कित गद्य का उदाहरण प्रस्तुत करता है। भाषा के साथ बलाघात के साहचर्य की आवश्यकता के अध्ययन हेतु इससे श्रेष्ठ क्षेत्र मिलना सम्भव नहीं। मानवीय सभ्यता तथा संस्कृति के विकास में भाषा विशेष महत्त्वपूर्ण रही है। सभ्यता के साथ ही भाषा के विकास के लिए वैदिक वाङ्मय का अध्ययन अत्यावश्यक है। श्री T. Burrow ने अपने ग्रन्थ The Sanskrit Language में लिखा है— 'The discovery of the Sanskrit Language by European Scholars at the end of the eighteenth century was the starting point from which developed the study of the comparative philology of the Indo-European languages and eventually the whole science of modern linguistics.'

आधुनिक भाषा तत्त्व का समस्त विज्ञान संस्कृत भाषा के ऊपर अवलम्बित है। अठ्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में पश्चिमी विद्वानों के द्वारा संस्कृत भाषा का अन्वेषण ही ऐसा बिन्दु था जहाँ से भारोपीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा विज्ञान के अध्ययन का श्रीगणेश हुआ था तथा पुनः इसी से समस्त आधुनिक भाषा विज्ञान का जन्म हुआ।'

संस्कृत के पूर्व यूरोपीय भाषाशास्त्रियों में आदिम भाषा के सम्बन्ध में मतवैभिन्य था। कोई ग्रीक को, कोई लैटिन को, कोई हिब्रू को विश्व की प्राचीनतम भाषा स्वीकार करता था। संस्कृत के ज्ञान होने के साथ ही इस विवाद का समापन हो गया। सभी आर्य-भाषा को विश्व की प्राचीनतम भाषा मानने लगे।

पं० बलदेव उपाध्याय जी ने संस्कृत शब्दों के अर्थ परिवर्तन के कारण स्वरूप के विषय में विशेष सामग्री प्रस्तुत की है। उनका कथन है– ''वैदिक भाषा की लौकिक भाषा के साथ तुलना करने पर अनेक मनोरंजक बातें दृष्टिपथ में आती हैं। भाषाशास्त्र का यह एक सामान्य नियम है कि भौतिक अर्थ में व्यहृत होने वाले शब्द कालान्तर में आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं। पार्थिव जगत् से हटकर वे सुदूर मानसिक जगत् की वस्तुओं की सूचना देते हैं। वेद इस विषय में बहुत से रोचक उदाहरण उपस्थित करता है। इन्द्र की स्तुति के प्रसङ्ग में गृत्समदऋषि की अन्तःदृष्टि पुकार कर कह रही है– **''यः पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णत्''** अर्थात् इन्द्र ने चलायमान पर्वतों को स्थिर किया। यहाँ कुप् तथा रम् धातु के प्राचीन अर्थ का ऊहापोह भाषादृष्टि से नितान्त उपदेशप्रद है। कुप् धातु का मौलिक अर्थ है भौतिक संचलन और रम् धातु का अर्थ है स्थिरीकरण, चञ्चल पदार्थ को निश्चल बनाना। कालान्तर में इन धातुओं ने अपनी दीर्घ जीवन यात्रा में पलटा खाया। सबसे अधिक मानसिक विकार उस दशा में उत्पन्न होते हैं जब हम क्रोध के वशीभूत होते हैं। हम उस दशा में अपने मन के भीतर विचित्र प्रकार की प्रखर चञ्चलता का अनुभव पद्-पद पर करते हैं। अतः अर्थ की समता के बल पर ''कोप'' शब्द भौतिक जगत् से ऊपर उठकर मानस स्तर तक अनायास पहुँच जाता है। आधुनिक संस्कृत में यदि यह कहें **''कुपितोमकरध्वजः''** तो वाक्यपदीय के मन्तव्यानुसार कोप रूपी 'लिङ्ग' की सत्ता के कारण मकरध्वज से अभिप्राय ''काम'' से समझा जाता है और 'समुद्र' का अर्थ लक्षणया ही बोधित किया जा सकता है। 'रम्' का अर्थ है भौतिक स्थिरीकरण, परन्तु धीरे-धीरे इस शब्द ने भौतिक भाव को छोड़कर मानस भाव से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। खेल तमाशों में चंचल चित्त स्थिर हो जाता है, क्योंकि उसे इन वस्तुओं में एक विचित्र प्रकार के आनन्द का संचार होता है। यही कारण है कि आजकल 'रम्' का प्रयोग क्रीड़ा अर्थ में किया जाता है। प्रचलित भाषा के प्रयोगों में कभी-कभी प्राचीन अर्थ की भी झलक आ जाती है। **''क्रीडायां रमते चित्तम्''** (क्रीडा में चित्त रमता है।) यहाँ रमते का लक्ष्य स्थिरीकरण के लिए स्पष्ट प्रतीत होता है।'' अतः संस्कृत शब्दों के अर्थ-परिवर्तन के ज्ञानार्थ वैदिक साहित्य एवं भाषा का चिन्तन तथा मनन परमावश्यक है। वैदिक साहित्य तथा वैदिक भाषा के

विश्लेषण के बिना भाषा-विज्ञान सम्बन्धी जानकारी अधूरी रह जाती है।

(ग) अर्थशास्त्रीय ज्ञान की दृष्टि से महत्त्व :- अर्थशास्त्र के नियमों तथा सिद्धान्तों के निर्धारण में वेदों से अत्यधिक सहायता प्राप्त हो सकती है। वैदिक वाङ्मय में समाज में अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में समाजवाद, साम्यवाद अथवा पूँजीवाद के स्थान पर धर्मानुगत दृष्टि का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। वेदों में धन की परिभाषा, गतियाँ, विभाजन तथा विकेन्द्रीकरण के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध होती है। वेद में धन के लिए **श्री** तथा **लक्ष्मी** के अतिरिक्त वसु, अन्न, राधः, रयि आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। धन की तीन गतियाँ बतलाई गई हैं— दान, भोग तथा विनाश। यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि **''तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा''** अर्थात् त्यागमय भोग करो।

धन का एक ही स्थल पर एकत्रीकरण वेदों में अनुचित तथा असङ्गत बतलाया गया है। व्यापारी-वर्ग मनुष्य को क्षुधातुर तथा तृष्णातुर न कर सके, इस विषय पर वैदिक विद्वान् सदैव सचेष्ट दिखलाई देते हैं। अनेक स्थलों पर तथा मन्त्रों में शोषण तथा शोषकों के दमन के उपाय बतलाए गए हैं। वेदानुसार अधिक धन नाश का कारण होता है। किसी समय धन की मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि वह मनुष्य के उपभोग में नहीं आ पाती। अनुपयोग की दशा में धन मानव के पतन का कारण हो जाता है। वेद के अनुसार :—

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥

(अथर्व० ७/११५/२)

''प्रभु हिरण्यहस्त हैं। ऐश्वर्य, स्वर्ण, हितकर तथा रमणीय स्वरूप उनके करों में दीप्ति हो रहा है। वे ही इसका वितरण तथा विभाजन प्राणि वर्ग में कर रहे हैं। किन्तु जो धन जीवधारियों के पास असेवित है, उपयोग से परे है तथा अंततः पतन की ओर प्रवृत्त करने वाला है, उसे मनुष्य को स्वयं अभीप्सित व्यक्ति तथा स्थान के पास पहुँचा देना चाहिए। यह कदापि नहीं होना चाहिए कि एक व्यक्ति क्षुधाग्रस्त होकर प्राण गवाँ दे तथा दूसरी जगह अतिरिक्त धन व्यक्ति के विनाश का कारण बन जाये।''

वेदों में **पणि** नामक अर्थ पिशाच व्यापारी का वर्णन आया है, जो गो इत्यादि चल आवश्यक वस्तुओं को छिपा देता था तथा उस अभाव की स्थिति से अधिक लाभ उठाता था; इन्द्र देव ने उसके भण्डार गृहों पर आक्रमण करके आवश्यक वस्तुएँ जनसाधारण को उपलब्ध कराईं।

(घ) राजनैतिक दृष्टि से महत्त्व :- राजनैतिक दृष्टि से भी वेदों का महत्त्व न्यून नहीं है। इस दृष्टिकोण से भी वेद प्रचुर उपयोगिता से युक्त है। वेदों में युद्ध, राज्य-व्यवस्था, सैनिक एवं सेनापति के गुण, सेना की स्थिति तथा व्यूह रचना, विश्वासघाती से बचने के उपाय, विभिन्न शासन-प्रणालियों, संस्थाओं तथा सिद्धान्तों का वर्णन उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में **सभा** तथा **समिति** नामक दो विशिष्ट संस्थाओं का उल्लेख है, जो प्रजातन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है। अथर्ववेद में सामान्य जनता द्वारा राजा के चुनाव की बात कही गई है—

त्वां विशो॑ वृणतां रा॒ज्याय॒ त्वामि॒मा: प्र॒दिश॒: पञ्च॑ दे॒वीः।
वर्ष्म॑न् रा॒ष्ट्रस्य॑ क॒कुदि॑ श्रयस्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॑जा॒ वसू॑नि॥

(अथर्व० ३/४/२)

''प्रजा राजा का वरण करती है, उसका चुनाव करती है। पंच जन, पाँच प्रकार की जनता, ज्ञानी, बली, श्रमी तथा असभ्य वर्ग द्वारा निर्वाचित सम्राट राष्ट्र के सिंहासन पर सुशोभित होता है। वह उग्रता, तेजस्विता तथा वीरता से सम्पन्न होता है। राजा के पास धनागमन तो होता ही है, किन्तु वह उस धन को प्रजा की सम्पत्ति समझता है तथा जनता की भलाई के कार्यों में व्यय करता है। इस प्रकार प्रजा की सम्पत्ति, प्रजा में विभाजित होकर प्रजा को प्राप्त हो जाती है।''

यजुर्वेद (९/४० तथा १०/१८) में '**महते क्षत्राय, महते ज्यैष्ठाय, महते जान राज्याय**' शब्दों का उल्लेख है, जो प्रजातन्त्र की स्पष्ट सूचना प्रदान करते हैं। ऋग्वेद में राजा द्वारा शासन करने की विधि तथा व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है। सामान्यत: ''**त्रीणि राजानां विदथे पुरुणि**'' (ऋ० ३/३८/६), राजा राज्य की शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए तीन प्रकार की संस्थाओं का निर्माण करता है। प्रथम संस्था का कार्य आन्तरिक उपद्रवों का दमन करना तथा बाहरी हमलों से देश को बचाना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सेना आवश्यक है। द्वितीय संस्था न्याय का कार्य करती है। यह दो भागों में विभाजित है। एक में विवादों का निर्णय होता है तथा दूसरे में दोषी व्यक्ति को दिए गए दण्ड का क्रियान्वन। इस कार्य के लिए न्यायाधीश तथा रक्षक-वर्ग की नियुक्ति की जाती है। तीसरा विभाग प्रजा की शिक्षा तथा अर्थव्यवस्था का प्रबन्ध करता है। अथर्ववेद के १५वें काण्ड में ''**तं सभाच समितिश्च सेना च**'' शब्दों द्वारा ही इन्हीं तीन प्रकार की संस्थाओं का संकेत किया जाता है। प्रो० अल्तेकर, डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल, डॉ० बेनी प्रसाद, डॉ० श्यामलाल पाण्डेय आदि वेदज्ञों ने राजनीति के दृष्टिकोण से वेदों का

पर्याप्त चिन्तन, अध्ययन तथा मनन करके यह निष्कर्ष दिया कि उनमें इस विषय पर विपुल सामग्री विद्यमान है।

(च) ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व :- निःसन्देह ऐतिहासिक दृष्टि से वेदों का महत्त्व अपूर्व है। केवल भारतवर्ष के आदिकालिक ऐतिहासिक तत्त्वों के ज्ञानार्थ ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व के इतिहास के महत्त्वपूर्ण तथ्यों की जानकारी के लिए भी वैदिक वाङ्मय विशेष उपयोगी है। युद्धों, स्वअस्तित्व को स्थैर्य प्रदान हेतु किए गए संघर्षों, सम्राटों, अनेक राज्य-सत्ताओं के परिवर्तन के लिए की गई क्रान्तियों, वैचारिक विवादों आदि के विषय में उपयोगी संकेतों की वैदिक ग्रन्थों में प्रचुरता है।

(द) वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्व :- आधुनिक युग में विज्ञान विभिन्न भागों में विभक्त होकर अनेक प्रकार के अन्वेषणों से विश्व के जनमानस को आश्चर्यचकित कर रहा है। उसने पृथ्वी के बाहर तथा भीतर दोनों भागों में छिपे हुए तत्त्वों की खोज की। प्रकाश, ध्वनि तथा नवीन ग्रहों के विषय में खोज के द्वारा नवीन मान्यताएँ स्थापित की जा रही हैं, किन्तु **महर्षि दयानन्द** ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में सप्रमाण सिद्ध किया है कि वेद में विज्ञान के इन आविष्कारों का आधार विद्यमान है। इसीलिए वेदों को विद्वानों ने ''सृष्टि विज्ञान'' के नाम से अभिहित किया है। वेद में चन्द्र, मंगल, शुक्रादि ग्रहों की विशेषताएँ वर्णित हैं। यथा निम्नलिखित ऋग्वेद के मंत्र में मंगल का वैशिष्ट्य वर्णित है—

''अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्।
अपां रेतांसि जिन्वति।।

(ऋग्वेद ८/४४/१६)

मंत्र से पूर्णतया स्पष्ट है कि मंगल पृथ्वी का भाग है, आग्नेय है तथा अरुणवर्णी है। विज्ञान द्वारा भी मंगल के सम्बन्ध में यही निष्कर्ष निकाला गया है।

वर्तमान भौतिक शास्त्र की मान्यतानुसार सूर्य यदि हिरण्यगर्भ का जाज्वल्यमान अंश है, तो सूर्य के प्रस्फुटित भागों में शुक्र भी है। निम्नलिखित वेद मंत्र में भी शुक्र सम्बन्धी अनेक तथ्यों को प्रकट किया गया है-

''अन्नात् परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत् क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रिय विपानं शुक्रमन्धसऽ इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु।।''

(यजु० १९-७५)

सूर्य सौर जगत् का प्रजापति तथा सौर जगत् उसकी प्रजा है। सूर्य अपने चतुर्दिक

भ्रमण करने वाले पृथ्वी, मंगल तथा शुक्रादि ग्रहों का पूर्वज है। वह ब्रह्म के साथ पके हुए अन्न के रस को पीता है। यह **अन्न सोम** है।

यजुर्वेद का पुरुष सूक्त चन्द्रोत्पत्ति को यज्ञ पुरुष के मन से तथा सूर्योत्पत्ति को यज्ञ पुरुष के चक्षु से मानता है। चक्षु तथा सूर्य का सम्बन्ध वैज्ञानिक भी स्वीकार करने लगे हैं तथा मन का और चन्द्रमा का सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक भी स्वीकार करेंगे। वेदों में यज्ञ की प्रमुखता है। यज्ञों से ही **आयुर्विज्ञान** का प्रादुर्भाव हुआ। वेदों में अनेक औषधियाँ वर्णित है जो विभिन्न रोगों को दूर करने में समर्थ है। ऋक् संहिता (१०/९७) **औषधि सूक्त** के नाम से प्रसिद्ध है। यजुर्वेद में १२वें अध्याय में मंत्र ७५ से लेकर मंत्र १०१ तक औषधि प्रकरण है। वेद में **अश्विनीकुमार** देवताओं के वैद्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे वृद्ध को युवा तथा लंगड़े को चलने के योग्य बना सकते हैं।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आधुनिक विज्ञान के अनेक सिद्धान्त वेद सम्मत तथा वेदों की अनेक मान्यताएँ विज्ञान सम्मत हैं। अत: वैज्ञानिक दृष्टि से भी वेद विशेष महत्त्व वहन करते हैं।

(ज) तुलनात्मक देवशास्त्र तथा पुराण कथाओं के विश्लेषण की दृष्टि से महत्त्व:- वेदों के अध्ययन से इस विषय में भी पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है। अनेक पौराणिक कथाओं का बीज वेदों में निहित है। वेदों के **संवादसूक्त** अनेक पौराणिक तथा साहित्यिक कथानकों के जन्मदाता हैं। यथा— **पुरुरवा-उर्वशी** संवाद। इस संवाद का आधार लेकर **गुणाढ्य** की **बृहत्कथा** में कथा उपनिबद्ध की गई है। कालिदास कृत **विक्रमोर्वशीय** नाटक का आधार वेदों का यही पुरुरवा-उर्वशी संवाद है। **मैक्डानल, हिल्लेब्राण्डर, कीथ, सम्पूर्णानन्द** आदि के प्रयास इस प्रसंग में उल्लेखनीय है।

उपसंहार

हमारे धर्म, दर्शन, समाज, राजनीति, इतिहास, भाषा, कला, साहित्य तथा विज्ञान आदि पर वेदों का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। वेदों ने मार्गदर्शन किया तथा हम उसके द्वारा निर्दिष्ट मान्यताओं का अनुकरण करने लगे। वेद में बीज निहित है। शाखा, पत्र तथा पुष्पों में उसे पल्लवित करना मनुष्य का कार्य है। वेद के इस महत्त्व को पाश्चात्य मनीषियों ने भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है, जिनमें **मैक्समूलर, ग्रिफिथ, कोलब्रुक, राथ, मैक्डानल, पीटर्सन** आदि उल्लेखनीय हैं। **विन्टरनिट्ज** के अनुसार "If we wish to learn, to understand the beginnings of our own culture, we must go to India where the oldest literature of an Indo- European people is preserved."

मैक्समूलर जर्मनी मे उत्पन्न हुआ और इंग्लैण्ड में जाकर रहने लगा। उसने संस्कृत साहित्य का अध्ययन करके वेदों के प्रति अपनी निष्ठा को निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकट किया—

''I maintain that for a study of man, there is nothing in the world equal in importance with the 'Veda'. I maintain that to every body who cares for himself, for his ancestors, for his history or for his intellectual development, a study of Vedic Literature is indispensable.''

"To the present day India acknowledges no higher authority in the matters of religion, ceremonials, customs and law than the Veda."

वस्तुत: भारतीयों का जन-जीवन वेदों की मान्यताओं से आपूर्ण है। जन्म से लेकर देहान्त तक के समस्त भारतीय संस्कार वेद सम्मत हैं। वस्तुत: वेद हिन्दू धर्म तथा दर्शन के आशा केन्द्र हैं। हिन्दू-संस्कृति तथा सभ्यता के आधार स्तम्भ हैं। हिन्दुत्व की भावना के आलोक हैं। माननीय **रामगोविन्द जी त्रिवेदी** ने वेदों की विशुद्ध वाणी के समर्थन में विद्वानों का यह अंश उद्धृत किया है— **वेद ईश्वर की विमल वाणी है और विश्व के उद्धार के लिए ही उसका अवतरण हुआ है। वैदिक-वाङ्मय पारिजात से भी अधिक सुगन्धमय और स्फटिक मणि से भी अधिक शुभ्र है। वेद के किसी मन्त्र में कुरुक्षेत्र का भैरव-रव है, किसी में वीरों की सी भयंकर हुंकार है, किसी में रण-चण्डी का प्रचण्ड अट्ठाहस है, किसी में समर-भूमि का विकट रणत्कार है, किसी में लक्ष्मी का मधुर-हास्य है, किसी में वृन्दावन का प्रेम-प्रवाह है, किसी में दिव्य शक्ति का नवल-नृत्य है और किसी में ब्रह्मदेव का ललित-विलास है। 'श्रुतिभगवती' जिसे छू देती है, वह अमृत से भी अधिक प्रिय बन जाता है और जिसके ऊपर पैर रख देती है, वह पद्मराग-मणि से भी मूल्यवान हो जाता है।**

वस्तुत: वेद आलौकिक हैं, महान् है, अद्भुत हैं, अमूल्य-निधि के सदृश हैं। उनका प्रत्येक मन्त्र, प्रत्येक ऋचा तथा प्रत्येक पद अपना विशेष महत्त्व रखता है। वेदों के शब्दों के महत्त्व के विषय में **श्रीरामगोविन्द जी त्रिवेदी** का मत है कि— ''वेद का प्रत्येक शब्द बाह्य तत्त्वों से विमुक्त और योग की प्रक्रिया से विशुद्ध है। इस विशुद्धीकरण के कारण ही वेद के प्रत्येक शब्द में दिव्य शक्ति निहित है।

वेद का प्रत्येक शब्द तप:पूत योगियों और महर्षियों की विमल समाधि में उपलब्ध अनन्त शक्तिमन्त्र है। फलत: प्रत्येक वेद-मन्त्र में रहस्य भरा पड़ा है। कमी है केवल इस रहस्य को समझने वाले तपस्वी तथा अधिकारी पुरुषों की।''

अत: विभिन्न दृष्टियों से वेदों का असाधारण महत्त्व सिद्ध होता है। इसीलिये उनका अध्ययन, मनन तथा संग्रहण परमावश्यक है। वेदाध्ययन की आवश्यकता का निरूपण करते हुए **पं० बलदेव उपाध्याय** जी ने निम्नलिखित शब्दों में अपने विचार प्रकट किए हैं— **भारतीय संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान नितान्त गौरवपूर्ण है। श्रुति की दृढ़ आधारशिला के ऊपर भारतीय धर्म तथा सभ्यता का भव्य विशाल प्रासाद प्रतिष्ठित है। हिन्दुओं के आचार-विचार, रहन-सहन, धर्म-कर्म को भली भाँति समझने के लिए वेदों का ज्ञान विशेष आवश्यक है। हम ईश्वर विरोध को सहन कर सकते हैं, परन्तु वेदों का आंशिक विरोध भी हमारी दृष्टि में नितान्त वर्जनीय है। ''आस्तिक'' वही है जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास रखे तथा ''नास्तिक'' वही है जो वेदों की निन्दा करे। अत: वेद का अनुशीलन प्रत्येक भारतीय का आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए।**

तृतीय

वेद का काल निरूपण

वेद आर्य-धर्म एवं दर्शन की आधारशिला हैं; मानवता के मूल हैं। मानव सभ्यता के विकास के अति प्राचीन काल से ही वैदिक शिक्षाएँ मानव मात्र को असत् से सत् की ओर प्रेरित करती रही है। भारतीय सभ्यता के प्राचीनतम स्वरूप के ज्ञानार्थ वेद नितान्त उपयोगी हैं। वेदों के गौरव तथा महत्त्व के विषय में वेदज्ञ एकमत हैं। इसके विपरीत वेदों के रचनाकाल के विषय में वेदज्ञ एकमत नहीं हैं, अपितु उनमें गहरा मतभेद है। इस वैदिकआलोक से कब भारत भूमि आलोकित हो उठी? कब हमारे पूर्वज ऋषियों के हृदय रूपी मानसरोवर में वेद-हंस विचरण करने लगा? कब हमारे पवित्र ऋषियों के हृदय में मानव मात्र के कल्याणार्थ वैदिक सन्देश प्रदान करने की सदिच्छा जागृत हो उठी? आदि प्रश्न आज भी अत्यन्त विचारणीय है, विवादास्पद हैं। विद्वानों का विचार है कि भविष्य में भी इन प्रश्नों का सर्वमान्य समाधान उपलब्ध हो जायें, ऐसी सम्भावना अत्यल्प है। इसके हल को ढूँढ निकालना आसान नहीं, तथापि पाश्चात्य तथा पौरस्त्य वेद के विद्वानों ने वेदों में उपलब्ध अन्तरंग तथा बहिरंग प्रमाणों के आधार पर कतिपय अनुमान प्रस्तुत किए हैं। इनमें से किसी एक को सत्य मानना न्यायसंगत नहीं, किन्तु विद्वानों के प्रयास श्लाघनीय अवश्य हैं। इस सम्बन्ध में विद्वानों के मतों को सात प्रकार का कहा जा सकता है, वे सात प्रकार हैं—

(१) प्राचीन भारतीय परम्परा पर आधृत मत। (२) मैक्समूलर का मत, (३) ज्योतिष सम्बन्धी तथ्यों पर आधृत मत। (४) भाषा सम्बन्धी तथ्यों पर आधृत मत। (५) इतिहास सम्बन्धी तथ्यों पर आधृत मत। (६) शिला लेखों पर आधृत मत। (७) भूगर्भ सम्बन्धी तथ्यों पर आधृत मत।

इन उपर्युक्त मतों का विस्तृत विवेचन निम्नलिखित है—

(१) प्राचीन भारतीय परम्परा पर आधृत मत:

प्राचीन भारतीय परम्पराओं के अनुसार वेदों को ईश्वरीय ज्ञान माना जाता है। वैदिक ज्ञान शाश्वत है तथा सृष्टि की उत्पत्ति के प्रारम्भिक काल में ईश्वर ने वैदिक ज्ञान का आविर्भाव किया। वेदान्त दर्शन भी वेद को अनादि तथा अपौरुषेयज्ञान मानता है। उसके अनुसार यह ज्ञान प्रलयोपरान्त भी नष्ट नहीं होता तथा पुनः सृष्ट्यारम्भ में ईश्वर के द्वारा

प्रकट किया जाता है। वैदिक ज्ञान ठीक उसी प्रकार अनादि, अनन्त एवं अविनश्वर है, जिस प्रकार ईश्वर स्वयं अनादि, अनन्त तथा अविनश्वर हैं। सृष्टि की रचना के पश्चात् ईश्वर द्वारा यह ईश्वरीय ज्ञान ऋषियों के हृदयों में आलोकित होता है। तत्पश्चात् गुरु-शिष्य की अविच्छिन्न परम्परा अथवा शृङ्खला के द्वारा समस्त जगत् में प्रचलित हो जाता है। जगत् के प्रलयोपरान्त वह ज्ञान पुनः ईश्वर में समाहित हो जाता है।

आधुनिक काल में ऋषि दयानन्द ने वेदों के उद्भव पर सप्रमाण विचार किया है। उनके मत में भी वेद अपौरुषेय हैं, ईश्वरीय कृति हैं, जिनका ज्ञान सृष्ट्यारम्भ में ईश्वर द्वारा मानव मात्र के मंगलार्थ ऋषियों के मन में प्रस्फुटित किया गया। सृष्टि की उत्पत्ति १९६०८५२९६६ वर्ष पूर्व हुई थी। ईश्वरप्रणीत ये वेद भी उसी काल में आविर्भूत हुए थे, अतः उतने ही पुरातन हैं।

वेदों के ईश्वर प्रणीत होने के विषय में वेदों में तथा तदुपरान्त उपलब्ध साहित्य में अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। नीचे वे मन्त्र प्रस्तुत किए जा रहे हैं, जो वेदों को ईश्वरकृत सिद्ध करने में प्रमाण स्वरूप हैं।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।९।।

(ऋ० १०/९०/९, यजु० ३१/७)

अर्थात् उस सर्वहुत यज्ञ से ऋचाएँ (ऋग्वेद), साम (सामवेद) उत्पन्न हुए, उससे गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुए तथा उससे यजुष् (यजुर्वेद) उत्पन्न हुआ।

तथा

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादुपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।।

(अथर्व० १०/७/२०)

अर्थात् जिससे ऋक् मन्त्रों को उन्होंने सूक्ष्म किया, जिससे यजुः ज्ञान को उन ऋषियों ने कसौटी पर रखा, सामविद्या जिसके रोम हैं तथा अथर्वमन्त्र मुख हैं, (वह कौन सा स्कम्भ है ? तू कह दे)

इस प्रकार से ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में स्पष्टतः वेदों को ईश्वर से उत्पन्न बतलाया गया है। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, दर्शन, स्मृति आदि ग्रन्थों में भी वेदों को ईश्वरकृत कहा गया है।

"तेभ्यस्सप्तभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो, वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः।"

(श०ब्रा० ११/५२/३)

अर्थात् उन सातों से तीन वेद उत्पन्न हुए, अग्नि से ऋग्वेद उत्पन्न हुआ, वायु से यजुर्वेद उत्पन्न हुआ तथा सूर्य से सामवेद की उत्पत्ति हुई।

तथा

"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥"

(मनु० २/१५१)

इस प्रकार भारतीय परम्परानुसार वेदों की उत्पत्ति जगत् की संरचना के साथ हुई।

(२) अर्वाचीन एवं पाश्चात्य विद्वानों का मत :–

भारतीय विचारधारा तो वेदों को ईश्वरकृत मानती है किन्तु आधुनिक युग की ऐतिहासिक दृष्टि जो विकासवाद के सिद्धान्त पर विश्वास करती है, इस भारतीय विचार परम्परा को स्वीकार करने में सहमत नहीं होती। वैदिक साहित्य के अध्येता अनेक पाश्चात्य मनीषियों ने ऋग्वेद को सर्वप्राचीन मानकर उसके काल निर्धारण का प्रयत्न किया है। इन विद्वानों का विचार है कि प्रत्यक्ष तथा सबल प्रमाणों के अभाव में ऋग्वेद के समय को पूर्णतः सत्य निश्चित नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि उस अनुमान में कतिपय शताब्दियों का अन्तर रह जाय। पाश्चात्य आलोचकों का अनुकरण करने वाले भारतीय आलोचकों ने भी वेदों के काल निर्धारण का प्रयत्न किया है तथा ये ऋग्वेद के काल को पाश्चात्य आलोचकों की अपेक्षा अधिक प्राचीन समय तक खींच ले गए। इस स्थल पर ऋग्वेद की रचना के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों को उद्धृत किया जा रहा है।

(३) मैक्समूलर का मत :–

इंग्लैण्ड की "Sacred books of the east" नामक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मैक्समूलर द्वारा सम्पादित ऋग्वेद (शाकल शाखा) को प्रकाशित किया गया था। यह ग्रन्थ १८५९ ई० के लगभग प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ के भूमिका भाग में मैक्समूलर द्वारा ऋग्वेद के काल को निश्चित करने का प्रयास कया गया है। इनके अनुसार ऋग्वेद की रचना १२०० वि० पूर्व में सम्पन्न हुई।

अपने मत की पुष्टि करने के लिए मैक्समूलर ने कहा कि गौतम बुद्ध के समय तक वैदिकसाहित्य की रचना पूर्ण हो चुकी थी। वैदिक साहित्य को उन्होंने चार भागों

में विभक्त किया। वे भाग हैं— **छन्द, मन्त्र, ब्राह्मण एवं सूत्र**। उनका कथन है कि प्रत्येक भाग के विकास का एक निश्चित समय रहा होगा। सर्वप्रथम **छन्दों**, तत्पश्चात् **मन्त्रों**, तदुपरान्त **ब्राह्मणों** एवं उसके बाद **सूत्रों** की रचना हुई। **मैक्समूलर** के विचार में प्रत्येक विभाग के विकास में तथा उसकी पूर्णता के लिए २०० वर्षों का समय पर्याप्त है।

गौतम बुद्ध का आविर्भाव काल विक्रम से लगभग ५०० वर्ष पूर्व हुआ। अत: सूत्र काल का प्रारम्भ ६०० वि० पूर्व माना गया है। इन सूत्रों में प्रमुख रूप से श्रौत सूत्रों तथा गृह्य सूत्रों की गणना की जाती है। इन सूत्रों की रचना से २०० वर्ष पूर्व अर्थात् ८०० वि० पूर्व ब्राह्मणों की रचना हुई। इस काल में ही याज्ञिक अनुष्ठानों का विस्तार तथा उपनिषदों के आध्यात्मिक सिद्धान्त का विवेचन हुआ। उससे २०० वर्ष पूर्व मन्त्रों की रचना हुई। वेदों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है— छन्द तथा मन्त्र। मन्त्रों का विनियोग यज्ञीय अनुष्ठानों में किया जाता है, शेष छन्द हैं। मन्त्रों का निर्माण तथा विकास उससे पूर्व के २०० वर्षों में अर्थात् १२०० ई० पूर्व में हुआ। ऋग्वेद में सर्वप्राचीन छन्द तथा मन्त्र हैं। इस प्रकार ऋग्वेद का काल १२०० वि० पूर्व हुआ।

इस काल-गणना के विषय में मैक्समूलर पूरी तरह स्वयं भी सन्तुष्ट नहीं थे। उनके अनुसार यह समय निर्धारण तो मात्र सम्भावना पर आधारित है क्योंकि वेदों के समय को ठीक-ठीक निर्धारित करना असम्भव सा है। वेदों का अस्तित्व इसके पूर्व का भी हो सकता है। विल्सन, कीथ, कोलब्रुक आदि पाश्चात्य मनीषियों ने **ऋग्वेद** की रचना के काल निर्णय के विषय में मैक्समूलर का समर्थन किया है। ऋग्वेद के काल निर्णय के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने मैक्समूलर की पद्धति को तो स्वीकार किया है, परन्तु प्रत्येक स्तर के विकास के लिए २०० वर्ष के समय को पर्याप्त नहीं माना है। सन् १८८९ ई० को **भौतिक धर्म** शीर्षक अपने जिफोर्ड व्याख्यानमाला के अवसर पर स्वयं मैक्समूलर ने स्पष्टत: अपने मत को एक अनुमान बतलाया तथा कहा कि विश्व की कोई भी शक्ति वेदों के काल को निर्धारित नहीं कर सकती है। **ओल्डन वर्ग** के अनुसार ऋग्वेद की रचना का काल २५०० ई० पूर्व का होना चाहिए।

(४) ज्योतिष-सम्बन्धी तथ्यों पर आधृत मत :-

वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर ऋतु-सम्बन्धी एवं नक्षत्र-सम्बन्धी जानकारी प्राप्त होती है। कतिपय विद्वानों ने इन ऋतु एवं नक्षत्र विषयक जानकारी का उपयोग वेदों के रचना काल को निर्धारित करने के लिए किया है। उनमें से प्रमुख मत निम्नलिखित हैं—

(क) पं० शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित का मत :-

महाराष्ट्र निवासी प्रख्यात वेदज्ञ पं० शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने **शतपथ ब्राह्मण** का एक अंश उद्धृत किया है, जिसके अनुसार इस ब्राह्मणग्रन्थ के रचनाकाल पर प्रकाश पड़ता है। इस अंश से विदित होता है कि **शतपथ ब्राह्मण** के रचनाकाल के समय **कृत्तिकाओं** को ठीक पूर्वीय बिन्दु पर उदित होने का निर्देश है, जहाँ से वे किञ्चिदपि पृथक् नहीं होती। उद्धृत अंश इस प्रकार है—

''एकं द्वे त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राणि, अथैता एव भूयिष्ठा यत् कृत्तिका स्तद् भूमानमेव एतदुपैति तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत। ऐता ह वै प्राच्यादिशो न च्यवन्ते, सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यादिशयाच्यन्ते।'' (शतपथ ब्राह्मण २/१/२)

आजकल **कृत्तिका नक्षत्र** पूर्वीय बिन्दु से किंचित् उत्तर की ओर हट कर उदित होता है। अत: दीक्षित जी की गणनानुसार कृत्तिका नक्षत्र में वसन्त सम्पात सम्भवत: २५०० ई० पूर्व हुआ होगा। यही **शतपथ-ब्राह्मण** की रचना का समय है। कृत्तिकादि नक्षत्रों का वर्णन करने वाली संहिता **तैत्तरीय** शतपथ-ब्राह्मण से प्राचीनतर है तथा **तैत्तरीय संहिता** से भी प्राचीनतर है **ऋग्वेद**। अत: चतुर्वेद के निर्माण में लगभग एक हजार वर्षों का समय व्यय हुआ होगा। अत: सर्वप्रथम निर्मित ऋग्वेद का निर्माण ३५०० ई० पूर्व हुआ होगा।

(ख) लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का मत :-

स्वर्गीय श्री तिलक जी ने ऋग्वेद में उपलब्ध ज्योतिष विषयक घटनाओं के आधार पर वेद की रचना का सर्वप्राचीन काल ६००० ई०पू० से लेकर ४००० ई०पू० तक निर्धारित किया है। इस तिथिनिर्धारण का मुख्य आधार विभिन्न नक्षत्रों में वसन्त-सम्पात का वर्णन है। उन्होंने वैदिक काल को चार युगों में विभाजित किया है। वे चार युग निम्नलिखित हैं—

(१) अदिति-काल :-

इस काल की सीमा ६००० ई०पू० से लेकर ४००० ई०पू० तक है। इस काल में किंचित् गद्य में तथा किंचित् पद्य में अर्थात् गद्यपद्य मिश्रित यज्ञीय विधि वाक्यों की रचना हुई। इनकी संज्ञा **निविद्** है। इनमें देवताओं की संज्ञा, उनके गुणों तथा चरितों का वर्णन उपलब्ध होता है।

(२) मृगशिरा-काल :-

इस काल की सीमा ४००० ई०पू० से लेकर २५०० ई०पू० तक है। रचना के दृष्टिकोण से इस युग का सर्वाधिक महत्त्व है। इसी युग में **ऋग्वेद** के अधिकांश सूक्तों

की रचना हुई।

(३) कृत्तिका-काल :-

इस काल की सीमा २५०० ई०पू० से लेकर १४०० ई०पू० तक है। इसी युग में चारों मन्त्र संहिताओं का सम्पादन तथा **तैत्तरीय संहिता** एवं **शतपथ ब्राह्मणादि** कतिपय ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई। वस्तुतः मन्त्रों का निर्माण तो ६००० ई०पू० में ही आरम्भ हो गया था, परन्तु यज्ञीय दृष्टिकोण से उन मन्त्रों का परिमार्जन, परिष्कार तथा संकलन इसी काल में सम्पन्न हुआ– "It was at this time that the Saṁhitas were probably compiled into systematic books and attempts made to ascertain the meaning of the oldest hymns and formulae".

(The Orion, Page 207)

इसके अन्तिम भाग में **वेदाङ्ग ज्योतिष** की रचना हुई। इसमें सूर्य एवं चन्द्र के श्रविष्ठा के आदि में उत्तर दिशा की ओर घूम जाने का वर्णन है तथा यह स्थिति गणित के आधार पर लगभग १४०० ई०पू० के निकट होती है–

"प्रपधेते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसाबुद्क्।
सर्वार्धे दक्षिणार्कस्तु माघ श्रेवणवोः सदा॥"

(४) अन्तिम काल :-

इस काल की सीमा १४०० ई०पू० से लेकर ५०० ई०पू० तक है। इस काल में विशेष रूप से **श्रौत-सूत्रों**, **गृह्य-सूत्रों** तथा अन्य **दर्शन सूत्रों** का निर्माण हुआ। इसके अन्तिम भाग में वैदिक धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप **बौद्ध धर्म** का उदय हुआ।

अन्त में स्व० तिलक जी ने विचार प्रकट किया कि यदि वेदों का निर्माण काल ४००० ई०पू० स्वीकार कर लिया जाये तो भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के मतों का समन्वय हो जायेगा–

'We can thus satisfactorily account for all the opinions and traditions current about the age of the Vedas amongst ancient and modern scholars in India and Europe if we place the Vedic period at about 4000 B.C. in strict accordance with the astronomical references and facts recorded in the ancient literature of India.'

तिलक की गणना प्रक्रिया :-

ऋतु-चक्र, सूर्य-संक्रमण पर आधारित है। इसी के आधार पर ऋतुएँ आती जाती हैं। ऋतुएँ निरन्तर पीछे की ओर हट जाती हैं। प्रथम वर्ष का प्रारम्भ वसन्त से होता है। इस काल में वसन्त सम्पात क्रमशः जिन नक्षत्रों पर होता है, वे हैं– **उत्तरा,**

भाद्रपद, **रेवती**, **अश्विनी**, **कृत्तिका**, **रोहिणी**, **मृगशिरा** आदि। सम्प्रति वह **मीन** की संक्रान्ति से प्रारम्भ होता है। इस संक्रान्ति का प्रारम्भ **पूर्वा भाद्रपद** के चतुर्थ चरण से होता है। शनैः शनैः नक्षत्र क्रमशः पीछे की ओर हटते गए हैं। नक्षत्रों की कुल संख्या २७ है तथा सूर्य का संक्रमण चक्र ३६० डिग्री का है। इस प्रकार प्रत्येक नक्षत्र की ३६०/२७ = १३११ डिग्री दूरी प्राप्त होती है। प्रत्येक **नक्षत्रकाल** क्रमानुसार अपने मूल स्थान से हटता रहता है। एक डिग्री पीछे को हट जाने में एक नक्षत्र ७२ वर्ष का समय लेता है। अतः प्रत्येक नक्षत्र अपनी १३११ डिग्री की दूरी तय करने में कुल ७२×१३११= ९७२ वर्ष का समय लेता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि २५०० वर्ष पूर्व **वसन्त-सम्पात** हुआ होगा।

तिलक जी को ऋग्वेद में कतिपय ऐसे मन्त्र भी उपलब्ध हुए हैं, जिनमें **मृगशिरा** नक्षत्र पर **वसन्त-सम्पात** होने का सङ्केत मिलता है। वे मन्त्र हैं— ऋग्वेद १/३३/१२, १/८०/७, १०/८६/५। यह **वसन्त-सम्पात** और भी आगे **पुनर्वसु** तक जाता है। **कृत्तिका नक्षत्र**, **मृगशिरा नक्षत्र** से दो नक्षत्र पूर्व तथा **पुनर्वसु नक्षत्र** से चार नक्षत्र पूर्व है। अतः **मृगशिरा** पर **वसन्त-सम्पात** का काल ९७२×२ = १९४४ वर्ष **कृत्तिका** **नक्षत्र** के **वसन्त-सम्पात** के काल से पूर्व होगा। इस प्रकार **मृगशिरा नक्षत्र** में **वसन्त-सम्पात** होने का काल ४४४४ ई० पहले है।

इस प्रकार तिलक जी के अनुसार वेदों का निर्माण लगभग ४५०० वर्ष पूर्व हुआ होगा। अगर **पुनर्वसु नक्षत्र** में **वसन्त-सम्पात** को माना जाय तो इस रचनाकाल में २००० वर्षों की वृद्धि और हो जायेगी।

(ग) डॉ० जैकोबी का मत :-

डॉ० जैकोबी जर्मनी के बोन नगर के निवासी थे। इन्होंने भी ज्योतिषीय गणना के आधार पर ऋग्वेद का काल ४५०० ई०पू० निर्धारित किया है। उनका कथन है कि **कल्पसूत्रों** में आए विवाह प्रकरण में **ध्रुव इवस्थिरा भव** वाक्य का तात्पर्य है कि उस समय ध्रुवतारा अधिक चमकीला तथा स्थिर रहा होगा। यह स्थिति २००० ई०पू० सम्भव है। **कृत्तिका नक्षत्र** पर **वसन्त-सम्पात** का उल्लेख **ब्राह्मण ग्रन्थों** में मिलता है। अतः गणना करने पर यह समय लगभग २५०० ई०पू० का प्रतीत होता है। इस प्रकार **ब्राह्मण ग्रन्थों** तथा **कल्प सूत्रों** का समय २७०० ई०पू० से लेकर २५०० ई०पू० तक हो सकता है, इसलिये **ऋग्वेद** का समय इससे भी और पूर्व लगभग ४५०० ई०पू० होना चाहिये।

(घ) हाग एवं आर्कविशप प्राट का मत :-

हाग एवं आर्कविषप प्राट आदि विदेशी विद्वानों ने भी वेद काल निर्णय हेतु

अपनी गणना का आधार ज्योतिष को ही बनाया है। सर्वप्रथम अपनी गणना द्वारा उन्होंने **वेदाङ्ग ज्योतिष** का रचना काल निर्धारित किया। यह समय ११८६ ई०पू० निश्चित किया। तत्पश्चात् इसी आधार पर **ब्राह्मण ग्रन्थों** का निर्माण काल १४००ई०पू० से लेकर १२०० ई०पू० तक निश्चित किया। उनके अनुसार वैदिक संहिताओं का संकलन २००० ई०पू० से लेकर १४०० ई०पू० तक हुआ तथा मन्त्रों का रचना काल २४०० ई०पू०-२००० ई०पू० के लगभग रहा होगा।

(च) पं० दीनानाथ शास्त्री चुलैट का मत :-

पं० दीनानाथ शास्त्री चुलैट तथा उनके पुत्र पं० गोपीनाथ शास्त्री चुलैट ने भी वेद के निर्माण काल को निश्चित करने में ज्योतिष को ही अपनी गणना का आधार बनाया है। पं० दीनानाथ जी ने ज्योतिष के प्रमाण द्वारा वेदों का रचनाकाल आज से लगभग ३००००० वर्ष पूर्व निर्धारित किया है। यह निर्णय उन्होंने अपनी पुस्तक **वेद-काल निर्णय** में दिया है। इसी प्रकार पं० गोपीनाथ जी ने अपनी गणना अपनी पुस्तक **युग-परिवर्तन** में दी है। उनके अनुसार वर्तमान कला का २८वाँ कलियुग लगभग २४ वर्ष पूर्व समाप्त हो चुका है। सतयुग का आरम्भ सं० १९८१ में हुआ। यह २९वाँ सतयुग था। उनके विचार में एक चतुर्युगी १२ हजार वर्ष में पूरी होती है, न कि ४३ लाख २० हजार वर्ष में, जैसा कि अनेक विद्वान् मानते हैं। अत: **गोपीनाथ जी शास्त्री** के अनुसार वेदों का निर्माण काल लाखों वर्ष पूर्व ठहरता है किन्तु पाश्चात्य वेदज्ञ तथा तर्कप्रधान भारतीय वेदज्ञ इन विचारों से सहमत नहीं है।

(छ) डॉ० लुडविग का मत :-

जिन अनेक पाश्चात्य मनीषी तथा संस्कृत मर्मज्ञों ने वेद काल निर्णय का प्रशंसनीय प्रयास किया, उनमें **डॉ० लुडविग** का प्रयास भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। लुडविग जी ने भी वेदों के निर्माणकाल के सम्बन्ध में ज्योतिष का आधार ग्रहण किया। आपने इसके लिये सूर्यग्रहण को आधार मानकर इस प्रकार का एक प्रयत्न किया।

५- भाषा सम्बन्धी तथ्यों पर आधृत मत :

कतिपय विद्वानों ने वेद काल निर्णय का आधार वेदों की भाषा को बनाया है। वस्तुत: भाषा ही किसी साहित्य का शरीर होती है। शरीर को देखकर शरीरधारी के समय का निर्णय दिया जा सकता है। तब निर्णय में यह विधि भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। भाषा पर आधृत मत निम्नलिखित है—

क- ऋग्वेदीय भाषा एवं अवेस्ताॅ की तुलना :

ऋग्वेद की भाषा तथा अवेस्ताॅ की सर्वप्राचीन गाथाओं की भाषा में परस्पर इतना अधिक साम्य है कि यदि वेद में उपलब्ध मंत्रों में कुछ ध्वनियों का परिवर्तन

कर दिया जाय तो वे मन्त्र **अवेस्टॉ गाथाओं** में परिवर्तित हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि अवेस्टॉ का रचना काल ईसा से ८०० वर्ष पूर्व होने के बजाय कहीं १५०० वर्ष पूर्व होता तो ऋग्वेद तथा अवेस्टॉ की भाषा में नगण्य अन्तर होता। ऋग्वेदीय भाषा एवं अवेस्टॉ की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करने से भी यही परिणाम प्राप्त होता है कि वेदों की रचना लगभग २००० वर्ष ईसा के पूर्व में हुई होगी।

ख– मैक्डानल का मत :

मैक्डानल ने ऋग्वेद का निर्माण काल १३०० ई०पू० में निर्धारित किया है। मैक्डानल का कथन है कि **आर्यों** की दो शाखाऐं थीं— **भारतीय** और **ईरानी**। यह शाखाएँ १३०० ई०पू० में पृथक् हुई थी। अपने पृथक् होने के पहले ये शाखाएँ एक ही थी। इसी काल में आर्यों की भारतीय एवं ईरानी शाखाओं द्वारा ऋग्वेद का निर्माण किया गया। इसके ५०० वर्ष पश्चात् लगभग ८०० ई०पू० में अवेस्टॉ प्रणीत हुई। इनका कथन है कि जैकोबी के अनुसार यदि आर्यों की भारतीय एवं ईरानी शाखाओं के अलग होने को ४५०० ई०पू० में भी मान लिया जाय तो भी ३००० वर्षों तक इनकी भाषाएँ अपरिवर्तित ही रही होगी। १९०७ ई० में एशिया माइनर में उपलब्ध १४०० ई०पू० के अभिलेखों में मित्र, वरुण, इन्द्र नासत्यादि देवों का निर्देश उस समय दोनों शाखाओं के भाषा साम्य को प्रमाणित करता है। उसी समय के लगभग यदि दोनों शाखाओं के अलग होने को स्वीकार कर लिया जाय तो उसके कुछ समय पश्चात् होने वाले भाषागत परिवर्तन के अनुसार ऋग्वेद का निर्माण १३०० ई०पू० में हुआ होगा।

छ– इतिहास सम्बन्धी तथ्यों का आधृत मत :

अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने इतिहास के आधार पर वेदों का रचनाकाल निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। इनमें से प्रमुख मत निम्नलिखित हैं—

क– भण्डारकर का मत :

डॉ० आर० जी० भण्डारकर ने ऐतिहासिक आधार पर वेदों के रचनाकाल को निर्धारित करने का प्रयास किया। **ईशावास्योपनिषद्** में **असुर्या** शब्द आया है। यह उपनिषद् **यजुर्वेद** का ४०वाँ अध्याय है। **भण्डारकर जी** का कथन है कि यह शब्द **आसीरिया** का समानार्थक है। ऋग्वेद में देवताओं तथा असुरों के युद्ध का वर्णन है। अतः **असीरिया (मेसोपोटामिया)** के निवासी ही वेदों में बतलाए गए असुर हैं, ये २५०० ई०पू० के लगभग भारत की ओर आये थे। अतः **यजुर्वेद** का निर्माण काल लगभग २५०० ई०पू० में हुआ होगा। **ऋग्वेद** की रचना इससे भी पूर्व हुई होगी। अतः **ऋग्वेद** का रचनाकाल ६००० ई०पू० में कहा जा सकता है।

सिकन्दर के आक्रमण के समय **ग्रीक** के लोगों ने राजाओं की वंशावलियों का संकलन किया था। उनके अनुसार **चन्द्रगुप्त मौर्य** से पूर्व १५४ राजाओं ने ४५७ वर्ष तक शासन किया था। सम्भवतः यह समय वैदिक ही था। इससे अनेक वर्षों पूर्व **ऋग्वेद** का निर्माण हो चुका था। इस आधार पर **ऋग्वेद** के निर्माण का समय ८००० ई०पू० से ६००० ई०पू० तक हो सकता है।

ख– डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी का मत :

डॉ० मुखर्जी ऐतिहासिक आधार पर ऋग्वेद का समय २५०० ई०पू० मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि– "On a modest computation we should come to 2500 B.C. as the time of Ṛgveda (Hindu civilzation-67)"

ग– दि वैदिक एज के अनुसार :

इस ग्रन्थ को भारतीय विद्या भवन, बम्बई ने प्रकाशित किया है। इसके अनुसार ऋग्वेद का समय १००० ई०पू० का है। इसमें लिखा है– "On linguistic ground the language of Ṛgveda, the oldest Veda, may be said to be about 1000 B.C." (Page 225)

घ– अमलनरेकर का मत :

प्रसिद्ध लेखक H.G. Wells ने अपनी 'Outlines of World History' में २५०००-५०००० वर्ष पूर्व का विश्व का नक्शा दिया है। **नरेकर महोदय** ने इसी आधार पर **ऋग्वेद** का रचना काल ६६०००-७५००० वर्ष पूर्व में बतलाया है।

च– प्रोफेसर लौटू सिंह का मत :

प्रोफेसर लौटू सिंह ने सनातनी ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर **ऋग्वेद** की रचना को ४ लाख ३५ हजार वर्ष पूर्व का बतलाया है।

६– शिलालेखों का आधृत मत :

सन् १९०७ ई० **पूर्वी एनातोलिया** (वर्तमान टर्की) में **बोगाज** कोई नामक ग्राम में खुदाई करने पर **डॉ० हूगोविन्कलर** को एक प्राचीन शिलालेख उपलब्ध हुआ। यह शिलालेख इस विषय की पुष्टि में एक सशक्त प्रमाण है। पश्चिमी एशिया के इस खण्ड में कभी दो प्राचीन जातियाँ रहती थीं। एक थी **हित्तित्ति** तथा दूसरी **मितानि**। इस शिलालेख पर हित्तियों तथा मितानियों के मध्य १४वीं शती ई०पू० के आरम्भ में होने वाली सन्धि का उल्लेख है। यह एक राजकीय शासनपट्ट के रूप में है। संधिलेख में शपथ ग्रहण करते हुए दोनों जातियों के राजाओं ने प्राचीन **बेबिलोनिया** तथा **हित्ति जाति** के देवताओं का आह्वान किया है। इन संरक्षक देवों की सूची में **बाबुल** देशीय

तथा **हित्ति जाति** के देवों के साथ **मितानि जाति** के देवों में **मित्र, वरुण, इन्द्र** तथा **नासत्यों** के नाम प्राप्त होते है। ये लेख १४०० ई०पू० के हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस समय से अत्यधिक पूर्व काल में आर्यों ने आर्यावर्त में अपने वैदिक धर्म तथा वैदिक देवताओं की कल्पना कर रखी थी। इन्हीं आर्यों की एक शाखा पश्चिमी एशिया से भारतवर्ष में आकर रहने लगी। यहीं पर उस शाखा ने अपने देवगणों तथा धर्म का अत्यधिक प्रचार किया। अतः इसी आधार पर आधुनिककालीन पाश्चात्य वेदज्ञ वेदों का काल २००० ई०पू० से लेकर २५०० ई०पू० तक निर्धारित करते हैं।

इसी प्रकार वेदों के रचनाकाल को निर्धारित करने में अनेक विद्वानों ने **मोहनजोदाड़ों** तथा **हड़प्पा** में प्राप्त अभिलेखों तथा सभ्यता का आश्रय ग्रहण किया है। इन विद्वानों ने वैदिक सभ्यता को ग्रामीण सभ्यता माना है तथा **सिन्धु घाटी** की सभ्यता को विकसित नागरिक सभ्यता माना है। अतः नागरिक सभ्यता से ग्रामीण सभ्यता को पुरातन् सिद्ध करते हुए वेदों का काल ३००० वर्ष ईसा पूर्व निश्चित किया है। अनेक विद्वान् इस विचार से सहमत नहीं हैं कि वैदिक सभ्यता ग्रामीण थी तथा सिन्धु घाटी की सभ्यता से निम्न थी। अतः यह मत मान्य नहीं है।

८– भूगर्भ सम्बन्धी तथ्यों का आधृत मत :

ऋग्वेद में भूगोल एवं भूगर्भ सम्बन्धी अनेक घटनाएँ उल्लिखित हैं जिनका आधार लेकर ऋग्वेद के काल को निर्धारित किया जा सकता है। अनेक विद्वानों ने ऐसा किया भी है। इनमें **नारायण राव भवनराव पारंगी** तथा **अविनास चन्द्र व्यास** आदि प्रमुख हैं। इनके मत को नीचे प्रस्तुत किया गया है—

क– डॉ० अविनाश चन्द्र व्यास का मत :

डॉ० व्यास ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **ऋग्वैदिक इण्डिया** में भूगर्भ शास्त्र तथा भूगोल के प्रमाणों के आधार पर **ऋग्वेद** का निर्माण काल ईसा से २५ हजार वर्ष पूर्व निश्चित किया है। इनके द्वारा किये गये प्रमुख प्रमाण निम्नलिखित हैं—

(१) **ऋग्वेद** में **सरस्वती** नदी के समुद्र में गिरने का उल्लेख प्रात होता है—

'एका चेतत् सरस्वती नदीनाम्, शुचिर्यती गिरिभ्यः आ समुद्रात्।'

(ऋ० ७/९५/२)

(२) यह समुद्र उस समय **राजस्थान** में स्थित था। किसी भयंकर भूकम्प ने समुद्र तथा सरस्वती दोनों को नष्ट कर दिया, अतः दोनों लुप्त हो गए।

(३) आर्यों के निवासस्थान सप्त **सैन्धव प्रदेश** के चतुर्दिक् चार समुद्र विद्यमान थे, जहाँ सम्प्रति उत्तर प्रदेश तथा बिहार है। वहाँ पर उस समय पूर्वी समुद्र की स्थिति

थी। पश्चिमी समुद्र आज भी वर्तमान है। उत्तरी समुद्र उत्तर में स्थित था। दक्षिण समुद्र की स्थिति राजस्थान में थी।

(४) **गंगा-प्रदेश, हिमालय** की तलहटी तथा **असम** के पर्वतीय प्रदेश उस समय समुद्र के अन्दर वर्तमान थे।

भूगर्भवेत्ताओं का कथन है कि यह स्थिति लगभग ईसा से २५००० वर्ष पूर्व से लेकर ५०००० वर्ष पूर्व थी।

ख– नारायणरावभवनराव पारंगी का मत :

ऋग्वेद के रचनाकाल को निर्धारित करने के लिये भूगर्भशास्त्र के आधार पर तर्क प्रस्तुत करने वाले विद्वानों में श्री **नारायणरावभवनराव पारंगी** प्रमुख हैं। इन्होंने **ऋग्वेद** की रचना का काल ९००० वर्ष पूर्व निश्चित किया है।

ऋग्वेद में अनेक भौगोलिक स्थितियों— नदियों, समुद्रों आदि का वर्णन है। इन भौगोलिक स्थितियों का वर्णन करने वाले प्रमुख मन्त्र हैं— ऋग्वेद १०/१३६/५, ९/३३/३ तथा १०/४७/२ आदि। इन मंत्रों में जिन स्थितियों का वर्णन है, भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार इस प्रकार की भौगोलिक स्थिति ९००० वर्ष पूर्व रही होगी। इसी आधार पर **श्री पारङ्गी महोदय** ने ऋग्वेद की रचना का समय ९००० वर्ष पूर्व का निर्धारित किया है।

विन्टरनिट्ज का मत– प्रोफेसर विन्टरनिट्ज ने ज्योतिष विद्या पर आधारित तथ्यों को ही प्रधानता दी है। उन्होंने भाषा सम्बन्धी तथ्यों पर आधारित मतों को भी निरर्थक कहा है। उनके अनुसार वेदों का रचना काल २५०० ई०पू० से लेकर ५०० ई०पू० तक है।

उपसंहार

अनेक विद्वानों की यह भी मान्यता है कि ऋग्वेद की रचना यद्यपि ऋषियों का ही तत्त्व दर्शन है, तथापि यह वेद भी एक ही समय में नहीं रचा गया है। ऋग्वेद के कतिपय सूक्त पश्चातवर्ती हैं। कतिपय सूक्त अवान्तरकालीन रचना है। वेदमन्त्रों की रचना की एक परम्परा रही है तथा इनकी रचना निरन्तर होती रही। कालान्तर में इनका संकलन कर लिया गया।

उपर्युक्त मतों की विशाल संख्या से यह तो स्पष्ट है कि अथक परिश्रम करने पर भी वेदों की रचना का समय आज भी निर्धारित नहीं हो सका है। वस्तुतः ऋग्वेद एवं अन्य वेदों की रचना के समय को पूर्णतः निश्चित करना लगभग असम्भव सा ही है। इनके काल को निर्धारित करने में वेदज्ञों ने शताब्दियों नहीं बल्कि सहस्राब्दियों का

अन्तर किया है। इस पर भी इतना तो अवश्य निश्चित है कि वेद विश्व का अति प्राचीन साहित्य है। इनके अर्थों का पूर्णतः सत्य समझना न केवल विदेशियों के लिए अपितु भारतीय वेदज्ञों के लिये भी एक कठिन कार्य रहा है। भारतीय विचारधारा वेदों को नित्य तथा अपौरुषेय मानकर इनके काल के सम्बन्ध में विचार नहीं करती, किन्तु यह भी निश्चित है कि शीघ्र ही किसी दिन मानविकी के अध्येता इस समस्या को प्रामाणिक ढंग से अन्तिम रूप से सुलझा कर ही मानेंगे।

चतुर्थ

वेदों की शाखाएँ

वैदिकवाङ्मय में '**शाखा**' शब्द अत्यधिक प्रचलित है। यह शब्द आजकल के नवीन प्रचलित शब्द '**संस्करण**' के अत्यधिक निकट जान पड़ता है। प्राचीन काल में गुरु अपने शिष्यों को वेद का मौखिक ज्ञान कराता था, वह शिष्य अपने शिष्यों को गुरु सदृश पुन: वेद का ज्ञान कराता था। इस प्रकार वेद सम्बन्धी ज्ञान का हर पीढ़ी में नया संस्करण हो जाता था। वस्तुत: वेदों से सम्बन्धित साहित्य को अक्षुण्ण बनाए रखने में इन ब्राह्मण-वंशों का योगदान श्लाघनीय है। उन पुरातन ब्राह्मणवंशों में परम्परा से इस कार्य हेतु जो अभिधान प्रचलित हुआ वह '**शाखा**' कहलाता है।

शाखाएँ :-

आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द के मतानुसार शाखाएँ वेद का मूल नहीं हैं अर्थात् वास्तविक वेद नहीं है। ये तो संहिताओं के प्रवचन मात्र हैं। जिस प्रकार किसी वृक्ष की मूल शाखाएँ तथा उन शाखाओं पर पत्र, पुष्प तथा फलादि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार **वैदिकवाङ्मय** रूपी वृक्ष का मूल तो चार वेद ही हैं— **ऋक्, यजु:, साम** एवं **अथर्व**, किन्तु शाखाएँ अनेक हैं, यथा— शाकल, वाष्कल, वाजसनेय, मौद तथा पैप्पलाद आदि। वृक्ष के मूल से ही विभिन्न शाखाओं के उत्पन्न होने के सदृश ये शाखाएँ भी मूल वेदों से उत्पन्न हुईं। इस बात की पुष्टि **व्यासजी** ने भी **महाभारत** में की है। अपने ग्रंथ **महाभारत** में उन्होंने लिखा है कि—

अपान्तरतमा नाम सुतो वाक्सम्भवा: प्रभो:।

तेन भिन्नास्तदा वेदा: मनो: स्वायंभुवेन्तरे। (३४५.४२, शान्तिपर्व)

अर्थात् वाग्देवी सरस्वती के सुत अपान्तरतमा ने स्वायंभुव मनवन्तर में मूल वेदों को शाखाओं में विभाजित किया। **कवि जैमिनि** ने भी अपनी '**पूर्वमीमांसा**' में लिखा है कि '**आख्या प्रवचनात्**' (१/१/३०) अर्थात् 'शाखा' अभिधान का हेतु प्रवचन ही है। जिस प्रकार वृक्ष की शाखाएँ, मूल का उपबृंहण होती है, उसी प्रकार वैदिक शाखाएँ भी मूल **वेद-वृक्ष** का उपबृंहण है तथा **उपबृंहण शब्द** प्रवचन एवं व्याख्या शब्दों का पर्याय भी है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार '**वेद**' तो ईश्वरीय ज्ञान है। उनके मन्त्रों को प्राचीन ऋषियों ने लिखा नहीं है, अपितु अपने ध्यान नेत्रों से ईश्वरकृत मन्त्रों का

साक्षात्कार किया है। किन्तु शाखाओं के साथ यह बात नहीं है। **वेद तो अपौरुषेय है** किन्तु शाखाएँ पौरुषेय हैं।

पतञ्जलि का कथन है कि– "**न नु चोक्तं नहि छन्दांसि क्रियन्ते। नित्यानि छन्दासीति। यद्यप्यर्थोनित्यः यत्त्वसौऽवर्णानुपूर्वीऽसावनित्या। तद्भेदाच्च एतद्भवति काठकं, कापालकं, मौदकं, पैप्लादकं**" अर्थात् वेद न तो कहे गए और न बनाए ही गए। वेद तो नित्य हैं। किन्तु जो वर्णानुपूर्वी है वह अनित्य है और वही काठक, कापालक, मौदक तथा पिप्पलाद आदि भेदों में दृष्टिगत होता है। यह भेद मन्त्रपाठ की विभिन्न विधियों में दृष्टिगोचर होता है।

याज्ञिक अनुष्ठानों के समुचित सम्पादन के लिए संहिताओं का सङ्कलन हुआ। इस वैदिक पठन-पाठन को नष्ट न होने की दृष्टि से **व्यासजी** ने अपने चार प्रमुख शिष्यों को पढ़ाया। यह बात भागवत के अन्तर्गत स्पष्ट की गई है–

> **'तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः।।**
> **वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत।**
> **अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः।।'**
>
> (भागवत १/४/२२)

अर्थात् ऋषि 'पैल' को ऋग्वेद, कवि 'जैमिनि' को सामवेद, 'वैशम्पायन' को यजुर्वेद तथा 'सुमन्तु' मुनि को अथर्ववेद का ज्ञान कराया। इस प्रकार गुरुओं से प्राप्त ज्ञान को शिष्यों में बढ़ाते हुए इन ऋषियों ने वैदिक ज्ञान का अतिशय प्रचार किया। इसी से यह वेदवृक्ष विविध शाखाओं से युक्त होकर विशाल वट वृक्ष के सदृश बन गया।

चरण :–

वैदिकवाङ्मय में 'शाखा' शब्द के अर्थ में ही एक शब्द और भी उपलब्ध होता है, वह शब्द है– '**चरण**'। '**मालती माधव**' के टीकाकार **जगद्धर** का कथन है कि '**चरणशब्दः शाखाविशेषाध्ययनपरैकतापन्नजनसंघवाची**' अर्थात् चरण शब्द विशेष शाखा के अध्ययनकर्त्ता एकतापन्न मनुष्यों के समूह का वाचक है। इन शाखाओं का विस्तारपूर्वक विवेचन पुराणों एवं '**चरणव्यूह**' आदि ग्रन्थों में देखा जा सकता है। इस शब्द की व्याख्या तथा अर्थ के विषय में अनेक विद्वानों ने विचार प्रकट किए हैं। **महाभाष्यकार पतञ्जलि** के अनुसार '**गोत्रं च चरणैः सह**' अर्थात् ऋषि गोत्र का चरण से सम्बन्ध है। **पं० भगवतदत्त जी** के मतानुसार शाखाएँ चरणों का ही अवान्तर भाग थीं। शाकल, वाष्कल आदि चरण हैं तथा काण्व, काठक, कापालक आदि शाखाएँ हैं। **कैय्यट** के अनुसार भी 'चरण शब्दः अध्ययन वचनः' अर्थात् ऋषियों के अध्ययन

कर्म के अनुसार ही **शाखा** अन्य क्रमों से भिन्न हो गई।

शाखा-भेद के कारण–

मूल वैदिक संहिताओं से ही अनेक वैदिक शाखाएँ उद्भिन्न हुई। इस शाखा-भेद का कोई निश्चित कारण नहीं है, अपितु अनेक सम्भावित कारण हैं। क्रमशः उन कारणों पर विस्तारपूर्वक विवेचन प्रस्तुत है।

(अ) पाठ-भेद–

'पाठभेद' शाखाओं के भेद का एक प्रमुख कारण है। विद्वानों के मतानुसार भी मन्त्रों के पठन-पाठन की अनेक विधियाँ ही शाखाओं के भेद की जन्मदाता है।

रसाचार्य, ब्रह्मवादीआचार्य '**व्याडि**' ने अपनी पुस्तक '**विकृतिवल्ली**' में इन विकृतियों की विस्तृत चर्चा भी की है। उन्होंने लिखा है कि–

'जटा, माला, शिखा, लेखा, ध्वजो, दण्डो, रथो, घनः।
अष्टौविकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा मनीषिभिः॥'

(विकृतवल्ली, १/५)

इन आठ प्रकार की विकृतियों अर्थात् मन्त्र पाठ की शैलियों के आधार पर ही आठ प्रकार की शाखाओं का प्रचलन हुआ।

(ब) देश-काल-भेद

प्राचीन काल में गुरुकुलों में वेदज्ञ ऋषि अपने शिष्यों को वेद-विषयक शिक्षा देते थे। भारतवर्ष एक अत्यन्त विशाल देश था। उस समय मुद्रण सम्बन्धी सुविधा भी नहीं उपलब्ध थी। समस्त ज्ञान मौखिक था। अतः विषयों में एकरूपता सुरक्षित न रह सकी। अतः स्थान एवं काल की भिन्नता **शाखाओं की भिन्नता** का कारण बनी। इसी प्रकार यह वेदाध्ययन विभिन्न कालों में निरन्तर होता रहा। इन विभिन्न कालों में अनेक नूतन ऋचाओं का भी आविर्भाव हुआ। अनेक मन्त्र संहिताओं में उपलब्ध नहीं होते। अतः कालों की भिन्नता भी शाखाओं के भेदों का आधार है।

इन उपर्युक्त शाखा-भेद सम्बन्धी दो कारणों से **डा० मङ्गलदेव शास्त्री** भी सहमत हैं। इस विषय पर उनका कथन है कि ''वैदिक परम्परा में एक ऐसा समय था, जबकि अध्ययनाध्यापन का आधार केवल मौखिक था, उसी काल में एक ही गुरु के शिष्य-प्रशिष्य भारत जैसे महान् देश में फैलते हुए विशेषतः गमनागमन की उन दिनों की कठिनाइयों के कारण किसी भी पाठ को पूर्णतः अक्षुण्ण न रख सके थे। पाठ-भेद का हो जाना स्वाभाविक था–

एवं वेदं तदान्यस्य भगवानृषिसत्तमः।
शिष्येभ्यश्च पुनर्दत्त्वा तपस्तप्तुं गतो वनम्॥
तस्य शिष्यप्रशिष्यैस्तु शाखाभेदास्त्विमेकृताः॥

(वायुपुराण ६१/७७)

साथ ही जान बूझकर पाठ का परिवर्तन या परिवर्धन भी अवस्थाविशेष में सम्भावना से बाहर की बात नहीं है। एवं ऐसा भी समय था, जब नवीन ऋचाएँ भी बनाई जाती थीं— '**अग्निः पूर्वोभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।**' (ऋ० १/१/२)

'**इमां प्रत्नाय सुष्टुतिं नवीयसीं वोचेयम्**' (ऋ० १०/९१/१३)

इत्यादि ऋचाओं में स्पष्टतः प्राचीन और नवीन ऋषियों का और बिल्कुल नवीन बनाई हुई ऋचाओं का उल्लेख है। तभी **वैदिकवाङ्मय** में ऐसी भी ऋचाएँ और मन्त्र मिलते हैं, जो उपलब्ध वैदिक संहिताओं में नहीं पाए जाते। ऐसी अवस्था में पाठभेद का हो जाना असम्भावित नहीं हो सकता।

अतः **शाखाभेद** के दो प्रमुख कारण निश्चित हुए। वे हैं— **१. अध्ययन भेदात्छाखा भेदः** अर्थात् अध्ययन के भेद से शाखाभेद होना, **२ देशभेदनं शाखानां व्यवस्थापनम्** अर्थात् देशभेद से शाखाओं में भेद होना। इन दो प्रमुख कारणों के अतिरिक्त कतिपय 'गौण कारण' भी हैं, जिन्हें **वेदज्ञ** शाखाओं के भेदों का हेतु बतलाते हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(स) उच्चारण-भेद–

कुछ सीमा तक वैदिक शाखाओं में भेद-प्रभेद के लिए वेद-मन्त्रों तथा मन्त्रगत पदों का **उच्चारण-भेद** भी उत्तरदायी है। बहुधा अज्ञानतावश अथवा स्वभावगत त्रुटि के कारण विभिन्न लोगों के उच्चारण में भेद होना सम्भव ही है। जैसे कि **अनुष्टुप्-छारदी** के स्थान पर क्वचित **अनुष्टुप शारदी** का उच्चारण किया जाता है। इसी प्रकार मूर्धन्य 'ष्' के स्थान पर 'ख' का उच्चारण अच्छे पढ़े-लिखे मनुष्यों के मुख से भी सुना जा सकता है। जैसे 'इषेत्वा' को 'इखेत्वा' कहना। अतः उच्चारण-भेद भी शाखा-भेद का कारण है किन्तु यह कारण शाखा-भेद का आंशिक कारण ही है।

(द) ऋषि-देवता-छंद-भेद–

आचार्य शौनक ने ऋषि, देवता तथा छंदों में होने वाले भेदों को भी शाखाओं के भेदों का कारण स्वीकार किया है। उन्होंने **बृहद्देवता** में लिखा है— ''**देवतार्षार्थछन्देभ्यो वैविध्यं तस्य जायते।**'' अर्थात् देवता, ऋषि तथा छंदों की विविधता शाखाओं में भेद की जनक है। प्रत्येक मन्त्र के ऊपर या सूक्त के ऊपर उस

मन्त्र या सूक्त के ऋषि एवं छन्द का नामोल्लेख रहता है। भ्रमवश इन नामों में अन्तर भी पड़ा। यह अन्तर इसलिए पड़ा क्योंकि विभिन्न सूक्तों के मन्त्र विभिन्न ऋषियों द्वारा विभिन्न रूपों में देखे गए। इन मन्त्रों का साक्षात् सम्बन्ध देवता तथा अर्थ से होता है। अत: यह कारण सबका परस्पर भेद कराने में सहयोगी रहा।

(क) मन्त्रों का व्याख्या भेद-

एक-एक मन्त्र की अनेक प्रकार से व्याख्या होने के कारण भी शाखाओं में भेद हुआ है। **निरुक्त** में एक-एक मन्त्र के तीन-तीन अर्थों का विवेचन किया है— आदिभौतिक-अर्थ, आदिदैविक-अर्थ तथा आध्यात्मिक-अर्थ। इसके अतिरिक्त **'सम्प्रदाय-भेद'** से एक-एक मन्त्र के सात-सात अर्थ निकाले जा सकते हैं। यथा **'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि'**, इस मन्त्र का सात प्रकार से अर्थ किया जा सकता है। अत: 'सम्प्रदाय-भेद' मन्त्रों के अर्थभेद का कारण है तथा मन्त्रों का **अर्थ-भेद** ही मन्त्र की विभिन्न व्याख्याओं को जन्म देता है। ये मन्त्रों की विभिन्न व्याखाएँ ही वैदिक शाखाओं की जननी हैं।

इन मतों के विपरीत **पं० सत्यव्रत सामश्रमी** ने **ऐतरेयालोचन** में लिखा है— **'तत्वतो नहि वेदशाखा वृक्षशाखेवऽनापि नदी शाखेव, प्रत्युत् अध्येतृभेदात् सम्प्रदायभेदज्य अध्ययनविशेष रूपैव।'** अर्थात् वे वैदिक ऋचाओं को वृक्ष अथवा नदी की शाखाओं के सदृश नहीं स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ये विशिष्ट अध्ययन के रूप हैं।

वैदिकशाखाओं की कुल संख्या-

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **'पस्पशाह्निक'** में लिखा है कि **'चत्वारो वेदा:। साङ्ग सरहस्या: बहुधाभिन्ना:। एक शतमध्वर्युशाखा:। सहस्त्रवर्त्मा सामवेद:। एक विंशतिधावाह्वृच्यम्। नवधाथर्वणो वेद:।** अर्थात् वेद चार हैं, वेदाङ्गों एवं रहस्यों के साथ अनेक रूपों में विभक्त हुए। यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १ हजार, ऋग्वेद की २१ तथा अथर्ववेद की ९ शाखाएं है। इस प्रकार भाष्यानुसार कुल शाखाएँ १०१ + १०००+ २१+९ = ११३१ हुई।

'चरणव्यूह' की गणना इससे भिन्न है। इसके अनुसार— **'सामवेदस्यकिलसहस्रभेदा आसन्। यजुर्वेदस्य षडशीतिर्भेदा, अथर्ववेदस्य नवभेदाभवन्ति'** अर्थात् सामवेद की १००० शाखाएँ, यजुर्वेद की ८६ शाखाएँ होती हैं। अथर्ववेद की नौ शाखाएँ हैं। ऋग्वेद की भी २१ शाखाओं का निर्देश किया गया है। इस प्रकार कुल संख्या हुई १०००+८६+२१+९ = १११६। अन्य पुराणों तथा उपनिषदों में भी इन संख्याओं के बारे में किंचित् भिन्नता है। आर्यसमाज के प्रवर्तक

महर्षि दयानन्द भी पतञ्जलि के मत से सहमत हैं, किन्तु कुल संख्या में से चार को वे मूल वेद स्वीकार करते हैं, अत: उनके अनुसार शाखाओं की कुल संख्या ११३१-४ = ११२६ शेष रहती है।

अब हम यहाँ पर चारों वेदों की विभिन्न शाखाओं का पृथक् निरूपण प्रस्तुत कर रहे हैं—

ऋग्वेदीय शाखाएँ– जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि **महाभाष्यकार पतञ्जलि** ने ऋग्वेद की २१ शाखाओं का निर्देश किया है। 'चरणव्यूहकार' के अनुसार उनमें से केवल पाँच शाखाएँ ही मुख्य हैं। वे निम्नलिखित हैं—

१. शाकल शाखा

२. वाष्कल शाखा

३. आश्वलायन शाखा

४. माण्डूकायन शाखा

५. सांख्यायन शाखा

जहाँ तक पुराणों का सम्बन्ध है, प्राचीन पुराणों में ऋग्वेद की २१ तथा अवान्तरकालीन पुराणों में केवल तीन शाखाओं का ही निर्देश मिलता है। **आथर्वण परिशिष्ट चरणव्यूह** में उपर्युक्त पाँच शाखाओं के अतिरिक्त दो शाखाओं का और नामाल्लेख हुआ है। वे नाम हैं— साध्यायन तथा औदुम्बर। **बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान** में भी ऋग्वेदीय शाखाओं के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। उसके अनुसार पहले शाखाओं के तीन मुख्य विभाग किए गए हैं, तत्पश्चात् उन तीन भागों के कुल २५ उपविभाग किए गए हैं। तीन भाग हैं— **शाकल**, **वाष्कल** तथा **माण्डव्य**, जिनमें शाकल के १०, वाष्कल के ८ तथा माण्डव्य के ७ अवान्तर भाग होते हैं। **वाक्यपदीयकार भर्तृहरि** ने भी ऋग्वेद की २१ शाखाएँ मानी हैं। यहाँ ऋग्वेद की प्रमुख ५ शाखाओं के विषय में विशेष जानकारी प्रस्तुत की जा रही है—

१. शाकल शाखा–

ऋग्वेद की आजतक प्रचलित शाखा '**शाकल**' के नाम से विख्यात है। '**कात्यायन**' ने '**ऋक् सर्वानुक्रमणी**' के आदि में ही लिखा है— '**अथऋग्वेदाम्नाये शाकलके**।' शाकल शाखा ही मूलत: ऋग्वेद है। यह दस मण्डलों में विभाजित होने के कारण **निरुक्तकार** द्वारा '**दशतयी**' नाम से सम्बोधित की गई है। इस शाखा में कुल १०२८ सूक्त तथा १०६०० मन्त्र हैं। शाकल शाखा से सम्बन्धित उपलब्ध साहित्य निम्नलिखित है—

१. ब्राह्मण– ऐतरेय ब्राह्मण एव कौषीतिक ब्राह्मण।

२. आरण्यक– ऐतरेय आरण्यक एवं कौषीतिक आरण्यक।

३. उपनिषद्– ऐतरेय उपनिषद् तथा कौषीतिक उपनिषद्।

४. सूत्र– आश्वलायन श्रौतसूत्र।

इसी शाखा के मन्त्र **सामवेद** की कौथुमशाखा, **अथर्ववेद** के पचासवें काण्ड तथा **कृष्णयजुर्वेद** में प्राप्त होते हैं। इसी कारण यह शाखा वैदिक शाखा में आदरणीय स्थान पर प्रतिष्ठित है।

२. वाष्कल शाखा–

यह शाखा आजकल प्राप्त नहीं होती है, किन्तु इस शाखा के विषय में यत्र तत्र सामग्री प्राप्त होती है। **शाकल शाखा** में अन्तिम मन्त्र **'समानीव आकूतिः'** शब्दों से प्रारम्भ होता है, परन्तु **वाष्कल शाखा** का अन्तिम मन्त्र का प्रारम्भ **'तच्छयोरावृणीयहे'** शब्द से होता है। **आचार्य शौनक** ने अपना विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि—

'एतत् सहस्रं दश सप्त चैवाष्टावती वाष्कलकेऽधिकानि।

तान्पारणे शाकले शैशिरीये वदन्तिशिष्टाऽनाखिलेषु विप्राः॥'

(अनुवाकानुक्रमणी, ३६)

इसके अनुसार **वाष्कल शाखा** में **शाकल शाखा** से आठ सूक्त अधिक हैं। **शाकल शाखा** में कुल १०१६ सूक्त हैं जबकि **वाष्कल शाखा** में १०२५ सूक्त हैं। इस संहिता का अन्तिम सूक्त **संज्ञान सूक्त** है। **वाष्कल** के प्रथम मण्डल के मन्त्रों में **शाकल** से क्रम-भिन्नता है। इसी कारण अस्त-व्यस्त ढंग से कार्य करने वाले व्यक्ति को **'वाष्कल'** कहकर पुकारते हैं।

३. आश्वलायन शाखा–

कवीन्द्राचार्य की सूची में **आश्वलायन शाखा** की संहिता तथा ब्राह्मणों का नामोल्लेख हुआ है, इससे इनके अस्तित्व की पुष्टि होती है। आजकल इस शाखा के केवल **'गृह्यसूत्र'** तथा **'श्रौतसूत्र'** ही प्राप्त होते हैं, जिनके नाम हैं— **आश्वलायन-गृह्यसूत्र** तथा **आश्वलायन-श्रौतसूत्र**। इसके अतिरिक्त अन्य साहित्य अप्राप्य है।

४. शाङ्खायन शाखा–

इस शाखा के ब्राह्मण तथा आरण्यक उपलब्ध हैं किन्तु संहिता अनुपलब्ध है।

५. माण्डूकायन शाखा–

इस शाखा का आजकल कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है।

यजुर्वेदीय शाखाएँ

महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार **यजुर्वेद** की १०१ शाखाएँ हैं। उन्होंने लिखा है— '**एकशतध्वर्युशाखा**' **प्रपञ्चहृदयकार** ने भी द्वितीय प्रकरण में लिखा है— '**यजुर्वेद एकोत्तरशतधा**' अर्थात् यजुर्वेद १०१ शाखाओं वाला है। **महर्षि दयानन्द** भी इस विषय में **पतञ्जलि** के मत का समर्थन करते हैं। **शौनक** ने '**चरणव्यूह**' में इस वेद की १८६ शाखाओं का निर्देश किया है। अनेक विद्वान् **यजुर्वेद** की १०० शाखाएँ ही मानते हैं। **सूत संहिता, ब्रह्माण्डपुराण, स्कन्दपुराण** आदि में यजुर्वेद की १०९ शाखाओं का उल्लेख किया गया है। **मुक्तिकोपनिषद्** ने **यजुर्वेद** की १०७ शाखाएँ मानी हैं। यजुर्वेद की १०१ शाखाओं में अधिकांश काल के प्रवाह में नष्ट हो गई, परन्तु **प्रपञ्चकार** को ३६ शाखाओं की जानकारी थी। बौद्ध ग्रन्थ '**दिव्यावदान**' में कठों की १०, **काण्व** की १०, **वाजसनेय** की ११, **जातुकर्ण** की १३, **प्रोष्ठ पद** की १६ अर्थात् कुल ६० शाखाओं का निर्देश प्राप्त होता है। '**आथर्वण चरणव्यूह**' परिशिष्ट में यजुर्वेद की २४ शाखाओं के नाम दिए हैं जिनमें **शुक्लयजुर्वेद** के १० तथा **कृष्णयजुर्वेद** की १४ शाखाएँ हैं। वे नाम निम्नलिखित हैं।

शुक्ल-यजुर्वेद की शाखाएँ– काण्व, माध्यन्दिन, जाबाल, शापेय, श्वेत, श्वेततर, ताम्रायणीय, पौर्णवत्सा, आवटिका तथा परमावटिका।

कृष्ण-यजुर्वेद की शाखाएँ– होष्या:, धौष्या:, खाडिका:, आह्वरका:, चरका:, मैत्रा:, मैत्रायणीया: हरिद्रविणा:, शालायनीया, मर्चकठा:, प्राच्यकठा, कपिष्ठलकठा:, उपला: एवं तैत्तरीया:।

इसी प्रकार **शुक्लयजुर्वेदीय** शाखाओं का नामोल्लेख **वायुपुराण** अध्याय २/६१, **ब्रह्माण्डपुराण** अध्याय ३५ तथा **चरणव्यूह** एवं **प्रतिज्ञापरिशिष्ट** आदि में हुआ है। इन नामों में परस्पर साम्य नहीं है। '**प्रतिज्ञापरिशिष्ट**' में दी गई नामावली इस प्रकार है— जाबाला, बौधेया, काण्वी, माध्यन्दिना, शापेया, तापायनीया, कापाला, पौण्ड्रवत्सा, आवटिका, परमावटिका, पाराशरा, वैनतेया, वैधेया, कौनतेया तथा वैजवाया।

आजकल **शुक्लयजुर्वेद** की दो तथा **कृष्णयजुर्वेद** की चार शाखाएँ उपलब्ध होती हैं। वे उपलब्ध शाखाओं के नाम इस प्रकार हैं—

शुक्ल यजुर्वेद— (१) वाजसनेयी शाखा।
(२) काण्व शाखा।

कृष्ण यजुर्वेद— (३) तैत्तरीय शाखा।
(४) मैत्रायणी शाखा।

(५) कठ शाखा।

(६) कठ-कपिष्ठल-शाखा।

यजुर्वेद का जो साहित्य सम्प्रति उपलब्ध है, वह निम्नलिखित है—

शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्धित साहित्य– शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक उपनिषद्, ईशोपनिषद् तथा बृहदाहरण्यक ब्राह्मण।

कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्धित साहित्य– तैत्तरीय आरण्यक, तैत्तरीय उपनिषद्, मैत्रायणी उपनिषद् एवं कठोपनिषद्। इसी वेद से सम्बन्धित आठ **सूत्र ग्रन्थ** भी प्राप्त होते हैं जो इस प्रकार है— आपस्तम्ब कल्पसूत्र, बोधायन श्रौतसूत्र, हिरण्यकेशी कल्पसूत्र, भारद्वाज श्रौतसूत्र, मानव श्रौतसूत्र, मानव गृह्यसूत्र, वाराह गृह्यसूत्र तथा काठक गृह्यसूत्र।

इन उपलब्ध शाखाओं का विस्तृत विवरण निम्नलिखित है—

१. वाजसनेयी शाखा–

इस शाखा का सम्बन्ध **शुक्लयजुर्वेद** से है। इसकी संहिता में ४० अध्याय एवं १९७५ मन्त्र हैं। इन अध्यायों में प्रथम २५ अध्याय विषयवस्तु की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें अनेक बड़े यज्ञों से सम्बन्धित वैदिक ऋषियों की प्रार्थनाओं एवं गीतों का संग्रह है। यह शाखा सम्पूर्ण उत्तर भारत में विशेषत: प्रचलित है। दक्षिण में महाराष्ट्र तथा मद्रास में इसका किञ्चित प्रचार है। एक विभाग **अनुवाकों** का भी उपलब्ध होता है जिसमें कुल ३०३ अनुवाक् हैं। इनमें मन्त्रों को **'कण्डिका'** संज्ञा प्रदान की गई है। ये कण्डिकाएँ **ऋक्** यथा **यजु:** में विभाजित हैं, जिनमें **ऋक्** पद्यमय तथा **यजु:** गद्यमय कण्डिकाएँ हैं।

प्राचीन काल में इस शाखा के अत्यधिक प्रचार का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि **महाराज जनमेजय** ने अपने **नाग-यज्ञ** में केवल **वाजसनेयी** ब्राह्मणों को आमन्त्रित करके उनका सत्कार किया था। कृष्णयजुर्वेदी ब्राह्मण होने के कारण **वैशम्पायन** नहीं बुलाए गए। अत: **जनमेजय** को **वैशम्पायन** ने शाप दे दिया जिससे वे तक्षक नाग द्वारा ग्रसित हुए। सम्प्रति **वाजसनेयी संहिता** का अनेक स्थानों से प्रकाशन हो चुका है। यथा— पारडी तथा अजमेर से इसका **शतपथ ब्राह्मण** भी प्रकाशित हो चुका है। इस संहिता पर अनेक विद्वानों ने भाष्यों का प्रणयन किया है, जैसे— **माधव, अनन्तदेव, आनन्दभट्ट, उव्वट, महीधर** तथा **महर्षि दयानन्द** आदि। इस पर हिन्दी भाष्यों की भी रचना हो चुकी है। वे भाष्यकार हैं— **स्वामी पूर्णानन्द, पं० जयदेव।**

२. काण्वशाखा–

यह शाखा भी **शुक्लयजुर्वेद** से सम्बन्धित है। आजकल इस संहिता का प्रचार

दक्षिण में अधिक है जबकि **ऋषि कण्व** उत्तर भारत के निवासी थे। उनका आश्रम **'मालिनी'** नदी के तट पर था। **यह नदी उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले में 'मालन' के नाम से अब भी एक छोटी नदी के रूप में उपलब्ध है।** यह शाखा उत्तर भारत में व्याप्त थी, इस बात का प्रमाण इसी संहिता के एक मन्त्र में उपलब्ध होता है। इस मन्त्र में कुरु तथा पञ्चालदेशीय राजाओं का उल्लेख है **'एष वः कुरवो राजा, एष पाञ्चालो राजो।'**

इसके पश्चात् इसका एक सुन्दर संस्करण मद्रास से प्रकाशित हुआ। **श्रीमान् सातवलेकर जी** ने औंध से इसका प्रकाशन किया। इस शाखा के अनुयायियों के उत्तरभारत में न मिलने के प्रमुख कारणों में एक तो यह है कि इनका सम्बन्ध **पाञ्चरात्रों** से है। ये **पाञ्चरात्र** वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। जब **वृष्णिवंशी, कृष्ण** के साथ दक्षिण चले गए, उसी समय इस शाखा के सभी अनुयायी भी वहाँ पहुँच गए।

३. कठ शाखा–

यजुर्वेद की २७ शाखाओं में **कठशाखा** का विशिष्ट स्थान है। पुराणों में **काठक** लोगों को **'माध्यम'** कहा गया है। अतः अनुमानत **कठानुयायी** मध्यप्रदेश के निवासी थे। **पतञ्जलि** का इसी शाखा से सम्बन्ध था। उन्होंने **महाभाष्य** में लिखा है— **'ग्रामे ग्रामे काठकं कापालकं च प्रोच्यते'** अर्थात् **काठक** तथा **कापालक** शाखाएँ गाँव गाँव में पढ़ी जाती थी। आजकल इस संहिता का अध्ययन करने वाले शून्य सदृश हैं। कुछ लोगों के मतानुसार **काठक** शैव थे तथा आज भी कश्मीर में मिलते हैं।

कठ संहिता में पाँच खण्ड हैं— **इठिमिका, मध्यमिका, ओरिमिका, याज्यानुवाक्या** तथा **अश्वमेधाद्यनुवचन**। इन खण्डों को **स्थानकों** में विभाजित किया गया है। इस शाखा में कुल ४० स्थानक, ८४३ अनुवाक, १३ अनुवचन, ३०९१ मन्त्र तथा **मन्त्र-ब्राह्मणों** की कुल संख्या १८००० है। इनमें **इठिमिका** के **१८ स्थानक** है, जिनमें **पुरोडाश, पशुबन्ध** तथा **राजसूयादि** याज्ञिक क्रियाओं का विवेचन है। **मध्यमिका** के १२ स्थानकों में **सावित्री तथा स्वर्गादि का विवरण है। ओरिमिका** में १० स्थानक हैं, जिनमें सत्र, **प्रायश्चित्ति, चातुर्मास्य, सौत्रामणियज्ञ** वर्णित हैं। **'अश्वमेधाद्यनुवचन'** में १३ **अनुवचन** प्राप्त होते हैं। **काठक संहिता** की एक हस्तलिखित प्रति भारत से जर्मनी पहुँच गई तथा वहीं १९१० ई० में इसका प्रकाशन हुआ। इसके सम्पादक **श्री श्रोदर महोदय** थे। भारत मे सन् १९४३ ई० में **स्वाध्याय मण्डल** की ओर से इसका एक संस्करण प्रकाशित किया गया। **डा० कालेण्ड** द्वारा भी कठ संहिता के एक भाग का प्रकाशन कराया जा चुका है।

(४) कपिष्ठल-कठ संहिता–

यह **कृष्णयजुर्वेद** की प्रसिद्ध शाखा है। **चरणव्यूहानुसार चरक** शाखा में '**कठाः प्राच्य कठाः**' तथा '**कपिष्ठल कठाः**' का निर्देश किया गया है। **कपिष्ठल** किसी प्राचीन प्रसिद्ध ऋषि की संज्ञा है क्योंकि इसका उल्लेख **वैयाकरण पाणिनि** तथा **निरुक्तकार दुर्गाचार्य** ने किया है। **पाणिनि** ने एक सूत्र में लिखा है– '**कपिष्ठलो गोत्रे**' (८/३/९१) तथा **दुर्गाचार्य** ने लिखा है– '**अहं च कापिष्ठिलोवासिष्ठः**' (निरुक्तटीका ४४)। **कपिष्ठल** किसी स्थान का नाम प्रतीत होता है। **कपिष्ठल का अपभ्रंश कैथल नामक एक ग्राम है, जो आजकल हरियाणा नामक प्रदेश का अङ्ग है।** यह ग्राम प्राचीनकाल से ही अति प्रसिद्ध रहा है। **काशिकावृत्ति** (८/३/९१) तथा **वराहमिहिर** की **बृहत्संहिता** (१४/४) में इस ग्राम का उल्लेख है।

इसका मूल ग्रन्थ कई दृष्टि से **काठक संहिता** से साम्य रखता है, किन्तु इसकी **स्वराङ्कन पद्धति ऋग्वेद** के सदृश है। इसका विभाजन भी **ऋग्वेदीय अष्टकों** के समान है। इसमें **आठ अष्टक** एवं **६४ अध्याय** थे जिसमें से आजकल केवल ६ अष्टक जीर्णशीर्ण अवस्था में उपलब्ध होते हैं। चतुर्थ अष्टक का २७वां अध्याय '**रुद्राध्याय**' है। सम्प्रति इस संहिता की एक अधूरी प्रति सरस्वती भवन, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय में सुरक्षित है। इसी की एक प्रति वेदाध्ययन के लिए यूरोप भेजी गई थी। इस प्रति के आधार पर **डा० रघुवीर** ने १९३२ में इसे प्रकाशित करवाया। इस पुण्य कार्य के सम्पादन के लिए डा० रघुवीर धन्यवाद के पात्र है।

मैत्रायणी शाखा–

इस शाखा की संहिता '**मैत्रायणी**' **गद्य पद्यात्मक** है। इसमें मन्त्र तथा ब्राह्मणों का सम्मिश्रण है। सम्पूर्ण संहिता चार काण्डों में विभाजित है। **प्रथम काण्ड** में ११ प्रपाठक हैं, जिनमें दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, वाजपेयादि का विवेचन है। **द्वितीय काण्ड** में १३ प्रपाठक है जिनमें काम्येष्टि एवं राजसूय यज्ञों का वर्णन उपलब्ध होता है। **तृतीय काण्ड** में १२ प्रपाठक हैं जिनमें चिति, सौत्रामणि तथा अश्वमेध यज्ञों की चर्चा की गई है। **चतुर्थ काण्ड** खिल रूप में है। उसमें १४ प्रपाठक हैं, जिनमें राजसूयादि यज्ञों की सम्पूर्ण जानकारी दी गई है। इस संहिता में कुल मन्त्रों की संख्या २११४ है। इन मन्त्रों में **ऋग्वेद** के विविध मण्डलों के १७०१ मन्त्र हैं। इस शाखा के अनेक मन्त्र **तैत्तरीय** तथा **काठक** संहिताओं में भी प्राप्त होते हैं।

इस शाखा के सम्पादक भी **जर्मन** के वेदज्ञ **डा० श्रोदर** हैं। भारत में इसका प्रकाशन १९९८ में **ओंध** से हुआ। **मैत्रायणी संहिता** की एक अन्य संज्ञा भी है– '**कालाप**

संहिता'। आचार्य **विश्वरूप** के अनुसार— '**नहि मैत्रायणी शाखा काठकस्य अत्यन्त विलक्षणा**' अर्थात् मैत्रायणी तथा काठक संहिता में कोई अन्तर नहीं है। दोनों समान है।

तैत्तिरीय शाखा–

इस शाखा की संहिता का दक्षिण के महाराष्ट्र तथा आन्ध्र प्रदेश में विशेष प्रचार हुआ है। **तैत्तिरीय संहिता** में ६ काण्ड, ४४ प्रपाठक तथा ६३१ अनुवाक हैं। इसमें मन्त्रों की संख्या २१९८ है। जैसी **ऋग्वेद** की **सर्वानुक्रमणी** है, वैसी इस संहिता की कोई सर्वानुक्रमणी नहीं है। **कृष्णयजुर्वेद** की अन्य शाखाओं के सदृश इस संहिता में भी गद्य पद्य तथा ब्राह्मण का सम्मिश्रण है। इसमें भी **राजसूय, वाजपेय, याजमान** तथा **पौरोडास** आदि यज्ञों की विस्तारपूर्वक समीक्षा की गई है किन्तु इस संहिता की व्याख्याओं में द्रविण प्रभाव छाया है। तैलंग तथा द्रविण ब्राह्मण, **तैत्तरीय संहिता** को ही **आपस्तम्ब** कहते हैं।

यह संहिता आदिकाल से विद्वानों के मध्य अत्यन्त समादृत रही है। इसका सम्पादन सर्वप्रथम **जर्मन** वेदज्ञ **डॉ० वैवर** द्वारा किया गया। इसका प्रकाशन अंग्रेजी मे सन् १९१४ ई० में हारवर्ड ओरियण्टल सीरीज द्वारा किया गया। अनुवादक थे- **डा० कीथ**। भारतवर्ष में इस संहिता पर सर्वप्रथम **भास्कर मिश्र** ने अपना भाष्य लिखा। यह भाष्य **मैसूर संस्कृत ग्रन्थमाला** से प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् **आचार्य सायण** ने इसका प्रामाणिक भाष्य प्रस्तुत किया। यह भाष्य भी **आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला** द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है। इस शाखा की संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र आदि सम्पूर्ण संहिता पूर्णतः सुरक्षित है। इसी कारण यह संहिता अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

सामवेदीय शाखाएँ–

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **सामवेद की शाखाओं** के विषय में लिखा है— '**सहस्रवर्त्मा सामवेदः।**' अर्थात् सामवेद एक हजार शाखाओं वाला है। **शौनक** ने भी अपने ग्रन्थ '**चरणव्यूह**' में **सामवेद** की एक हजार शाखाओं का निर्देश किया है। **चरणव्यूह, प्रपञ्चहृदय, जैमिनि गृह्यसूत्र** एवं **दिव्यावदान** के अनुसार सामवेद के १३ आचार्य थे, जिनके नाम ये हैं— **राणायन, सत्यमुग्र, व्यास, भागुरि, औलुण्डि, गौल्मुलवि, भानुमान, औपमन्यव, काराटिमशक, गार्ग्य, वार्षगण्य, कौथुमि, शालिहोत्र** एवं **जैमिनि**। ऐसा विश्वास किया जाता है कि प्राचीन काल में उपर्युक्त सभी आचार्यों की पृथक्-पृथक् शाखाएँ उपलब्ध थीं किन्तु आजकल ऐसा नहीं है। आज तो केवल तीन शाखाएँ ही दृष्टिगोचर होती हैं। **चरणव्यूह** के टीकाकार **महीदास** ने **सामवेद** की केवल **तीन शाखाओं** की उपलब्धि होते हुए बतलाया है। वे शाखाएँ निम्नलिखित हैं—

१. राणायनीय शाखा

२. कौथुमीय शाखा

३. जैमिनीय शाखा

इन शाखाओं का जितना साहित्य उपलब्ध होता है, वह निम्नलिखित है—

(अ) **ब्राह्मण ग्रन्थ–** ताण्ड्य ब्राह्मण (कौथुमीय), षडविंश ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण एवं जैमिनीय ब्राह्मण।

(ब) आरण्यक – छान्दोग्य आरण्यक (कौथुमीय) तथा जैमिनीय आरण्यक।

(स) उपनिषद् — छान्दोग्य उपनिषद् (कौथुमीय), केनोपनिषद् (जैमिनीय) एवं जैमिनीय उपनिषद्। **सामवेद** की तीनों शाखाओं के सूत्र ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, वे इस प्रकार हैं—

राणायनीय शाखा– द्राह्यायण श्रौतसूत्र और खदिर गृह्यसूत्र।

जैमिनि शाखा– जैमिनीय श्रौतसूत्र और जैमिनीय गृह्यसूत्र।

कौथुम शाखा– मशक कल्पसूत्र, लाटाय्या श्रौतसूत्र तथा गोभिल गृह्यसूत्र।

अब इन शाखाओं का विस्तृत परिचय निम्नलिखित है—

राणायनीय शाखा–

इस शाखा का प्रचार **महाराष्ट्रीय भट्टों** में सर्वाधिक है। इस शाखा के अनुयायियों में एक शाखा अन्य भी प्रचलित है। यह अवान्तर शाखा है। इसका नाम **'सात्यमुग्नि शाखा'** है। **मुनि आपिशलि** ने अपने शिक्षा ग्रन्थ में इस शाखा की विशेषता का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है— **'छन्दोगान सात्यमुग्नि राणायणीयाः ह्रस्वं पठन्ति।'** **महाभाष्यकार पतञ्जलि** भी इस बात पर सहमत है। उनका कथन है— **'न नु च भोः छन्दोगान सात्यमुग्निराणायनीया अर्धमेकारं अर्धभोंकारञ्जन अधीयते।'** अर्थात् सात्यमुग्निराणायनीय एकार एवं ओंकार का उच्चारण ह्रस्व ही करते हैं। इस वैशिष्ट्य के ग्रीकभाषा का प्रभाव कहने वाले पाश्चात्यभाषावैज्ञानिकों को संस्कृतभाषा के विषय में ऐसे निर्देशों को देखकर अपने विचारों को बदलना पड़ा।

जैमिनीय शाखा–

यह हर्ष का विषय है कि **जैमिनीय शाखा** के संहिता, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र सभी उपलब्ध हो चुके हैं। इसकी एक अवान्तर शाखा भी है— **'तवलकार'**। **केनोपनिषद्** का सम्बन्ध इसी अवान्तर शाखा से है। **तवलकार** नाम के एक ऋषि हुए है। इन्हें **जैमिनि के शिष्य** के रूप में जाना जाता है। **जैमिनीय ब्राह्मण** का अभिधान

ही **'तवलकार ब्राह्मण'** के रूप में प्रचलित है। यह संहिता **नागराक्षर** में लाहौर से प्रकाशित हो चुकी है। इसमें कुल १६८७ मन्त्र हैं। इनकी संख्या कौथुम शाखा के मन्त्र संख्या से १८२ कम है। **जैमिनीय शाखा** के सामगान **कौथुम शाखा** के सामगानों से एक हजार अधिक है। कौथुम गानों की संख्या केवल २७२२ हैं जबकि जैमिनीय गानों की संख्या ३६८१ है।

कौथुमीय शाखा–

इस शाखा की संहिता सर्वाधिक प्रचलित एवं जनप्रिय है। **कौथुमीशाखा** का विशेष प्रचार गुजरात के **नागर भट्टों** में है। **सायणकृत भाष्य** कौथुमीय शाखा पर ही उपलब्ध होता है। इस शाखा की एक अवान्तर शाखा भी प्राप्त है– **'ताण्ड्य।'** वेदान्त भाष्य के एक स्थल पर **आचार्य शंकर** ने भी **कौथुमीयसंहिता 'ताण्डय'** तथा **'शाट्यायिन-संहिताओं'** का नामोल्लेख किया है– **'अन्येऽपि शाखिनः ताण्डिनः शाट्यायिनः।** (शां०भा० ३/३) **ताण्ड्य ब्राह्मण** तथा **छान्दोग्य उपनिषद्** कौथुमीय शाखा से सम्बन्धित हैं।

अथर्ववेद की शाखाएँ–

पतञ्जलि ने महाभाष्य के **'पश्पशाह्निक'** में **अथर्ववेद** की नौ शाखाएँ बतलाई हैं। उन्होंने लिखा है– **नवधाऽथर्वणो वेदः।** **श्रीमद्भागवत्** एवं **वायुपुराण** के अनुसार कलियुग के आरम्भ में जब वेदादि को संगृहीत किया गया तो **वेदव्यास** ने **सुमन्तु** नामक शिष्य को **अथर्ववेद** का ज्ञान कराया। इनका दूसरा नाम **'दारुण'** भी है। सुमन्तु ने पुनः यह वेद अपन शिष्य **कबन्ध** को पढ़ाया। कबन्ध के भी दो शिष्य थे– (अ) **पथ्य** (ब) **देवदर्श**। इनमें से **पथ्य** के भी तीन शिष्य हुए। इन तीनों के नाम हैं– **जाजलि, कुमुद** और **शौनक**। **शौनक** के भी दो शिष्य थे– **बभ्रू** एवं **सैन्धवायन**। ये नौ शाखाएँ इन्हीं नौ ऋषियों की मानी जाती है। **चरणव्यूहकार** भी **अथर्ववेद** की नौ शाखाएँ मानते हैं, किन्तु शाखाओं की संज्ञा के बारे में मत भिन्नता है। आधुनिक प्रख्यात **वेदज्ञ पं० भगवत् दत्त जी** के अनुसार ६ नाम प्रायः सभी समान बतलाते हैं, वे हैं– **पैप्पलाद, मौद, शौनकीय, जाजल, देवदर्श** तथा **चारणवैद्य**। अन्य तीन शाखाएँ अनुमानतः ये हो सकती है– **स्तौद, जलद** तथा **ब्रह्मबल**। वर्तमान काल में उन नौ शाखाओं में से दो शाखाएँ ही शेष हैं। शेष ६ तो नष्ट हो चुकी हैं। उपलब्ध शाखाओं का क्रमशः विवेचन प्रस्तुत है।

पैप्पलाद शाखा–

यह शाखा जीर्णशीर्ण रूप में **शारदा लिपि** में झर्जपत्र पर उल्लिखित काश्मीर में

उपलब्ध हुई थी। कश्मीर नरेश **राजा रणवीर सिंह** ने इसे **डॉ० राथ** को सन् १८७५ ई० में सौंप दी थी। १८९५ मे राथ साहब के देहावसान हो जाने पर यह प्रति **ट्यूविंजन विश्वविद्यालय** की पुस्तकालय में रख दी गई। इस प्रति की एक फोटोस्टेट कापी अमेरिका के **वाल्टमोर नगर** से तीन जिल्दों में प्रकाशित हुई। भारत में इसकी दो प्रतियाँ जर्मनी जाने से पूर्व ही सुरक्षित कर ली गई थीं। इनमें से एक **भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट**, **पूना** में तथा दूसरी **बम्बई रॉयल एशियाटिक सोसाइटी** में सुरक्षित है। प्रपञ्चहृदयकार के अनुसार '**आथर्ववणिके पैप्पलाद शाखायां मन्त्री विंशति काण्डः।**' तात्पर्य यह है कि पैप्पलाद शाखा में ५० काण्ड थे। महाभाष्यानुसार पैप्पलाद शाखा का प्रारम्भ '**शन्नोदेवीरभिष्टय**' मन्त्र द्वारा होता है। किन्तु **शौनक संहिता** में इसकी स्थिति प्रथम काण्डान्तर्गत छठें सूक्त के आदि में है। इसका केवल एक '**प्रश्नोपनिषद्**' प्राप्त होता है। इसमें **सुकेशा** तथा **भारद्वाज** आदि ६ ऋषियों द्वारा पूछे गए प्रश्नों के **पिप्पलाद मुनि** द्वारा दिए गए उत्तर संगृहीत है।

शौनकशाखा–

शौनक शाखा की संहिता की संरचना १८ काण्डों मे हुई है तथा **काण्ड**, **प्रपाठक**, **अनुवाक्**, **सूक्त**, **मन्त्र**, **गण**, **पर्याय** तथा **अवसानों** में इसका विभाजन हुआ है। **बृहत् सर्वानुक्रमणिका** के काल में यह शाखा १९ काण्डों वाली हो गई। **आश्वलायन अनुक्रमणी** के अनुसार यह शाखा २० काण्डों की है। वे २०वें काण्ड के ऋषि एवं देवता का भी निर्देश करते हैं। **अथर्ववेद** की उपलब्ध **शौनक शाखा** ही मूल संहिता है। सम्प्रति इसमें २० काण्ड, ३४ प्रपाठक, १११ अनुवाक, ६६३ वर्ग, ६३१ सूक्त तथा ५९७७ मन्त्र हैं। **वायुपुराणानुसार** इस शाखा की संहिता के ६०२६ मन्त्र थे।

मौदशाखा–

इसका उल्लेख **महाभाष्य** (४।१।८६) तथा **शाबरभाष्य** (१।२१।३०) में प्राप्त होता है। **अथर्व परिशिष्ट** (२।५) में **मौद** तथा **जलद** शाखा वाले पुरोहित अत्यन्त गर्हित बतलाए गए हैं। इसके अनुसार इन पुरोहितों की उपस्थिति विनाश की सूचक है।

> **'पुरोधा जलदो यस्य मौदो वा स्यात् कदाचन।**
> **अब्दाद् दशभ्यो मासेभ्यो राष्ट्रभ्रंश सगच्छति।।'**

इस प्रकार का उल्लेख संभवतः **अभिचार मारणदि** के प्रयोग के कारण हुआ है।

संहिताएँ

प्रथम – ऋग्वेद

वैदिक मन्त्रों के संग्रहों को 'संहिता' कहा जाता है। वैदिक संहिताएँ मुख्यत: चार हैं :— **ऋक् संहिता, यजुः सहिता, साम संहिता** तथा **अथर्व संहिता**। इन चारों संहिताओं में से प्रत्येक का कुछ न कुछ निजी वैशिष्ट्य है किन्तु सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की विभिन्न रचनाओं में **ऋक् संहिता** अति महत्त्वपूर्ण एवं गौरवयुक्त है। विश्व के इतिहास में सभी विद्वान् एवं विचारक निर्विवाद रूप से ऋक् संहिता को प्रथम स्थान पर प्रतिष्ठित करते हैं। 'ऋक् संहिता' ही **ऋग्वेद** के नाम से प्रख्यात है। भारतीय धर्म तथा दर्शन की दृष्टि से भी ऋग्वेद की पूजनीयता सर्वत्र स्वीकार की गई है। **तैत्तरीय संहिता** में लिखा है कि—

''यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तत्, यद् ऋचा तद्दृढ़मिति'' (तै०स० ६/५/१०/३) ''अर्थात् जो विधान साम और यजुः के द्वारा सम्पादित होता है, वह शिथिल है, किन्तु ऋक् के द्वार सम्पादित अनुष्ठान ही दृढ़ होता है।''

पुरुषसूक्तानुसार भी ऋचाओं का प्रथम आगम हुआ—

''तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत।।''

(ऋ० १०/९०/९)

''अर्थात् जिस यज्ञ में सभी कुछ अर्थात् सबका आत्मरूप पुरुष आहुत कर दिया जाता है, ऐसे उस यज्ञ से ऋग्वेद और सामवेद उत्पन्न हुए। उससे गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुए, उससे यजुर्वेद उत्पन्न हुआ।''

पाश्चात्य वेदज्ञों के अनुसार **ऋग्वेद** भाषा एवं भाव की दृष्टि से भी अन्य वेदों की अपेक्षा नितान्त प्राचीन है। यह प्राचीनतम भारतीय साहित्य अवश्य है। **ऋग्वेद** की भाषा से यह भी सिद्ध होता है कि इसका प्रणयन किसी एक काल की निश्चित अवधि में नहीं हुआ। इसमें अति प्राचीन तत्त्वों तथा नवीन तत्त्वों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। इनकी स्थिति भी हिब्रू के स्त्रोतों के समान है, जिनकी रचना एक दीर्घ काल तक की गई और उसके पश्चात् उन्हें एक ग्रन्थ के रूप में पिरो दिया गया। **ऋग्वेद** का निर्माण काल कितना प्राचीन है, यह अधावधि अनुमान का ही विषय है। विद्वानों तथा वेद प्रेमियों के इस विषय में भिन्न-भिन्न विचार हैं। भारतीय मनीषियों के अनुसार वेद

अपौरुषेय हैं। प्रभु की वाणी हैं। वे पुरुषों के द्वारा लिखित नहीं है। स्वयं वेदों में ऐसे मन्त्र होते हैं, जिनमें ऋक्, यजु, साम एव अथर्व का उल्लेख है और उनको यज्ञ पुरुष परमेश्वर से प्रादुर्भूत स्वीकार किया गया है। पाश्चात्य विद्वान् मंत्रों के ऊपर लिखे हुए ऋषियों को मंत्रकर्ता मानते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऋग्वेद सर्वप्राचीन साहित्य है।

अब **ऋग्वेद** से तात्पर्य क्या है? ऋग्वेद का अर्थ है– **ऋचाओं का वेद**। तो **ऋचा** क्या है?' **ऋचा** की परिभाषा **जैमिनीय सूत्रों** में उपलब्ध होती है। वह इस प्रकार है– **''तेषामृग् यत्रार्थवेशन पाद व्यवस्था''** (२/१/३५) अर्थात् जिन मन्त्रों में अर्थवशात् पादव्यवस्था है, उन **छन्दोंबद्ध मन्त्रों को 'ऋक्' कहते हैं। वेद का अर्थ है ज्ञान**। इस प्रकार **ऋचाओं का ज्ञान** ऋग्वेद शब्द से अभिहित होता है।

ऋग्वेद का विभाजन

ऋग्वेद का विभाजन दो प्रकार के क्रमों से किया गया है– (क) **अष्टक क्रम**, (ख) **मण्डल क्रम**

(क) अष्टक क्रम :–

समस्त **ऋग्वेद** को आठ अष्टकों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ अध्याय हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण **ऋग्वेद** ६४ अध्यायों में संग्रहीत है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक अध्याय को **वर्ग** नामक अवान्तर विभागों में बाँटा गया है। **वर्ग** ऋचाओं के समूह का नाम है। इन वर्गों में प्राय: ऋचाओं की संख्या निश्चित नहीं है। सामान्यतया पाँच मन्त्र मिलकर एक वर्ग का निर्माण करते हैं, लेकिन ऐसे भी वर्ग उपलब्ध होते हैं जिनमें मन्त्रों की संख्या १ से लेकर ९ मन्त्रों तक है। इस वैषम्य का कारण अज्ञात है। समस्त वर्गों की संख्या २००६ है। ऋग्वेद संहिता की **वाष्कल** नामक शाखा इस विभाजन क्रम का प्रतिनिधित्व करती है। अधिकांश वेदज्ञों ने अष्टक विभाजन क्रम को अवैज्ञानिक तथा अप्रामाणिक माना है।

(ख) मण्डल क्रम :–

ऋग्वेद का द्वितीय विभाग **मण्डल क्रम** के नाम से जाना जाता है। शाकल शाखा इस विभाजन-क्रम का प्रतिनिधित्व करती है। विद्वानों के मध्य में **मण्डल क्रम** पर आधारित विभाग अधिक ऐतिहासिक, वैज्ञानिक तथा प्रामाणिक माना जाता है। इसके अनुसार ऋग्वेद १० मण्डलों में विभक्त है। इसी कारण निरुक्तादि ग्रन्थों में **ऋग्वेद** को **दाशतयी** की संज्ञा प्रदान की गई है। प्रत्येक मण्डल में अनेक **अनुवाक्** हैं। प्रत्येक

अनुवाक् में अनेक **सूक्त** तथा उन सूक्तों में अनेक **ऋचाएँ** अथवा मन्त्र संग्रहीत हैं। कात्यायन ने अपनी **सर्वानुक्रमणी** में इन सभी मन्त्रों की संख्या की गणना करके सपरिश्रम एकत्र उल्लेख किया है। प्राचीन वेद मर्मज्ञों ने वेदों की शुद्धता के निर्वाहार्थ ऋचाओं की क्या, अक्षरों तक की गणना कर रखी है। इससे कोई भी व्यक्ति इन वेदों में स्वनिर्मित नवीन मन्त्रों को देने का दु:साहस नहीं कर सकता। ऋग्वेद के १० मण्डलों में कुल ८५ **अनुवाक्** हैं। इन अनुवाकों में १०१७ **सूक्त** हैं। इन सूक्तों के अतिरिक्त ११ सूक्त और भी हैं, जिन्हें **बालखिल्य** कहा जाता है। दोनों को योग करने पर सूक्तों की कुल संख्या १०१७+११ = १०२८ हो जाती है। इन **बालखिल्य सूक्तों** का अधिक महत्त्व नहीं है क्योंकि इनको स्वाध्याय काल में पढ़ा जाता है। इन खिल सूक्तों का न तो पाठ उपलब्ध होता है और न ही इनके अक्षरों की गणना की जाती है। **खिल** का अर्थ होता है— **परिशिष्ट** अर्थात् अन्त में संलग्न किए गए मन्त्र। इन सूक्तों का स्थान अष्टम मण्डल में सूक्त ४९ से लेकर सूक्त ५९ तक है। इनके मन्त्रों की संख्या ८० है। इनके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान अनुपलब्ध है।

अनुवाकानुक्रमणी के ४३वें श्लोक के अनुसार ऋग्वेद के समस्त सूक्तों में निहित मन्त्रों की संख्या 10580¼ है—

> **''ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च।**
> **ऋचामशीतिः पादश्च पारणं संप्रकीर्तितम्।।''** (अनु० ४३)

अत: स्पष्ट है कि प्रत्येक सूक्त में औसतन १० मन्त्र हैं। इसी प्रकार अनुवाकानुक्रमणी के ही ४५वें श्लोक के शब्दों की संख्या के बारे में निर्देश है—

> **''शाकल्यदृष्टेः पदलक्षमेकं सार्धं च वेदे त्रिसहस्रयुक्तम्।**
> **शतानि चाष्टौ दशकद्वयं च पदानि षट् चेति हि चर्चितानि।।''**
> (अनु० ४५)

इस श्लोकानुसार ऋग्वेद में शब्दों की कुल संख्या १ लाख ५३ हजार ८ सौ छब्बीस है।

ऋग्वेदीय ऋचाओं की संख्या :-

मण्डलक्रम के विवेचन में ऋग्वेदीय ऋचाओं की संख्या 10580¼ कही गई है, इसलिए अब ऋग्वेदीय ऋचाओं की संख्या के पृथक् स्पष्टीकरण की क्या आवश्यकता ? वस्तुत: **ऋग्वेद** में **ऋक्** मन्त्रों की संख्या का निर्धारण भी एक जटिल समस्या है, विवादग्रस्त विषय है, विभिन्न पुरातन एवं नवीन वेदज्ञों ने इस समस्या को अपने अनुसार पृथक्-पृथक् ढंग से सुलझाया है। ऋचाओं की संख्या निर्धारण में

भिन्नता के दो कारण हैं— (१) प्राचीन वैदिक विद्वानों की गणना में **शाखा-भेद** का होना। (२) नवीन अथवा आधुनिक विद्वानों की गणना में **व्याप्त भ्रम**। भ्रम का मुख्य कारण यह है कि ऋग्वेद में कुछ ऋचाएँ ऐसी भी है जो प्रयोग काल में **द्विपदा** तथा अध्ययन काल में **चतुष्पदा** व्यवहृत होती हैं। ऋक् सर्वानुक्रमणी में लिखा है— "**द्विर्द्विपदास्त्वृचः समामनन्ति।**" ऋग्वेद में कुछ ऋचाएँ ऐसी भी हैं जो सदैव द्विपदा ही रहती है, कभी भी अपने द्विपदा रूप का परित्याग नहीं करती। इन्हें **नित्य द्विपदा** की संज्ञा प्राप्त है। ये मात्र १७ ऋचाएँ हैं। इन्हीं नित्य-नैमित्तिक द्विपदाओं के वास्तविक रूप से अनभिज्ञ होने के कारण मैक्समूलर, मैक्डानल आदि अनेक वैदिक विद्वानों ने भी अपनी गणना में त्रुटि की है। अतः नैमित्तिक द्विपदाएँ प्रयोगकाल में १४० तथा अध्ययन काल में केवल ७० ही रह जाती हैं। मन्त्रों की बड़ी संख्या में गड़बड़ी का एक अन्य कारण भी है; कहीं-कहीं खिलमन्त्रों की गणना ऋग्वेद के मन्त्रों के साथ नहीं करते। **खिलमन्त्रों** की कुल संख्या ८० है। इस प्रकार ऋग्वेद की कुल ऋक् संख्या १०५५२ है किन्तु अध्ययन काल में १४० नैमित्तिक द्विपदाओं के चतुष्पदा हो जाने के कारण ऋक् संख्या १०४८२ हो जाती है। इसमें **बालखिल्य** मन्त्र सम्मिलित हैं।

प्राचीनतम सूक्त :-

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार **ऋग्वेद** के मण्डलों में प्राचीन तथा अर्वाचीन मन्त्रों का संग्रह है। प्राचीनतम सूक्त द्वितीय मण्डल से लेकर सप्तम मण्डल तक उपलब्ध होते हैं। प्रत्येक मण्डल किसी ऋषि के वंश विशेष से सम्बद्ध है। इसीलिए इन मण्डलों को **वंशमण्डल** (Family Book) कहते हैं। भारतीय परम्परानुसार ये ऋषि ही मन्त्रों के प्रत्यक्षकर्ता हैं। ये छह ऋषि हैं— **गृत्समद** द्वितीय मण्डल के, **विश्वामित्र** तृतीय के, चतुर्थ के **वामदेव**, पञ्चम के **अत्रि**, षष्ठ के **भरद्वाज** तथा सप्तम के **वसिष्ठ**। यही ऋषि द्वितीय से सप्तम मण्डल तक के कर्ता के रूप में मान्य हैं। अष्टम मण्डल के सूक्तों के साक्षात्कर्ता ऋषि **कण्व** तथा **अंगिरा** वंश के हैं। नवम् मण्डल में समस्त मन्त्रों का प्रतिपाद्य **सोम-देवता** विषयक है। सोम का एक अभिधान **पवमान** भी है। अतः सोम विषयक मन्त्रों के संग्रह के कारण इसे **पवमान मण्डल** भी कहते है। अनुमानतः द्वितीय से लेकर अष्टम मण्डल तक संग्रहीत मन्त्रों को चुनकर ग्रन्थान्त में संलग्न कर दिया गया। उसके पश्चात् ग्रन्थ के प्रारम्भ तथा अन्त में एक एक मण्डल युक्त किए गए। अतः प्रथम तथा दशम मण्डल अपेक्षाकृत नवीन हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार इन मण्डलों का संकलनकर्ता एवं विभाजनकर्ता एक ही व्यक्ति है। दशम मण्डल के ऋषि

क्षुद्रसूक्त तथा **महासूक्त** कहलाते हैं। षड्गुरुशिष्यानुसार **नासदीय सूक्त** के पूर्व के सूक्त **महासूक्त** तथा **नासदीय सूक्त** के अनन्तर उपलब्ध सूक्त **क्षुद्रसूक्त** के रूप में मान्य हैं। सूक्तों के नाम पर ही ऋषियों का नाम इसलिए पड़ गया क्योंकि ऋषि ही सूक्तद्रष्टा हैं। तत्रत्यादि ऋषियों ने द्वितीय मण्डल से नवम मण्डल तक को **मध्यम** का अभिधान प्रदान किया है क्योंकि वे मध्य में विद्यमान हैं।

अनुक्रमाणिका में प्रथम मण्डल, नवम मण्डल तथा दशम मण्डल सूक्तों के ऋषियों के साथ रमणियों के भी नाम उपलब्ध होते है। वस्तुतः रचनात्मक रूप में इन नामों की अनुक्रमणिका का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। अतः वैदिक सूक्तों के वास्तविक प्रणेता अज्ञात हैं।

विषय वस्तु :-

विश्व की सर्वप्राचीन रचना **ऋग्वेद** की विषयवस्तु अत्यन्त ही व्यापक है। यह धार्मिक स्त्रोतों की एक विशाल राशि है। **भारोपीय** भाषापरिवार में ऋग्वेद का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि **ऋग्वेद** शब्द का तात्पर्य है— **ऋचाओं का ज्ञान**। ऋग्वेद में हमें **दो प्रकार** के मन्त्र मिलते हैं, **एक तो** वे हैं जो कि यज्ञों एवं देवस्तुतियों के प्रयोग में आते हैं। **दूसरे** वे हैं जो **ब्रह्मविद्या, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक** एवं **आर्थिक** विषयों पर प्रकाश डालते हैं। ऋग्वेद में यज्ञों का महत्त्व, देवताओं की उपासना आदि विषयों का विशद विवेचन हुआ है। इसमें सृष्टि रचना, दार्शनिक विचार, पशु-पक्षी आदि से सम्बद्ध भी कुछ मन्त्र मिलते हैं। इसमें कुछ **संवाद सूक्त** भी हैं। प्रायः मन्त्र **देवस्तुति** परक ही हैं परन्तु कुछ सूक्त ऐसे भी हैं जो किसी देवता से सम्बन्धित नहीं हैं। उनका सम्बन्ध मानव जीवन तथा **व्यावहारिक पक्ष** से है।

निरुक्तकार ने वैदिक देवताओं का विश्लेषण करके उन्हें क्रमशः **पृथ्वी, अन्तरिक्ष** तथा **द्युलोक** से सम्बन्धित होने के कारण तीन प्रकार का बतलाया है। **अग्नि, सोम, पृथ्वी** आदि देवता **पृथ्वी स्थानीय** हैं। **इन्द्र,** वायु, **रुद्र** आदि देवता **अन्तरिक्ष स्थानीय** हैं। **वरुण, सूर्य, उषस्** आदि देवता **द्युस्थानीय** हैं। इन देवताओं को भी चार भागों में विभक्त किया गया है—

(१) **प्राकृतिक शक्तिरूप देवता— सूर्य, इन्द्र, पूषा, सविता** आदि, (२) **गृहदेवता— अग्नि, सोम** आदि, (३) **कल्पनाजन्य देवता— श्रद्धा, मन्यु** आदि, (४) **गौण देवता— गन्धर्व, अप्सरा** आदि।

ऋग्वेद में इन देवताओं की शक्ति, प्रभुता एवं ऐश्वर्य के विषय में विस्तारपूर्वक विवेचन हुआ है। इसमें देवताओं का चित्रण विविध आयुधों एवं वाहनों के साथ हुआ है। कहीं कहीं **एकेश्वरवाद** की भावना झलक रही है। ऋग्वेद में हमें अनेक देवताओं की स्तुति मिलती है। ऋग्वेदीय देवताओं में तीन देवता अपनी विशिष्टता के कारण विशेष प्रसिद्ध हैं। वे हैं— **अग्नि, इन्द्र** तथा **वरुण**। अग्नि के लिए सर्वाधिक ऋचाएँ उपलब्ध होती हैं। इन्द्र की स्तुति भी ऋग्वेद में पर्याप्त की गई है। इन्द्र से सम्बन्धित लगभग २५ सूक्त हैं। **इन्द्र** विजय प्रदान करने वाला है, इसलिये इसका निरूपण सर्वाधिक तेजस्वी तथा वीररस सम्पन्न मन्त्रों के द्वारा हुआ हैं। तृतीय अति प्रसिद्ध देव **वरुण** है। यह प्राणियों की हृदयस्थ भावनाओं का ज्ञाता है। यह प्राणियों को उनके कर्मानुसार दण्ड तथा पारितोषिक वितरित करता है। इसका चित्रण कर्मफलदाता परमेश्वर के रूप में किया गया है। अतः इसके लिए स्निग्ध तथा उदात्त ऋचाएँ प्रयुक्त हुई हैं। देवियों में उषा को अत्यन्त ही सम्मान के साथ प्रस्तुत किया गया है। सर्वाधिक कवित्वपूर्ण एवं ललित ऋचाएँ ऊषा देवी के विषय में ही मिलती हैं। इनके अतिरिक्त जिन देवताओं की स्तुति में ऋचाएँ प्राप्त होती हैं, वे हैं— **सूर्य, द्यौ, सविता, विष्णु, पूषन्, अश्विनौ, अग्नि, पर्जन्य, उषा, सोम, यम** आदि। **सोम** का भी ऋग्वेद में पर्याप्त स्तवन हुआ है। ऋग्वेद में **यम** देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। **द्युलोक** के देवताओं में **द्यौ** की सर्वाधिक प्रतिष्ठा है। **विष्णु** की स्तुति **त्रिविक्रम** के रूप में की गई है। विष्णु को तीनों लोकों में व्याप्त बतलाया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि **ऋग्वेद** का मुख्य विवेच्य विषय देवताओं की स्तुति ही है। इन देवों का विशेष वर्णन **वैदिक देवतावाद** नामक अध्याय में किया गया है।

दशम मण्डल की अर्वाचीनता :-

जैसा कि पहले कहा जा चुका है दशम मण्डल अन्य मण्डलों की तुलना में नवीन माना जाता है। प्राचीनतम सूक्तों का बाहुल्य द्वितीय से सप्तम मण्डल तक प्राप्त होता है। कौन सा **सूक्त** अथवा **मण्डल** प्राचीन है और कौन सा नवीन है? इस समस्या का निश्चित समाधान सम्भव नहीं। फिर भी विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर दशम मण्डल की अर्वाचीनता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, जो कि निम्नलिखित है—

(क) भाषा पर आधृत विभिन्नता :

एक मन्त्र अथवा सूक्त भाषाभेद के कारण अन्य सूक्तों से भिन्न हो, यह संभव है, किन्तु यह अनिवार्य नहीं कि यही भाषाभेद उस मन्त्र की प्राचीनता अथवा नवीनता

का निर्णायक है। सूक्तों की भाषा केवल कालभेद से ही भिन्न नहीं होती बल्कि सूक्तों के प्रादुर्भाव तथा उद्देश्य के कारण भी भाषा में भिन्नता के आदर्श विद्यमान रहते हैं। ऋग्वेदीय **प्राचीनतम सूक्तों** में शब्दों में **रेफ** का प्रयोग अधिक मिलता है। इसके विपरीत **अर्वाचीन सूक्तों** में **रेफ** के प्रयोग का लोप सा होने लगा तथा रेफ के स्थान पर **लकार** के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ गई। यथा— प्राचीन गौत्र मण्डलों में जल वाचक **सलिल** शब्द को **सरिर** के रूप में प्रयोग किया गया है जबकि दशम मण्डल में **सलिल** का ही प्रयोग हुआ है। प्राचीन तथा अर्वाचीन सूक्तों की भाषा में व्याकरण सम्बन्धी भिन्नताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। प्राचीन सूक्तों में पुल्लिंग अकारान्त शब्दों में प्रथमा द्विवचन के प्रत्यय के रूप में **आ** का प्रयोग अधिक हुआ है। जैसे— **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया** (ऋग्वेद १/१६१)। इसके विपरीत **दशम मण्डल** में पुल्लिंग, अकारान्त, प्रथमा, द्विवचन के प्रत्यय के रूप में **औ** का प्रयोग मिलता है। यथा— "**मा वामेतौमा परेतौरिषाम्**" (ऋ० १०/१७८/२), "**सूर्याचन्द्रमसौधाता**" (१०/१९०/३)। **प्राचीन सूक्तों** में क्रियार्थक क्रिया को प्रकट करने के लिए **तवै, से, असे, अध्यै** आदि **प्रत्यय** प्रयुक्त होते हैं। यथा— **कर्तवै, जीवसे, अवसे** आदि, किन्तु दशम मण्डल में इन सबके स्थान पर मात्र **तुम्** के प्रयोग का आधिक्य है। यथा— कर्तुम्, जीवितुम्, अवितुम् आदि।

(ख) छन्दों पर आधृत भिन्नता :

भाषा के अनन्तर वैदिक सूक्तों का रचनाकाल मुख्यतः छन्दों की भिन्नता द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। वेदों में **दो प्रकार** के छन्द उपलबध होते हैं। **प्रथम** तो वे जो शास्त्रीय संस्कृत कविता के छन्दों से कोई साम्य नहीं रखते हैं। **दूसरे** वे जो शास्त्रीय संस्कृत कविता के छन्दों से साम्य रखते हैं। इस प्रकार के छन्द पूर्णतया वैदिक छन्दों की अपेक्षा अधिक ताल एवं लययुक्त होते हैं।

प्राचीनतम सूक्तों में छन्दोगत विन्यास मुख्य रूप से वर्णों की संख्या पर आधारित था, किन्तु **अर्वाचीन सूक्तों** में प्राप्य मन्त्रों में लघु गुरु के विन्यास का भी विशेष आग्रह दृष्टिगत होता है। इससे वैदिक छन्दों के पठन-पाठन में शास्त्रीय संस्कृत के छन्दों के समान आनन्द आने लगा। छन्दों के उच्चारण में स्वर तथा लय का महत्त्व बढ़ गया। यथा— **पुरुष सूक्त** का **अनुष्टुप्** प्राचीन अनुष्टुप् न होकर वैदिक अनुष्टुप् के सदृश है।

(ग) देवों पर आधृत भिन्नता :

दशम मण्डल में ऐसे अनेक नवीन देवताओं का निरूपण प्राप्त होता है, जिनका

प्राचीन मण्डलों में नामोल्लेख तक नहीं किया गया है। इस मण्डल में निरूपित देवों के स्वरूप में भी नवीनता है। प्राचीन कहे जाने वाले सूक्तों में उपलब्ध **वरुण** के स्वरूप में तथा दशम मण्डल में उपलब्ध **वरुण** के स्वरूप में स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होता है। पूर्वसूक्तों में **वरुण** समस्त विश्व के नियन्ता एवं सर्वशक्ति सम्पन्न देवता के रूप में प्रतिष्ठित हैं जबकि इस मण्डल में उन्हें मात्र जल का अधिपति ही वर्णित किया गया है। नूतन देवगण मानस प्रवृतियों के प्रतिनिधि के सदृश चित्रित किए गए हैं। यथा– **श्रद्धा** (ऋग्वेद १०/१५१) का अत्यन्त उत्कृष्ट वर्णन यहाँ प्राप्त होता है–

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।।१।।

(ऋ० १०/१५१/१)

अर्थात् श्रद्धा के द्वारा गार्हपत्यादि अग्नि-त्रय को प्रज्ज्वलित किया जाता है। श्रद्धा के द्वारा पुरोडाशादि हवियों को आहुत किया जाता है। भाव यह है कि यज्ञ करते हुए श्रद्धा से अग्नि प्रज्जवलित करनी चाहिए, श्रद्धा से आहुतियों को आहुत करना चाहिए। श्रद्धा के साथ यज्ञ करने पर यजमान प्रमुख ऐश्वर्य को प्राप्त करता है।''

इसी प्रकार **गाय** के लिए सूक्त (१०/१६९) **अरण्यानी** (अरण्य की देवी) तथा **ज्ञान** के लिए सूक्त (१०/७१) प्रयुक्त हुए हैं। **ज्ञानसूक्त** में ही कहा गया है कि वैदिक संहिता में चारों ऋत्विजों (होता, उद्‌गाता, ब्रह्मा एवं अध्वर्यु) के विशिष्ट कर्मों के लिए आवश्यक मन्त्रों का संग्रह है–

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः।।

(ऋ० १०/७१/११)

''अर्थात् कोई विद्वान् वेद मन्त्रों के पोषण को पुष्ट करता हुआ रहता है। कोई शक्वरी नामक ऋचाओं में गाने योग्य मन्त्रों (साम) को गाता है। कोई यज्ञ का ब्रह्मा या अथर्ववेद का ज्ञाता शिल्प-विद्या को कहता है और कोई यज्ञ की विधि को विशेष रीति से बतलाता है।''

(घ) दार्शनिक तथ्यों में भिन्नता :

दशम मण्डल में अनेक ऐसे सूक्त उपलब्ध होते हैं जिनमें दार्शनिक तत्त्वों का समुचित विवेचन है। इन सूक्तों में ऐसे अनेक मन्त्र दृष्टिगत होते है जिनमें आर्यों के दार्शनिक चिन्तनों की गूढ़ता तथा विकास द्योतित होता है। आर्यजनों के चिन्तन का

यही विकास दार्शनिक भिन्नता का जनक है। इस प्रकार के सूक्तों में **नासदीयसूक्त** तथा पुरुष सूक्त का विशेष महत्त्व है। पश्चिमी वेदज्ञों ने इस विकास को **बहुदेववाद एकदेववाद—सर्वेश्वरवाद** के रूप में उत्तरोत्तर विकसित बतलाया है। सर्वेश्वर-वाद का तो **पुरुष सूक्त** में स्पष्ट निदर्शन है। इस प्रकार **दशम मण्डल** का **वंश मण्डल** से पार्थक्य स्वयं सिद्ध है।

(च) विषय की नवीनता :

दशममण्डल में सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक विषयों से ग्रथित अनेक सूक्त प्राप्त होते हैं। कुछ सूक्तों में विवाह तथा श्राद्ध विषयों से सम्बद्ध मन्त्र हैं। जैसे— ऋग्वेद के १०/८५ सूक्त में उषा तथा सोम का विवाह वर्णित है। इस सूक्त में तत्कालीन सामाजिक दशा का सुन्दर निदर्शन है। इस सूक्त में पति-पत्नी को साथ रहने तथा सन्तानोत्पत्ति की शिक्षा दी गई है—

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं१ सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः।।

(ऋ० १०/८५/२७)

"अर्थात् हे वधू! इस घर में तेरा प्रियभाव सन्तान से फले फूले। इस घर में गृहस्थ के कर्तव्य के लिए जागती रह। सावधानी से पति के प्रबन्ध को कर। इस पति के साथ अपने शरीर को मिला दे। पति के कार्यों में हाथ बँटा और जीर्ण हुई वृद्धि को घर में आज्ञा देती रह।"

इसी सूक्त में पतिगृह में आगमन करने पर पत्नी को कल्याण युक्त, पतिप्रिया तथा वीर प्रसविनी होने की कामना की गई है। यह कामना सर्वोत्कृष्ट तथा गौरवशाली है। यह उत्तम प्रभाव की उत्पादिका है—

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।

(ऋ० १०/८५/४४)

"अर्थात् हे वधू! कठोर नेत्र वाली नहीं, किन्तु शीलयुक्त नेत्र वाली, पति को हनन करने वाली अर्थात् कष्ट देने वाली नहीं, किन्तु सुख पहुँचाने वाली प्राप्त हों। घर के पशुओं के लिए कल्याणकारिणी प्रसन्नमन सुन्दर शक्तियुक्त हों। वीर सन्तान उत्पन्न करने वाली, घर में देवर, जेठ आदि के प्रति अच्छी भावना वाली तथा देव भावना वाली, दैवीवृत्ति वाली, हमारे द्विपद और चतुष्पद के लिए शुभकारिणी हों।"

दशम मण्डल के कुछ सूक्तों में ऐसे मन्त्र मिलते हैं जिनमें मृत्यु के पश्चात् शव संस्कार के क्रिया कर्म का विवेचन किया गया है। इन मन्त्रों से शव को भूमि में गाड़ने का संकेत प्राप्त होता है। अत्यन्त मनोहर उपमा के द्वारा इस विषय का निरूपण हुआ है—

'माता पुत्रं यथा सिचाऽभ्येनं भूमं ऊर्णुहि।'

''अर्थात् जिस प्रकार माता अपने पुत्र को वस्त्र से ढक देती है, हे भूमि! तुम भी इस शव को उसी प्रकार स्वयं ढक लो।'' इसी मण्डल में विभिन्न पितरों के अत्यन्त मार्मिक संकेत प्राप्त होते हैं। शव से यमलोक पहुँचने पर पितरों की संगति करने को कहा गया है। यथा—

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः।।

(ऋ० १०/१४/८)

'अर्थात् हे पुरुष एवं हे स्त्री! तू पालन करने वाले माता, पिता, गुरुजनों से सत्संग कर। नियन्ता जन से और सर्व उत्कृष्ट आकाश तुल्य रक्षा स्थान परमात्मा के अधीन रह कर यज्ञदानादि साधनों से सर्वदा युक्त रहे। निन्दनीय कार्य को त्याग कर बार-बार गृह को प्राप्त हो और तेजस्वी बनकर सन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्री तथा कुलवर्धक पुत्रादि से संगति का लाभ प्राप्त कर।'

इस प्रकार उपर्युक्त विभिन्न दृष्टिकोणों से मनन किए जाने पर यह सिद्ध होता है कि **दशममण्डल** वंशमण्डल की अपेक्षा अर्वाचीन है।

दशम मण्डल की अर्वाचीनता के समर्थन में अन्य विद्वानों के मत–

अनेक पाश्चात्य तथा पौरस्त्य वेदज्ञों ने दशम मण्डल को अर्वाचीन माना है। उनके अनुसार सम्पूर्ण ऋग्वेद एक ही काल में नहीं लिखा गया। कुछ प्रमुख विद्वानों की इस सम्बन्ध में उक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(अ) गेटे का मत–

गेटे ने अपनी पुस्तक 'Lectures on Ṛgveda' में द्वितीय से सप्तम मण्डल पर्यन्त तक मन्त्रों को **वंश-मण्डल** कहा है। प्रत्येक मण्डल के मन्त्रद्रष्टा एक ही ऋषि अथवा उसके वंशज हैं। उनके अनुसार— 'They are homogeneous in character and arrangement.'

(ब) ओल्डेन वर्ग का मत–

इनका मत है कि **वंशमण्डल** की रचना के अनन्तर **प्रथम** तथा **दशम मण्डल** संलग्न किये गये। इन मण्डलों की भाषा, व्याकरण, छन्द, भाव तथा विवेच्य विषय अन्य मण्डलों की तुलना में नितान्त भिन्न तथा विकसित है। ओल्डेन वर्ग महोदय ने स्वयं कहा है–

'When we have once admitted the fact that the tenth maṇḍala of the Ṛgveda have gathered up the many periods and the original composition of the hymns was probably the work of several centuries, than we can distinguish earlier from later hymns.'

(स) सुकठणकर का मत–

इनका भी यही मत है कि ऋग्वेद की ऋचाओं में हम सरलता से प्राचीन तथा अर्वाचीन ऋचाओं को छांट सकते हैं क्योंकि इनकी रचना में शताब्दियों का अन्तर है। उनके अनुसार–

The form in which the Saṁhitā of the Ṛgveda has comedown to us clearly shows the different hymns were composed long before. They were brought together and systematically arranged that the different portions of saṁhitā represent chronologically different stages flowed from various indications of language vocabulary, style grammar, matter and lastly ideas. The tenth maṇḍala is indeed the aggregate of supplementary hymns clearly showing their familiarity with the first nine.

दशम मण्डल की अर्वाचीनता के विरोध में विद्वानों के मत–

अधिकांश विद्वानों ने दशम मण्डल को अन्य मण्डलों की अपेक्षा नवीन स्वीकार किया है, किन्तु कुछ विद्वान् इस पौर्वापर्य को नहीं मानते। उनके अनुसार सम्पूर्ण ऋक्संहिता की रचना समकालिक है। इनमें पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी तथा डॉ० कपिल देव द्विवेदी आदि प्रमुख हैं। इनके मत निम्नलिखित हैं–

(क) पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी का मत–

पण्डित जी का कथन है कि ऋग्वेद के **अष्टक क्रम** में तो मण्डलों का नामोल्लेख तक नहीं दिखलाई पड़ता, इसलिए दशम मण्डल की रचना को अनन्तरकालीन कहना उचित नहीं है। उन्होंने अपने विचारों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

"...........दशममण्डलस्यऋक् परिशिष्ट रूपत्वं कल्पयितुं तैः भाषापार्थक्यप्रदर्शनादि स्वीकृत दशम मण्डलस्य भाषा मन्त्रार्थ गततात्पर्याणि पृथगेवेति.........किमत्रब्रूमों वयम्? अस्मच्छ्रुतिषुहि दशममण्डलस्य मण्डलान्तराणाञ्च भाषा एकविधैवोपलभ्यते, अस्मद्‌बुद्धिषु च तथैकविधमेव तात्पर्यमिति न जानीमहे केषां बुद्धिमालिन्यं केषां वा श्रवणोन्द्रिय दुष्टत्वं केषां वा हठकारित्वमिति।"

वस्तुतः सामश्रमी जी का तर्क विचारणीय तथा सम्माननीय है।

(ख) डॉ० कपिलदेव द्विवेदी का मत–

श्री द्विवेदी जी भी मण्डलों के इस पृथकतावादी सिद्धान्त से सहमत नहीं है। इनका अभिमत है– "वास्तविकता की दृष्टि से विचार किया जाए तो पाश्चात्य विचारों में काफी थोथापन है। .....उन्होंने परकालीन अंश बताकर बात समाप्त कर दी है, परन्तु कहीं भी उसका स्पष्ट और पुष्टकाल निर्धारण नहीं किया। भाषा, व्याकरण आदि का जो तर्क उपस्थित किया जाता है, वह बहुत लचर है और परीक्षा निकष पर खरा नहीं उतरता। **दशममण्डल** वस्तुतः ऋग्वेद का **नवनीत** है। इसमें पुरातन सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं भावात्मक महत्त्व के प्रतिपादक सूक्त विशेष रूप से संग्रहीत है। वस्तुतः ऋग्वेद में पूर्वकालीन और परकालीन संग्रह जैसा कोई भेद नहीं है।"

डॉ० कपिल देव जी द्विवेदी के अनुसार **ऋग्वेद** के संग्रह में प्रयुक्त सिद्धान्तों का विवेचन निम्नलिखित हैं–

१. ऋषि परिवारों से सम्बन्धित मंत्रों को प्रधानता प्रदान की जाये।

२. जहाँ पर उपर्युक्त सिद्धान्त न प्रयोग किया जा सके वहाँ विषय की समानता को मुख्यता दी जाए।

३. सोम से सम्बन्धित मंत्र सर्वाधिक है, अतः उन्हें एक स्थान पर रखा जाये।

४. जो मन्त्र ऋषिक्रम अथवा विषयक्रम में ग्रथित न किये जा सकें, उन्हें अलग ग्रन्थान्त में रखा जाये।

इन विपरीत विचारों के दृष्टिगत होने पर अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्प्रति यह समस्या जटिल एवं विवादास्पद है, इसलिए इस विषय पर गम्भीर अध्ययन, मनन तथा पुनर्विचार की अत्यधिक आवश्यकता है।

दानस्तुति–

ऋग्वेद में कतिपय सूक्त तथा मन्त्र ऐसे मिलते हैं, जिन्हें **दानस्तुति** कहा जाता है। इन सूक्तों में धार्मिक तथा धर्महीन काव्य के मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया गया

है। इन दान स्तुतियों के स्वरूप एवं तात्पर्य के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। आधुनिक विद्वान् इन सूक्तों को किसी पुरातन राजा के विशाल दान से तृप्त ऋषि द्वारा दाता की स्तुति स्वीकार करता है। परन्तु भारतीय वेदज्ञ इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार वेद में कहीं भी ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है, अतः इनमें किसी व्यक्ति विशेष की दान महिमा का स्तुत्य वर्णन कहना उचित नहीं प्रतीत होता है। इस प्रकार के सूक्तों की संख्या के बारे में विद्वान् किसी एक निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं। कुछ विद्वान् इस प्रकार के सूक्तों की संख्या चालीस के लगभग बतलाते हैं। **कात्यायन** ने अपनी **ऋक्सर्वानुक्रमणी** में मात्र २२ सूक्तों में ही दान स्तुतियों का उल्लेख किया है किन्तु आधुनिक वेदज्ञों ने अत्यन्त परिश्रम करके ६८ सूक्तों में दानस्तुतियों का अन्वेषण कर डाला है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का १२६वाँ सूक्त **दानस्तुति** कहा जा सकता है। इन सूक्तों को **विनय सूक्त** अथवा **याज्ञिक गीत** भी कहा जा सकता है क्योंकि इनमें यज्ञ के रक्षक की विनती की गई है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में एक सूक्त में दान की महिमा का दिव्य प्रतिपादन हुआ है। इसके छठे मन्त्र के अनुसार स्वार्थ के लिये व्यय किया गया धन पाप का हेतु है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।।

(ऋ० १०/११७/६)

"अर्थात् अनुदार चित्त वाला व्यक्ति अन्न-धन को व्यर्थ पाता है, उसका धन निरर्थक है। मैं सत्य कहता हूँ उसकी यह मृत्यु ही है। कंजूस को सैकड़ों खतरे लगे रहते हैं। वह नियामक ईश्वर को तृप्त करता है यज्ञ उपासना के द्वारा। न दान द्वारा मित्र को पुष्ट करता है। केवल अपने भोगों की पूर्ति करने वाला केवल पाप रूप होता है। भाव यह है कि केवल अपने भोग विलास में धन लगाना पाप है, यह मानव जीवन नहीं मृत्यु है।"

इसी सूक्त के चौथे मन्त्र में मित्र को दान दिये जाने की अनिवार्यता का उत्तम प्रतिपादन हुआ है—

'न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात् प्रेयान् न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्।।'

(ऋग्वेद १०/११७/४)

'अर्थात् जो साथ रहने वाले, सेवा करने वाले मित्र के लिये अन्न नहीं देता है, वह सच्चा मित्र नहीं है। इससे दूर रहो। वह आश्रय नहीं है, उचित सहारा नहीं है। पालन करने वाले अन्य विरोधी के पास भी जाना चाहिये।'

सम्वाद-सूक्त–

ऋग्वेद में जिस प्रकार दार्शनिक सूक्त, उपनिषदों के दार्शनिक विवेचन से सम्बद्ध है, उसी प्रकार उसके कुछ सूक्त महाकाव्यों एवं नाटकों से सम्बन्ध रखने वाले हैं। इन सूक्तों में कथोपकथन की मुख्यता है तथा ये सूक्त संवादात्मक स्वरूप में कथा एवं आख्यायिकाओं के अंश हैं, इसीलिए इनको **संवाद-सूक्त** का नाम दिया गया है। इन सूक्तों की संख्या लगभग बीस है, जिनमें से प्रमुख ये हैं– **इन्द्र वरुण सम्वाद** (४/२२), **यम यमी संवाद** (१०/१०), **वरुण-अग्नि संवाद** (१०/५१), **देवगण-अग्नि संवाद** (१०/५२), **इन्द्र-इन्द्राणी संवाद** (१०/४६), **उर्वशी-पुरुरवा संवाद** (१०/९५), **सोम सूर्या संवाद** (१०/८५), **सरमा-पणि संवाद** (१०/१०८) आदि।

इनके स्वरूप के विषय में पाश्चात्य वेदज्ञों में गहरी विप्रतिपत्ति है। वेदों तथा वैदिक साहित्य के अध्येता पाश्चात्य विद्वानों **मैक्समूलर** तथा **ओल्डेन बर्ग** के अनुसार ऋग्वेदीय संवाद सूक्तों के आधार पर ही नाट्य की उत्पत्ति हुई है। डॉ० **ओल्डेनबर्ग** ने ऋग्वेदीय सम्वादसूक्तों को **आख्यान** की संज्ञा प्रदान की है। इनके अनुसार ऋग्वेद के आख्यान मूलतः गद्य पद्य मिश्रित थे। गद्य भाग अपनी नीरसता के कारण समाप्त हो गया, जबकि पद्य भाग ने अपनी सरसता एवं रोचकता के कारण अस्तित्व बनाये रखा। इसके विपरीत डॉ० **हर्टल**, श्री **श्रोदर** एवं डॉ० **सिल्वा लेवी** ने इन्हें **नाटकों का अवशिष्टांश** कहा है। उनके अनुसार ये धार्मिक अवसरों में अभिनीत धार्मिक नाट्य अभिनय है। तृतीय मत डॉ० **विन्टरनिट्ज** का है। इनके अनुसार ये सम्वाद छन्दोबद्ध प्राचीन वीर काव्य हैं तथा इनमें वर्णनात्मक एवं नाटकीय तत्त्वों का निरूपण हुआ है। **विन्टरनिट्ज** ने इन्हीं से अवान्तरकाल में **एक ओर महाकाव्य** तथा **दूसरी ओर नाटकों के उत्पत्ति** की सम्भावना व्यक्त की है। इन सम्वाद सूक्तों में वैदिक संस्कृति, समाज, धर्म तथा दर्शन के संकेत प्राप्त होते हैं। इनमें काव्य तत्त्व तथा समाजिक व्यवहारिकता दोनों का उत्कृष्ट निदर्शन उपलब्ध होता है।

ऋग्वेदीय सम्वाद-सूक्तों में चार सूक्तों का विशेष महत्त्व है। ये निम्नलिखित हैं–

(अ) पुरुरवा-उर्वशी-सम्वाद (१०/९५)

(क) यम यमी संवाद (१०/१०)

(स) सरमा-पणि संवाद (१०/१०८)

(द) सूर्या सूक्त (१०/८५)

(अ) पुरुरवा-उर्वशी-सम्वाद – ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों में सर्वाधिक प्रख्यात **दशम मण्डल** का ९५वाँ सूक्त है। १८ ऋचाओं वाले इस सूक्त में **मानव पुरुरवा** तथा **अप्सरा उर्वशी** का संवाद है। यह कथा रोमाञ्चक प्रेम का भव्य उदाहरण है। इसमें स्वर्गलोक की सुन्दरी उर्वशी भूतल के राजा की पत्नी बनकर निरन्तर चार वर्षों तक साथ रहती है और अन्ततः गर्भवती हो जाने पर उसका साथ त्याग कर निर्मम के सदृश चल देती है। उर्वशी के विरह में पुरुरवा व्यग्र होकर ढूँढते हुए एक दिन उसे रमणीक सरोवर में जल क्रीड़ा करते हुए खोज डालते हैं। इन्हीं विषयों पर संवाद ग्रथित है। यह अत्यन्त दुर्बोध एवं क्लिष्ट है किन्तु इसके भाव स्पष्ट हैं। पुरुरवा का कथन है—

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन्परतरे चनाहन्।।१।।

(ऋ० १०/९५/१)

अर्थात् हे अश्व के तुल्य बलवति, हे पुत्रोत्पन्न करने में समर्थ स्त्रीतुल्य, अपने नायक को अपने बल पराक्रम से प्रसिद्ध करने वाली या जय दिलाने वाली! हे घोर दुष्कर संग्राम करने वाली! तू मन को दृढ़ करके स्थिर हो। सेना व सेनापति हम दोनों परस्पर प्रतिज्ञा वचनों को करें। क्या हम दोनों की आपस की मन्त्रणाएँ भविष्यार्थ सुख प्रदान नहीं कर सकती? उर्वशी उत्तर देती है—

किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव।
पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वातइवाहमस्मि।।२।।

(ऋ० १०/९५/२)

अर्थात् उषा जिस तरह से सूर्य के आगे चलती है, इसी प्रकार सेना सर्वाग्रगामी बनकर तेरे आगे चलूँ, तो इस मन्त्रणा वाणी की क्या विशेष आवश्यकता है? हे अनेक सैन्य दल को आज्ञा देने वाले सेनापति, प्रबल कार्यों से भवनों की भाँति सदा सबका कल्याण व रक्षा करने वाले होकर मनोयोग दें। वे जरा रहित मनुष्यों का समवाय बनाने वाले, अश्वों से वेग से जाने में समर्थ, गर्जन ध्वनि से आकाश व पृथिवी में अपने सन्देश सुनाने वाले हों।

उर्वशी ने प्रेम की भिक्षा के लिये याचनारत पुरुरवा की प्रार्थना को कितनी

निर्ममता से तिरस्कृत किया। यह वार्तालाप आगे चलता है। पुरुरवा अधिक नम्रतापूर्वक प्राचीन विषयों का स्मरण दिलाता है, किन्तु सब व्यर्थ जाता है। वह तड़फ उठता है—

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः।।

(ऋ० १०/९५/१४)

अर्थात् यदि उत्तम विजीगिषु अरक्षित हो सुदूर परदेश को प्रस्थान करे और शत्रु सेना के निकट असावधान होकर प्रमाद करे तब बलवान् भेड़ियों की भाँति चोर, डाकू आदि शत्रुजन उसे नष्ट कर देते हैं। भाव यह है कि जो सेनानायक शत्रु-सेना के समक्ष असावधानी व प्रमाद बरतता है, वह प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ रहता है और शत्रुओं द्वारा किये जाने वाले विनाश का उत्तरदायी बनता है।

इस बात पर उर्वशी ने पुरुरवा को जो उत्तर दिया है, वह अनादिकाल तक स्त्री जाति का भूषण सदृश रहेगा। उसका कथन है—

पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।।१५।।

(ऋ० १०/९५/१५)

अर्थात् हे अनेकों के शासक! तू मृत्यु को न पा, तेरा पतन न हो। अकल्याणकारी स्वभाव के व्यक्ति तुझको न खाएँ। तू स्मरण रख कि स्त्री आदि भोग्य पदार्थों के उद्देश्य से किए गए मैत्रीकार्य यथार्थ नहीं होते, वे तो वन के कुत्तों या भेड़ियों के हृदयों के सदृश छल व क्रूरतादि से परिपूर्ण होते हैं।

सम्वादों में वह विषय उभरकर सामने आते हैं, जो सामान्यतया एक सच्चे प्रेमी तथा धोखेबाज प्रेयिसी के मध्य होते हैं। **शतपथब्राह्मण**, **विष्णुपुराण**, **महाभारत** आदि ग्रन्थों में भी इस कथा का निरूपण है। किन्तु इसका श्रेष्ठ रूप **महाकवि कालिदास** के नाटक **विक्रमोर्वशीय** में उपलब्ध होता है।

(क) यम-यमी संवाद – ऋग्वेद के दशम-मण्डल के दशम सूक्त में **यम-यमी** का परस्पर विलक्षण संवाद है। इसमें यमी अपने भ्राता यम को सन्तानोत्पत्ति के लिए व्यभिचारार्थ लुभाती है। वह वासना तथा कामासक्त होकर भाई का आह्वान करती है, किन्तु कोमल तथा मधुर भावना वाला भाई, बहन के इस प्रस्ताव को अस्वाभाविक कहकर ठुकरा देता है। ये सम्वाद भी दुर्गम तथा नाटकीय अधिक है। इन सम्वादों का

स्वरूप निम्नलिखित मन्त्रों से स्पष्ट हो जाता है। कामाग्नि से संतप्त यमी का कथन है—

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः।।५।।

(ऋ० १०/१०/५)

अर्थात् जन्म देने वाला पिता, कन्या को पुरुष के हाथ में प्रदान करने वाला तेजस्वी सर्व उत्पादक विश्वात्मा गर्भ धारण हेतु हम दोनों नर-नारी को पति-पत्नी बनाता है। इसके विधानों को कोई नहीं मिटाता। हमारे इस पति-पत्नी भाव के करणीय कर्मों को भूमि एवं रवि भी जानते हैं।

यमी ने अत्यन्त मार्मिक याचना की, किन्तु **यम** ऐसा सच्चा मनुष्य है जिसने संयम तथा निग्रह का व्रत ले रखा है। इसका कथन है—

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नृन्।।

(ऋ० १०/१०/६)

अर्थात् इस प्रथम दिवस के सम्बन्ध में किसे ज्ञात है? और इस गर्भ धारण होने न होने का मूल कारण कौन देखता है? इस विषय में कौन समर्थ वक्ता है? सर्वप्रेमी परभावना का तेज विशाल है कटाक्षों के बोलने वाली! स्त्री! मनुष्य को विवेक करके भी कौन भला, कब क्या कह सकता है?

यम के बार-बार नकारात्मक उत्तर देने पर **यमी** अत्यधिक क्षुब्ध होती हुई यम को तृषातुर होकर पुरुषत्वहीन कह देती है—

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्।।

(ऋ० १०/१०/१३)

अर्थात् हे पाणिग्रहण से बद्ध! दुःख है कि तू अत्यन्त क्षीण है। तेरे मन तथा हृदय के बारे में हम अन्जान रहें। क्या तुझे कोई दूसरी समर्थ नारी पेड़ की बेल के तुल्य आलिङ्गन करती है?

इस श्लोक में नारी पति-हृदय के भावों की परीक्षा ले रही है।

इस पर **यम** कहता है कि तुम किसी अन्य पुरुष का आलिङ्गन करो, जो

कामोत्तेजित हो—

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुंजेव वृक्षम्।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविद सुभद्राम्।।

(ऋ० १०/१०/१४)

अर्थात् हे विवाहित स्त्री! तू दूसरे मनुष्य को पेड़ की बेल के समान आलिङ्गन न कर और अन्य पुरुष तुम्हारा आलिङ्गन न करें। तू उसके हृदय की इच्छा कर और वह तेरे हृदय की इच्छा करे। तू मङ्गलकारी उत्तम बुद्धि वाली सन्तान उत्पन्न कर। इसमें बहन भाई के वैवाहिक सम्बन्ध का भी निषेध है और यदि परस्पर सन्तानोत्पत्ति में शक्तिहीन हो तो अन्य पुरुष से सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा वेद में प्रतिपादित है।

यम-यमी का सम्वाद शिव-पार्वती के सम्वाद का स्मरण दिलाता है। इसका विनियोग क्या हुआ ये अज्ञात है।

(स) सोम-सूर्या सम्वाद – यह **ऋग्वेद** के **दशम मण्डल** का ८५वाँ सूक्त है। सूर्या सूर्य की बेटी है। इस सूक्त में इसकी 'उषा' संज्ञा है। इसकी सभी ४७ ऋचाएँ वैवाहिक विधि का संकेत करती है। इसकी अधिकांश ऋचाएँ गृह्यसूत्र के विवाह-प्रकरण में भी प्राप्त होती हैं। इसकी कुछ ऋचाओं में नववधू को उत्कृष्ट आशीष से युक्त किया गया है। यथा—

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं१सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः।।२७।।

(ऋ० १०/८५/२७)

अर्थात् हे वधू, इस गृह में तुम्हारा प्रिय भाव सन्तान से फले-फूले। इस गृह में गृहस्थ के कर्तव्यार्थ तू जागरण कर। सावधानीपूर्वक प्रबन्ध को कर। इस पति के साथ स्वशरीर को संयुक्त कर दे। पति के कार्यों में हाथ बँटा और जीर्ण हुई वृद्धि में वृद्धि कर। घर को आदेश देती रह।

(द) सरमा-पणि सम्वाद – यह **ऋग्वेद** के **दशम मण्डल** का १०८वाँ सूक्त है। इसमें **इन्द्र** की दूती **सरमा** तथा पणियों का सम्वाद चलता है। वह पणियों द्वारा अपहृत इन्द्र की गौओं को वापस लौटाने को कहती है, किन्तु वे इस विषय पर बात न करके उसे लालच देते हैं। उसे अपनी बहन बनाते हैं। किन्तु सरमा उनके बहकावे में नहीं आती। पणिगण कहते हैं—

इमा गावः सरमे या ऐच्छः परि दिवो अन्तान्त्सुभगे पतन्ती।
कस्त एना अव सृजादयुध्व्युतास्माकमायुधा सन्ति तिग्मा।।

(ऋ० १०/१०८/५)

अर्थात् हे सौभाग्यशालिनी सरमे! द्युलोक के सुदूर प्रदेशों से आगमन करती हुई तुम जिन गायों की अभिलाषा करती हो, वे गायें यह हैं। इन गायों को बिना युद्ध किए भला कौन निकाल कर (छीन कर) ले जा सकता है और हमारे शस्त्र भी तीव्र हैं।

उसे प्रलोभन देते हुए पणिगण आगे कहते हैं कि हे सुभग सरमा! तुम्हारी गायों को हम लोग आपस में बाँट लेंगे—

एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम।।

(ऋ० १०/१०८/९)

अर्थात् हे सरमा देवों के बल से पीड़ित होती हुई ही तुम यदि यहाँ हम लोगों के बलपुर में आ गई हो तो तुमको हम अपनी बहन बना लेते हैं। तुम पुनः वापस मत जाओ। हे सौभाग्यशालिनी सरमे! हम तुम्हारे साथ गायों का बँटवारा कर लेते हैं।

सरमा-पणि सम्वाद में कुल ११ मन्त्र हैं। इन मन्त्रों में १, ३, ५, ७, ९ अर्थात् विषम संख्या के मन्त्रों में पणियों का कथन है तथा २, ४, ६, ८, १०, ११ अर्थात् सम संख्या के मन्त्रों में सरमा के उत्तर हैं।

भारतीय साहित्य में संवाद-सूक्तों का महत्त्व :-

ऋग्वेद के सम्वाद सूक्तों के सदृश अन्य रचनाएँ भारतीय साहित्य में अनेक स्थानों पर प्राप्त होती हैं। महाभारत, पुराणों तथा विशेषकर बौद्धसाहित्य में सम्वाद प्रधान तथा कथोपकथन प्रधान अर्द्धमहाकाव्यीय तथा अर्द्धनाटकीय रचनाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं। ये प्राचीन सम्वाद-सूक्त महाकाव्य तथा नाटक दोनों प्रकार की साहित्यिक विधाओं के उद्गम स्थल हैं। इनमें नाटकीय तत्त्वों का पूर्ण समावेश दृष्टिगोचर होता है। **ऋग्वेद** के अनेक सम्वाद-सूक्तों ने परवर्ती संस्कृत साहित्य की कथावस्तु के रूप में प्रचुर सामग्री प्रदान की है। इस प्रकार के सम्वाद-सूक्तों में **पुरुरवा-उर्वशी सम्वाद** विशेष उल्लेखनीय है। पुरुरवा तथा उर्वशी की कथा का भारतीय साहित्य में बारम्बार विभिन्न स्थानों पर प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। **कृष्ण** व **यजुर्वेद** की **काठक शाखा** में **बौद्धायनश्रौतसूत्र** में **ऋग्वेद** पर **सर्वानुक्रमणी** पर सद्गुरुशिष्य की टीका में महाभारत के परिशिष्ट स्वरूप **हरिवंशपुराण** में, **विष्णुपुराण**

में तथा **कथासरितसागर** में इस कथानक का सांकेतिक दर्शन उपलब्ध होता है। यह आख्यान **ब्राह्मणग्रन्थों** में भी प्राप्त होता है। इस कथानक के प्रयोग का सबसे सफल प्रयास **महाकवि कालिदास** ने किया है। कालिदास का नाटक **विक्रमोर्वशीय** इसी कथानक पर आधारित है। वेदों में अति संक्षिप्त रूप में प्राप्त इस **पुरुरवा उर्वशी** के सम्वाद सूक्त को कविता कामिनी के विलास कालिदास ने अपनी काव्य प्रतिभा के बल पर रोचक रूप में प्रस्तुत किया है।

संवाद सूक्तों के लिए इससे अधिक महत्त्व की बात अन्य क्या हो सकती है कि अनेक पाश्चात्य तथा पौरस्त्य विद्वान नाटकों की उत्पत्ति इन्हीं संवाद सूक्तों से मानते हैं। उनके अनुसार इन्हीं **संवाद-सूक्तों** में नाट्य के बीज अन्तर्निहित है। कालान्तर में इन्हीं बीजों के अंकुरित होने से नाट्यकला का विकास हुआ। जर्मन विद्वान् डॉ० श्रोदर के अनुसार **संवाद सूक्त** गायन एवं नर्तन के साथ अभिनीत किया जाते थे। ये स्वयं धार्मिक नाटक है। इनका यज्ञादि अवसरों पर गायन, नर्तन तथा वादन के साथ अभिनय किया जाता था। **डॉ० हर्टल** के अनुसार **सम्वाद-सूक्तों** में गायनार्थ एक से अधिक व्यक्ति नियोजित किये जाते थे क्योंकि एक व्यक्ति के द्वारा कथनोपकथन सम्भव नहीं। अत: ये सूक्त ही नाटकों के मूल स्रोत हैं। **डॉ० कीथ** का मत इसके विपरीत है। उनके अनुसार **ऋग्वेद** में उपलब्ध इन **सम्वाद-सूक्तों** का मात्र शंसज्ञ ही होता था क्योंकि ये **सम्वाद-सूक्त** विभिन्न प्रकार के होते हैं किन्तु पुरातत्त्व विंचार है, तो किसी में ऐतिहासिक घटना वर्णित है, मूलत: इनका विषय व्यावहारिक है। **डॉ० विण्डिश थोल्डन वर्ग** तथा **पिशेलादि** विद्वानों ने इन सम्वाद सूक्तों के स्वरूप का विवेचन कुछ पृथक् ढंग से किया है। उनके अनुसार ये सम्वाद सूक्त गद्य पद्यात्मक थे जिसमें व्याख्यात्मक गद्यांश का लोप हो गया तथा ललित पद्यांश ही रह गया। इन विद्वानों ने इन्हें **आख्यान** की संज्ञा प्रदान की है। **डॉ० विशेल** का मत है कि नाटकों में गद्य पद्य दोनों का होना इन सम्वाद सूक्तों का स्पष्ट अनुकरण है।

इन सम्वाद सूक्तों से तत्कालीन लोक साहित्य तथा समाज की झलक मिलने के कारण इनका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। **यम-यमी के सम्वाद** से वैदिक काल की नैतिकता का ज्ञान होता है। **पुरुरवा-उर्वशी सम्वाद** में विद्याधर योनि के पात्रों का चित्रण होने से उसमें अद्भुत कथा के तत्त्वों का समावेश है। इन ऋग्वेदीय सम्वादों में अलौकिक विषयों का वर्णन, मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा के अतिरिक्त दीर्घायु, ऐश्वर्य तथा सन्तान-प्राप्ति की प्रार्थनाएँ भी विद्यमान हैं। इन आख्यानों में स्वर्ग प्राप्ति से अधिक भौतिक आवश्यकता तथा सम्पत्ति को प्राप्त करने वाली प्रार्थनाएँ हैं। इस प्रकार ऋग्वेदीय सम्वाद सूक्तों का महत्त्व बहुविध है।

लौकिक सूक्त :-

दशममण्डल के अनेक सूक्तों में लौकिक व्यवहार से सम्बन्धित विषयों का मनोरंजक प्रतिपादन हुआ है। इन सूक्तों में अनेक सूक्तों का प्रतिपाद्य **यक्ष्मा का नाश** है। इसके लिये विशेष रूप से १६१वाँ तथा १६३वाँ सूक्त उल्लेखनीय है। १६२वें सूक्त में गर्भ के बाधक राक्षसों के विघ्नों के रक्षा व प्रबन्ध वर्णित हैं। यह सूक्त **रक्षोहा** के नाम से प्रख्यात है। **ऋग्वेदीय** दशममण्डलान्तर्गत १४५वें सूक्त में पत्नी द्वारा पति को प्राप्त करने का वर्णन है—

इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्।।१।।

(ऋ०सू० १०/१४५/१)

अर्थात् मैं इस पौधे रूप अथवा विपरीतता से अवरुद्ध करने वाली अथवा विशेष की अवरोधक औषधि का खनन करती हूँ, जिससे सौत बाधा प्रदान करती है, जिससे वह पति को प्राप्त कर लेती है।

इस मन्त्र में पतिकामा नारी द्वारा सपत्नी को हटाकर स्वयं अनुरूप पति पाने का वर्णन है।

एक सूक्त में शत्रुओं के पलायनार्थ प्रार्थना की गई है—

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्।।१।।

(ऋ०१०/१६६/१)

अर्थात् हे परमात्मा! मुझे एक समान आदरणीयों में श्रेष्ठ तथा शत्रुओं को विशेषत: परास्त करने में समर्थ, प्रहार करने वाले शत्रुओं का नाशक, पृथ्वियों के पृथ्वीपति तथा विशेष कान्ति सम्पन्न विभिन्न देशों का शासक बना।

इस प्रकार यहाँ पर शत्रुओं को परास्त करके स्वयं शासक बनने की अभिलाषा से प्रार्थना की गई है।

१०/५८ सूक्त **मन आवर्तन** सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्पूर्ण सूक्त में भूमि, आकाश, सागर, उषा, पहाड़ तथा संसार भर में भ्रमण करने वाले मन को लौट आने के लिए प्रार्थना की गई है। यथा--

यत्ते॑ य॒मं वै॑वस्व॒तं मनो॑ ज॒गाम॑ दूर॒कम्।
तत्त॒ आ व॑र्तयामसी॒ह क्षया॑य जी॒वसे॑।।१।।

(ऋ० १०/५८/१)

अर्थात् हे मानस रोगी! जो तेरा यह मन अन्तरतम कल्पना से अत्यन्त दूर चला गया है, तुम्हारे उसको भी हम लोग यहाँ निवास करने तथा जीवन लाभार्थ पुनः लौटाते हैं।

१०/९७ सूक्त की **ओषधि सूक्त** संज्ञा है। इसमें अनेक रोगों के नाश करने में समर्थ विभिन्न लाभदायक औषधियों का निरूपण हुआ है। इस मन्त्र में विभिन्न ओषधियों का स्पष्ट संकेत किया गया है—

याः फ॒लिनी॒र्या अ॑फ॒ला अ॑पु॒ष्पा याश्च॑ पु॒ष्पिणीः॑।
बृह॒स्पति॑प्रसू॒तास्ता नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः।।१५।।

(ऋ० १०/९७/१५)

अर्थात् जो फल सम्पन्न हैं, जो फलहीन हैं, जो पुष्पहीन तथा पुष्पसम्पन्न हैं, वे रवि से एवं विद्वत्जनों द्वारा प्रदत्त अथवा निर्मित होकर हमें पापयुक्त कष्टों या दुःखों से छुटकारा प्रदान करें।

अतः **आयुर्वेद के दृष्टिकोण से इस सूक्त का विशेष महत्त्व है।**

कतिपय सूक्तों में राजनीतिक विषयक चर्चा दृष्टिगत होती है। इन सूक्तों में राजा की प्रशंसा में अनेक मन्त्र प्राप्त हैं। इनसे ज्ञात होता है कि उस युग में राजा का निर्वाचन होता था—

अ॒भि त्वा॑ दे॒वः स॑वि॒ताभि सोमो॑ अवीवृतत्।
अ॒भि त्वा॒ विश्वा॑ भू॒तान्य॑भीव॒र्तो यथास॑सि।।३।।

(ऋ० १०/१७४/३)

अर्थात् हे महाराज! सूर्य देवता एवं चन्द्र देवता आपको आगे बढ़ावें अर्थात् नैसर्गिक शक्तियाँ आपके अनुकूल हों। समस्त प्राणिवर्ग तथा सभी प्राकृतिक पदार्थ तुम्हें आगे बढ़ावें, विजयी बनावें, जिस प्रकार से तुम विजय प्राप्त करों।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आजकल जिस समाज शास्त्र (Sociology) की सर्वत्र धूम है, चर्चा है, उसका **ऋग्वेद** में स्पष्ट दिग्दर्शन है। इस वैदिक बन्धुभाव की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट नहीं होता। वैदिक समाजवाद वस्तुतः मानवतावाद है,

जिसमें एक क्षण, एक वर्ष, एक जीवन नहीं बल्कि विशाल जीवन तथा समग्र समाज पर दृष्टि है। वैदिक सामाजिक विज्ञान दृष्टि को संकुचित नहीं अपितु विशाल बनाता है।

दार्शनिक सूक्त :-

ऋग्वेद में कतिपय दार्शनिकसूक्त भी प्राप्त होते हैं, जिनमें दार्शनिक विचारों का स्पष्ट उल्लंघन हुआ है। इन सूक्तों में आत्मा-परमात्मा, सुख-दुःख, सृष्टि की उत्पत्ति एवं ब्रह्मादि विषयों के सम्बन्ध में वैदिक ऋषियों के विचारों का स्पष्टीकरण है। अतः ये सूक्त अपनी दार्शनिक गम्भीरता तथा नूतन कल्पना के कारण विख्यात हैं।

इस प्रकार के प्रमुख सूक्त निम्नलिखित हैं—

(अ) नासदीय सूक्त (१०/१२९)

(ब) पुरुष सूक्त (१०/९०)

(स) हिरण्यगर्भ सूक्त (१०/१२१)

(द) वाक्सूक्त (१०/१४५)

पुरुषसूक्त को **सर्वेश्वरवाद** का स्थापक कहा जा सकता है। यह सूक्त अत्यन्त महनीय, गम्भीर तथा अन्यतम है। इसमें पुरुष के आध्यात्मिक स्वरूप का भव्य निदर्शन है। पुरुष के सम्बन्ध में सर्वाधिक विलक्षण बात तो यह है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।।२।।

(ऋ० १०/९०/२)

अर्थात् यह समस्त दृश्यमान वर्तमान विश्व **पुरुष** ही है। भूतकालीन तथा भविष्यकालीन विश्व भी **पुरुष** ही है और वह पुरुष देवों का या अमरत्व का स्वामी है, जो पुरुष अन्न अर्थात् प्राणियों के भोग्य पदार्थों के कारण बढ़ता है।

यह वेदों में वर्णित **सर्वेश्वरवाद** का सिद्धान्त पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार आर्यों के प्रौढ़ तत्त्वचिन्तन का द्योतक है। **ऋग्वेद** में एक **संसार के नियामक** की कल्पना की गई है, जिसे सामान्यतया **हिरण्यगर्भ, प्रजापति** तथा **पुरुष** की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है। इस सूक्त का द्रष्टाऋषि वस्तुतः निर्णय नहीं कर पाता कि किस देव का हवि से पूजन किया जाये।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

(ऋ० १०/१२१/१)

अर्थात् परमात्मा का वह हिरण्यमयगर्भ रूप सर्वप्रथम अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति से भी पूर्व उत्पन्न हुआ था। उत्पन्न होते ही वह समस्त प्राणिवर्ग का एकमात्र स्वामी हो गया। वह पृथ्वी तथा द्युलोक को धारण किये हुए हैं। हम हवि के द्वारा ऐसे किस देव का पूजन करें?

उक्त समस्त सूक्तों में **दर्शन** प्राप्त होता है, किन्तु दर्शन की पराकाष्ठा की उपलब्धि **नासदीय सूक्त** में होती है। इसमें ऋषि इस संसरणशील विश्व के मूल पर विचार करता है और वहाँ न पहुँचकर न प्रकाश को पाता है और न अन्धकार की सत्ता का दर्शन करता है और न अभाव का। इस सूक्त का मन्त्रद्रष्टाऋषि जगत् की प्रारम्भिक स्थिति का वर्णन करता हुआ कहता है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।।

(ऋ० १०/१२९/२)

अर्थात् "उस प्रलय काल में मृत्यु का अभाव था तथा अमृत का भी अभाव था। दिन का एवं रात्रि का ज्ञान भी नहीं था। वह ब्रह्मतत्त्व प्राण से युक्त, अपनी क्रिया से रहित तथा माया के साथ अविभाजित रूप में विद्यमान था। उस माया सहित ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं था और उससे परे भी कुछ नहीं था।"

उर्पयुक्त सूक्तों में निहित **दर्शन** स्वच्छ, विशद तथा स्पष्ट है। इसे समझना सुकर है, अधिक कठिन नहीं।

ऋग्वेदीय प्रहेलिकाएँ :-

ऋग्वेद के प्रथम मण्डलान्तर्गत १६४वें सूक्त में ऋग्वेदीय प्रहेलिकाओं के दर्शन होते हैं। इसके मन्त्रों में निगूढ़स्थित दर्शन का तो आभास लेना भी दुष्कर है। यह **अस्यवामीय सूक्त** कहकर पुकारा जाता है क्योंकि इस सूक्त का आरम्भ '**अस्य वामस्य पलितस्य होतुः**' इन शब्दों के साथ होता हैं। ये रचनाएँ अधिकतर दुर्ज्ञेय तथा दुर्बोध्य हैं। यथा—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः।।

(ऋ० १/१६४/२)

अर्थात् जहाँ एक समस्त कलाओं के भ्रमणार्थ जिसमें चक्कर है, उस विमानादि यान को सप्तनामों वाला एक अश्व तथा सात अश्व तथा अश्व के सात विभिन्न रूप

अथवा शीघ्रगामी वायु या अग्नि पहुँचाता है। अथवा जहाँ सात कलों के गृह युक्त होते हैं या जहाँ ये समस्त लोक लोकान्तर अधिष्ठित होते हैं, वहाँ प्राकृत प्रसिद्ध घोड़ों से रहित और जीर्णता से रहित तीन जिसमें बन्धन हैं, उस एक चक्कर को शिल्पी जन स्थापित करें।

इसी प्रकार **प्रहेलिकाओं** के सम्भावित विभिन्न उत्तरों की अनेक परिकल्पनाएँ की गई है। कुछ ऋचाएँ ऐसी भी प्राप्त होती हैं जिनका अर्थ **विंटरनिट्ज** के मतानुसार कथमपि स्पष्ट हो जाय, यह असम्भव ही है। इस प्रकार की दुरूह ऋचाओं में से दो ऋचाएँ उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित है–

१. तिस्रो मातृस्त्रीन्पितृन्बिभ्रदेकं ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवं ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्।।

(ऋ० १/१६४/१०)

२. द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्।।

(ऋ० १/१६४/३३)

इसी प्रकार सारा सूक्त पहेलियों का पुलिन्दा है, अटकलों का भण्डार है, सम्भावनाओं की पिटारी है तथा परतम दर्शन का कूजा है। इन मन्त्रों की सर्वमान्य प्रामाणिक व्याख्या न हो पाई है तथा न ही आगे कभी होने की सम्भावना ही है। ये प्रहेलिकात्मक समस्याएँ पुरातन काल में अत्यधिक लोकप्रिय थी। इनका क्वचित् यज्ञादि के अवसर पर विधि के रूप में प्रयोग हुआ है। इस प्रकार की **प्रहेलिकाएँ** **यजुर्वेद** तथा **अथर्ववेद** में भी उपलब्ध होती हैं किन्तु उन प्रहेलिकाओं में विषय तथा उद्देश्य का पार्थक्य स्पष्ट परिलक्षित होता है।

धर्मरहित काव्य :–

ऋग्वेद में धर्महीन काव्य अनेक स्थलों पर धार्मिक तथा याज्ञिक कविताओं के साथ मिल गया है किन्तु किसी-किसी सूक्त का प्रयोग आद्योपान्त धर्महीन विषय को लेकर ही हुआ है। इस प्रकार का एक **सूक्त दशम मण्डल** में उपलब्ध होता है। यह ३४वाँ सूक्त है, इसमें द्यूत की महिमा का गुणगान है। भोग, विलास तथा शक्ति के उदय में जुआँ पनप उठता है। इस सूक्त में जुएँ का फड़कता चित्रण है। इन ऋचाओं में स्वाभाविकता की मार्मिक अभिव्यंजना है, भावों की कलात्मकता का निखार है। इस सूक्त का संक्षिप्त विषय इस प्रकार है–

जुआरी जुएँ के दाँव पर अपनी पत्नी तक को रखकर दाँव हार जाता है। अतः वह जुएँ के नशे में अन्धा होकर बच्चों की प्रिय, मित्रार्थ, कल्याणकारी तथा स्वयं के लिये शरणदाता पत्नी को घर से निकाल देता है। हारे हुए जुआरी का कोई भी साथ नहीं देता। सास उसे तिरस्कृत कर देती है तथा पुत्री बहिष्कृत कर देती है। उसे कोई भिक्षा भी नहीं देता। जुए में हार जाने पर अन्य लोग उसकी पत्नी का उपभोग करते हैं। माता-पिता, भगिनी-भ्राता उसे अपना रक्त स्वीकार नहीं करते। वह जुएँ न खेलने का निश्चय करता है, किन्तु मित्रगण व्यङ्ग्य बाणों का प्रहार करते हैं। वस्तुतः पासों में विचित्र आकर्षण है। न चाहने पर भी जुआरी इनके समीप पहुँच जाता है। ये अत्यन्त बलवान् हैं। राजा तथा रंक समान रूप से इनके वशीभूत हैं। ये गिरते तो नीचे हैं परन्तु फुदकते ऊपर हैं। ये अंगारों के सदृश है, अतः शीतल होते हुए भी हृदय को विदग्ध करते हैं। जुआरी की पत्नी पीड़ित होकर सोती रहती है। माता बेबस रहती है, ऐस परिस्थिति में जुआरी ऋण हेतु दूसरों के समाने हाथ फैलाता है। दूसरों की सजी-धजी पत्नियों तथा घर की शोभा को देखकर जुआरी को ग्लानि तथा ईर्ष्या होती है। अन्ततः द्यूतकार निम्नलिखित मन्त्र में अपनी मुक्ति हेतु अक्ष की प्रार्थना करता है तथा सविता के आज्ञानुसार द्यूत-त्याग की कामना करता है—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥१३॥

(ऋ० १०/३४/१३)

अर्थात् हे कितव! तू पासों से मत खेल, अपितु खेती का काम किया कर, परिश्रम से भूमि में कृषि कर तथा उसी को अत्यधिक समझता हुआ प्राप्त सम्पत्ति में आन्दोपलब्धि कर। हे कितव! उसी कार्य में तेरी गौएँ तथा पत्नी को गृहसुख प्राप्त होता है। यह सबका प्रेरक जगदीश मुझ उपासक को उसी का उपदेश करने को कहता है।

अभिचार विधान :-

कतिपय वैवाहिक आशीर्वादात्मक वचन अभिचार-विधानों में ग्रन्थित हैं। इन अभिचार सम्बन्धी मन्त्रों में भावी पति को हानि पहुँचाने वाले तथा भूतापसारक विधियों द्वारा भूतों से नव-वधू की रक्षा करने वाले नुस्खों का विवेचन है। समग्र ऋग्वेद में लगभग तीस अभिचार सूक्त प्राप्त होते हैं। इन अभिचार सम्बन्धी मन्त्रों में व्याधियों के उपशमनार्थ, गर्भ रक्षार्थ, कुदुष्टियों, अपशकुनों तथा दुःस्वप्नों के प्रभाव के समाप्ति हेतु, शत्रुओं के विनाशार्थ विधियों तथा प्रार्थनाओं का संग्रह है।

निम्नलिखित मन्त्र में पति को पुरुषत्व-सम्पन्न तथा उत्तम सन्तान को उत्पन्न करने में समर्थ होने के लिए कामना की गई है—

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि।।४५।।

(ऋ० १०/८५/४५)

अर्थात् हे ऐश्वर्य एवं धन सम्पन्न पति! तू वीर्य सिंचन में पूर्ण समर्थ हो। अतः इस स्त्री को धन से सौभाग्यवती तथा वीर्य से उत्तम सन्तान वाली कर। इसमें दस पुत्रों को धारण करा। ग्यारहवाँ पति इन सबको सकुशल रखे, हे भगवन्, तुमसे यही विनती है।

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल का १०३वाँ सूक्त मण्डूकों के वर्णन से मुक्त है, जिसमें मण्डूकों तथा ब्रह्म में साम्य प्रदर्शित किया गया है। वर्षा ऋतु में मण्डूक भी अपनी ऐश्वर्य वृद्धि के लिए प्रार्थना करते हैं—

गोमायुरदादजमायुरदात्पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि।
गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः।।

(ऋ० ७/१०३/१०)

अर्थात् रम्य शब्दों वाले वर्षाकालोद्भव जन्तु तथा प्रकृत्यनुसारी शब्दों वाले, विचित्र वर्णों वाले, हारतवां वाले— ये सभी अपनी रचना से हमको शिक्षा दें। अपनी शिक्षा से विद्यारूपी चमत्कार की वृद्धि करने वाले सैकड़ों प्रकार की शिक्षा हमको दें और परमात्मा ऐश्वर्य तथा आयु की वृद्धि करें और सहस्रसाव (जिसमें अनन्त प्रकार की औषधियाँ होती हैं), वह वर्षाकाल में परमात्मा हमको उपर्युक्त प्रकार के प्राणधारियों से अनन्त प्रकार का शिक्षा लाभ कराएँ तथा हमारे ऐश्वर्य तथा आयु की वृद्धि करें।

उपर्युक्त ऐश्वर्यवृद्धि के निमित्त की गई प्रार्थना का भाव अत्यन्त मार्मिक तथा स्पष्ट है।

यज्ञ संस्था :-

आर्य संस्कृति में **यज्ञ** की प्रधानता है। **वेद** इस जगत् के मूल में यज्ञ की भावना को स्वीकार करते हैं। **ऋग्वेद** के **पुरुषसूक्त** से ज्ञात होता है कि उसके रचनाकाल तक यज्ञ संस्था पूर्णरूपेण विकसित हो चुकी थी। **प्रजापति ही इस विश्वरूपीयज्ञ का याजक, होता, अध्वर्यु तथा पुरोहित है।** यही नहीं, इस यज्ञ में उसने स्वयं को भी

स्वाहा करके अपने शरीर के विभिन्न अंगों से विराट सर्ग की रचना की है—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशून्ताँश्चक्रे वायव्यांनारण्यान् ग्राम्याश्च ये।।

(ऋ० १०/९०/८)

अर्थात् जिस **यज्ञ** में समस्त या सबका **आत्मरूपपुरुष** स्वाहा कर दिया जाता है, इस प्रकार उस **यज्ञ** से दही से युक्त घी उत्पन्न हुआ तथा उसने वायु या अन्तरिक्ष में भ्रमणशील पशु अर्थात् पक्षी, वनों में निवास करने वाले हिरणादि पशु एवं जो ग्राम निवासी अश्व, गौ आदि पशु हैं, वे भी बनाए गए।

वेद के अनुसार- **इमं यज्ञं वित्तं विश्वकर्मणा। तथा स्विष्टिंनस्तां कृष्णवद्विश्वकर्मा।** अर्थात् विश्वकर्मा ही इस यज्ञ का विस्तारक है। वही हमारी दुरिष्टियों को स्विष्टियों में परिवर्तित कर सकता है।

शारीरिक यज्ञ में **मन-यजमान, चक्षु-होता, प्राण-उद्गाता, श्रवण-अध्वर्यु** तथा **वाणी-ब्रह्मा** है। इन सभी में **आग्नेय तत्त्व** विद्यमान है। **यज्ञ** में **आग्नेयता का प्राधान्य** है। **जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ यज्ञ भी सम्भव नहीं है। अग्नि** तथा **यज्ञ** का अविनाभाव सम्बन्ध है। **अग्नि नहीं है, तो दिव्यता भी सम्भव नहीं**। देवत्व अग्नि पर आश्रित है। इस प्रकार विश्व में व शरीर में सदैव यज्ञ चलता रहता है। ऋग्वेद काल में यज्ञ को सर्वोच्च महत्ता प्रतिपादित हुई है।

जाति-प्रथा :

ऋग्वेद में **पुरुषसूक्त** को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी **जाति-प्रथा** का विवेचन उपलब्ध नहीं होता। इस सूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, इन चारों वर्णों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। यद्यपि यह सूक्त परवर्ती रचना स्वीकार किया जाता है, इसमें **चातुर्वर्ण्य की उत्पत्ति** का इस प्रकार उल्लेख हुआ है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।१२।।

(ऋ० १०/९०/१२)

अर्थात् इस पुरुष का मुख ब्राह्मण हुआ अर्थात् इसके मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुए। भुजाओं को क्षत्रिय बनाया गया अथवा क्षत्रिय इसकी भुजाओं से उत्पन्न हुए। इसकी जाँघें वैश्य बने अर्थात् जाँघों से वैश्यों की उत्पत्ति हुई तथा इसके चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए।

वस्तुतः प्रत्येक मनुष्य चारों वर्णों से युक्त होता है। यह शौच काल में शूद्र, स्नानान्तर अध्ययन काल में ब्राह्मण, पीड़ितों के रक्षा काल में क्षत्रिय तथा कृषिकर्म काल में वैश्य होता है। अतः एक ही मनुष्य पृथक् कालों में पृथक्-पृथक् वर्ण वाला होता है। वैदिक काल में जातियों का विभाजन अत्यन्त वैज्ञानिक तथा उत्कृष्ट स्वीकार किया गया था किन्तु वर्तमान काल में यह सामाजिक कुष्ठ रोग का रूप धारण कर चुका है।

ऋग्वेद-काल में मानवीय चरित्र :

अनेक ऋग्वेदीय मन्त्रों से स्पष्ट है कि उस काल में मनुष्य का विकास क्रम सांस्कृतिक था। आर्य जाति ने मानव के आध्यात्मिक निर्माणार्थ जिन संस्कारों की कल्पना की, उनकी आधारशिला अतीव सुदृढ़ एवं गहरी है। संस्कार जन्मोपरान्त नहीं, अपितु उसके बहुत पहले से ही आरम्भ हो जाते हैं। इस प्रकार के संस्कारों की कुल संख्या १६ है, वे हैं— **(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमन्तोन्नयन, (४) जातकर्म, (५) नामकरण, (६) निष्क्रमण, (७) अन्नप्राशन, (८) चूड़ाकर्म (९) कर्ण वेध, (१०) उपनयन, (११) वेदारम्भ, (१२) समावर्तन, (१३) विवाह, (१४) वानप्रस्थ, (१५) सन्यास आश्रम (१६) अन्त्येष्टि।**

ऋग्वैदिककाल में योग के अष्टाङ्गमार्ग का वेदज्ञ तथा सामान्यजन भी परिपालन करते थे। ये आठ मार्ग हैं— **(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) धारणा (६) प्रत्याहार (७) ध्यान, (८) समाधि। यम** में वर्णित **अस्तेय** के पालन का आदेश **ऋग्वेद** के निम्नलिखित मंत्र में देखा जा सकता है—

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्।
रिपुः स्तेनः स्तेयकृद्दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा३ तना च।।

(ऋ० ७/१०४/१०)

अर्थात् तेजः स्वरूप परमात्मा! जो राक्षस हमारे अन्न के रस को विनष्ट करना चाहता है तथा जो घोड़ों के और जो गायों के एवं जो हमारे शरीर के रस अर्थात् बल को नष्ट करना चाहता है, वह अहिताभिलाषी चोर तथा छिपकर वार करने वाला नाश को प्राप्त हो और वह दुष्ट अपने शरीर से तथा दुष्कर्मी सन्तानों से नष्ट हो जाये।

पाश्चात्य विद्वान् **विन्टरनिट्ज** के अनुसार प्राचीन भारतीय-समाज अत्यन्त उद्दण्ड तथा चरित्रहीन था। उनका कथन है कि 'हम किसी भी प्रकार प्राचीन भारतवर्ष की चारित्रिक दशा के लिए कोई अत्यन्त उज्ज्वल धारणा नहीं बना सकते क्योंकि हमें ऋग्वेद के सूक्तों में व्यभिचार, अगम्य-गमन, सतीत्व-नाश, वैवाहिक विश्वास,

गर्भपात करने की प्रवृत्ति, प्रतारणा, छल-छिद्र, कपट, चोरी और डकैती के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। तथापि ये सब वस्तुएँ ऋग्वेद की परम प्राचीनता के सम्बन्ध में कुछ विरोध नहीं करती।

ऋग्वेद में मनोविज्ञान तथा परामनोविज्ञान–

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में मनोविज्ञान का स्पष्ट अंकुरण दृष्टव्य है। ऋ० (१०/५३/६) मनुर्भव, मननशील बनने का आदेश देता है। कतिपय मन्त्रों में मन को भद्र बनाने की प्रेरणा दी गई है। यथा–

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।
अधा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणन्गावो न यवसे विवक्षसे।।१।।

(ऋ० १०/२५/१)

अर्थात् हे परमात्मा, हमें कल्याणकारी मन प्रदान करो। सुखदायी बल तथा कर्म सामर्थ्य, ये दो जिस प्रकार पशुगण चारे की इच्छा करते हुए, उसे पाकर हर्षित होते हैं, उसी प्रकार जीवगण तेरे मित्रभाव में रहकर विभिन्न प्रकार से अन्न तथा कर्मफल प्राप्त कर आनन्द प्राप्त करते हैं। हे मनुष्यों! वह महान् परमात्मा आपके समस्त आनन्द का दाता है।

भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येना समत्सु सासहः।
अव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धतां वनेमा ते अभिष्टिभिः।।

(ऋ० ८/१९/२०)

अर्थात् हे सर्वगत प्रभु! महायुद्ध में भी हमारे मन को मङ्गल सम्पन्न करो, जिस मन से विश्व में आप सभी विघ्नों को शान्त करते हैं। हे परमेश्वर! महादुष्ट व जगत् के कण्टकजनों के सुदृढ़ अनेक नगर हो तो भी उन्हें भूमि में मिला दे, जिससे हम उपासक आपके द्वारा प्रदत्त अभिलषित मनोरथों से सम्पन्न हों।

ऋग्वेद की ऋचा (६/९/६) तथा (८/२२/१६) में मन के वेग का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार अनेक ऋग्वेदीय ऋचाओं में परामनोविज्ञान के भी दर्शन होते हैं। यथा– (४/२/१), (८/६८/६), (१०/८२/५)। इस प्रकार ऋग्वेद मनोविज्ञान तथा परामनोविज्ञान की बहुमूल्य सामग्री प्रदान कर रहा है।

ऋग्वेद में काव्य सौन्दर्य–

ऋग्वेद में केवल आध्यात्मिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक विषयों का ही विवेचन

नहीं हुआ है अपितु इसमें काव्यकला के कमनीय उपकरणों से ग्रथित, प्रमुख अलंकारों, व्यञ्जनाओं तथा ध्वनियों से अनुप्राणित परिनिष्ठित गीतों का संयोजन भी है। **ऋग्वेद** में हमें विविध काव्यकलाकलित ललितभावों के दर्शन होते हैं जो कि सहृदयों को आनन्द से आप्यायित कर देने में पूर्ण सक्षम हैं। जिस प्रसङ्ग में काव्यात्मक विधा प्रस्तुत की गई है वहाँ पूर्ण ललितकला संयोजित कर दी गई है। **कोमलकान्तपदावली, सरस रक्त विलास, मधुरमाधुर्यलास, प्रसादगुण की प्रसन्नता** सहृदयों के हृदयों को सहसा ही आकृष्ट कर लेती है। आचार्य बलदेव उपाध्याय जी का इस सम्बन्ध में कथन है— ''उनके **रूपों** का भव्यवर्णन कवि की कला का विलास है, तो उनके भीतर **सुकुमार प्रार्थना** के अवसर पर कोमल भावों, हार्दिक भावनाओं की रुचिर अभिव्यञ्जना है। **उषा विषयक** मन्त्रों में सौन्दर्याधिक्य है, तो **इन्द्र विषयक** मन्त्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य है। **अग्नि** के रूपवर्णन में स्वभावोक्ति का आश्रय है, तो **वरुण** की स्तुति के मन्त्रों में हृदयगत कोमलभावों की मधुर अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वेद के मन्त्रों में काव्यगत गुणों का पर्याप्त दर्शन होना काव्य जगत् की कोई आकस्मिक घटना नहीं है। तन्मयता तथा अनन्यता का यह विशद् परिचायक चिह्न है— भावों की सरल सहज अभिव्यक्ति निःसन्देह वेदों में इसका विशाल साम्राज्य है।''

ऋग्वेद में काव्य गुणों के कतिपय विशेषताओं का विवेचन प्रस्तुत है—

रस-संयोजन–

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर **शृङ्गार रस** का सुन्दर परिपाक हुआ है। **देवी उषा** का वर्णन एक मानवी सुन्दरी के रूप में इस प्रकार किया गया है—

कन्येव तन्वा३ शाशदानाँ एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती।।

अर्थात् हे प्रकाशवती उषा! तुम कमनीय कन्या की तरह अत्यन्त आकर्षणमयी बनकर अभीष्टफलदाता सूर्य के समीप जाती हो तथा उनके समक्षास्मितवदना युवती की तरह अपने वक्ष को आवरण रहित करती हो।

एक अन्य **काव्यसौन्दर्यपित उद्धरण** का आनन्द लीजिये—

अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्।
ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्यु१षा आवर्तमः।।४।

(ऋ० १/९२/४)

अर्थात् नर्तिकी के सदृश मोहक परिधान में सुसज्जित **उषा** अपने वक्षस्थल को खोल रही है, ऐसे जैसे एक गरड़े रड़ की गाय दोहनकला में अपने स्तन को। जिस प्रकार गायें शीघ्र ही वज्र की ओर प्रस्थान करती है, उसी प्रकार **उषा** भी पूर्व दिशा में जाकर अखिल विश्व को अपनी ज्योति से आलोकित कर देती है।

एक ही मन्त्र में **शृङ्गार** के समस्त उपकरण: पेशल मञ्जुल नर्तकी की झिलमिलाती बोली, कनकावदात ऊँचा नीचा अनार भरा वक्षस्थल, फिर प्रेक्षक जगत् की ओर उसकी हास्य वृष्टि, फिर अन्धकार तथा प्रकाश की आँखमिचौली, कितना मोहक वर्णन है?

इसी प्रकार हमें क्वचित् मन्त्रों में **वीर रस** के दर्शन होते हैं। **इन्द्र** की स्तुतियों में **वीररस** की पूर्णता दर्शनीय है। यथा—

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः।।

अर्थात् जिन इन्द्र देवता की कृपा के बिना मनुष्य विजय नहीं प्राप्त कर सकता है। योद्धा लोग अपनी सुरक्षा के लिए जिसका आह्वान करते हैं, जो विश्व में सर्वश्रेष्ठ है, वह अवयवों को भी व्युक्त कर देने वाला है।

ऋग्वेद के सोम-सूर्या, यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी आदि के सूक्तों में हमें **शृङ्गार रस** की व्यञ्जना के दर्शन होते हैं। **पुरुरवा-उर्वशी** के प्रणयप्रसङ्ग में **पुरुरवा** की उक्तियों से विप्रलम्भ शृङ्गार अभिव्यक्त होता है। यथा—

इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः।
अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः।।३।।

(ऋ० १०/९५/३)

अर्थात् तरकस से तीर समान सेनापति राज्यलक्ष्मी के लिए शत्रु दल पर आ गिरे। वह भूमि का भोक्ता या दाता तथा सैकड़ों सुखों का प्रदाता तथा वेगवान हो। वीरों रहित युद्ध कार्यों में वह नहीं चमकता तथा महान् अन्तरिक्ष के तुल्य विस्तृत रणाङ्गण में शत्रुओं को कँपा देने वाले वीर सेनाजन वायुओं के तुल्य गर्जन करें तथा सेनाएँ सेनापति शब्द को समझें।

इसी प्रकार कहीं कहीं **हास्य रस** को भी प्रस्तुत किया गया है। **मण्डूक सूक्त** में मण्डूकों की तुलना ब्राह्मणों से की गई है। वे टर्र-टर्र द्वारा पारस्परिक अभिनन्दन करते हैं—

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।
सर्वं तदेषां समृधेवपर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु।।

(ऋ० ७/१०३/५)

अर्थात् जो कि एक शिक्षा प्राप्त करने वाला जलीय जन्तु शक्तिमान अर्थात् शिक्षा को पास हुए की तरह अन्य जल जन्तु से शब्द को सीख लेता है, वैसे ही तब, इन शब्दों को सम्पूर्ण अविकल अङ्गों वाले होकर जलों के मध्य में जो सुन्दर वाणी है उसको बोलो।

अलंकार विधान-

ऋग्वेद में हमें **अलङ्कारों** का सुन्दर प्रयोग मिलता है। **ऋषि कवियों** ने प्रमुख रूप से **सादृश्यमूलक उपमा** एवं **रूपक अलङ्कार** का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ **उपमा अलङ्कार** से युक्त मन्त्र प्रस्तुत है—

अभ्रातेवं पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्यं उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः।।

अर्थात् भ्रातृरहित स्त्री जिस प्रकार पिता आदि के समक्ष गमन करती है। गतृभर्तका जिस प्रकार धन प्राप्ति के लिये घर आती है। उसी प्रकार उषा भी वैसा ही करती है। जिस प्रकार पत्नी पति की अभिलाषिणी होकर सुन्दर वस्त्रों को पहनकर हास्य के द्वारा अपनी दन्तावली प्रकाशित करती है उसी प्रकार उषा भी व्यवहार करती है। **उपमा** का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है-

परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्यइष्टये। वयो न वसतीरुप।।

अर्थात् जिस प्रकार चिड़िया अपने घोसलों की ओर दौड़ती है, उसी प्रकार हमारी क्रोध से रहित चिन्ताएँ भी धन को प्राप्त करने के लिए दौड़ रही हैं।

राहुल जी ने **गृत्समद** के एक सूक्त (२/३६/१०८) की प्रत्येक पंक्ति में उपमा बतलाते हुए इस प्रकार लिखा है— 'अश्विद्वय पत्थर की तरह....... शत्रु को बाधा दो, गिद्ध की तरह निधियुक्त वृक्ष को प्राप्त करो। ब्रह्मा की तरह यज्ञ में उक्य गाने वाले हो, दूत की तरह बहुतों के लिए पुकारने के लिए पुकारने लायक हो।' 'इस सूक्त में और उपमाएँ दी गई हैं। रथी, अजा, स्त्री, दम्पति, सींग, शफ, चक्रवाक, नाव, य्रुग, नाभि, उपधि, प्रदि, खान, खल, वर्ग, बात, नदी, नदय, पाद, ओष्ठ, स्तन, नासा, कर्ण, पृथ्वी, शान, तलवार, सात त्रिष्टुप ऋचाओं के भीतर इतनी उपमाएँ दी

गई हैं और सबके साथ, इव का प्रयोग है। (१) **विश्वामित्र** ने अपने सुन्दर काव्य **नदीसूक्त** (३/३५) में व्यास और सतलज की उपमाएँ वस्तुओं से दी हैं— अश्व, गौ, रथी, वत्स, योषा (माँ) तथा मर्य (पति)।' **न** के साथ भी उपमा **ऋग्वेद** में आती है जिसका प्रयोग पीछे नहीं होता।

इसी प्रकार **ऋग्वेदीय उपमा** के सम्बन्ध में **आचार्य बलदेव उपाध्याय** जी का कहना है—

"अलंकारों की रानी **उपमा देवी** का नितान्त भव्य, मनोरम तथा हृदयावर्जक रूप इन मन्त्रों में देखने को मिलता है। तथ्य तो यह है कि उपमा का काव्य संसार में प्रथम अवतार उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं कविता का आविर्भाव। आनन्द से सिक्त हृदय कवि की वाणी उपमा के द्वारा अपने को विभूषित करने में कोमल उल्लास तथा मधुमय आनन्द का बोध करती है।"

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश।।

(ऋ० ४/५८/३)

अर्थात् हे मानवों! जो बड़ा सेव्य तथा सम्माननीय स्वप्रकाशस्वरूप तथा सर्वसुखप्रदाता मरणधर्मा मनुष्यादि को सब प्रकार से व्याप्त होता है तथा जो सुखवर्षक तीन— **श्रद्धा, पुरुषार्थ** एवं **योगाभ्यास** से बद्ध निरन्तर उपदेयता है, इस धर्म से युक्त नित्य और नैमित्तिक परमेश्वर के बोध के दो— **उन्नति** और **मोक्ष** रूप शिरस्थापन्न तीन (कर्म, उपासना तथा ज्ञान रूप) चलने योग्य चरण तथा चार वेद शृंगों के समान आप लोगों द्वारा ज्ञातव्य है और इस धर्म व्यवहार के पञ्च ज्ञानेन्द्रियों या पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, मन व आत्मा ये सात हाथों के समान वर्तमान है तथा उक्त प्रकार से बद्ध व्यवहार भी ज्ञातव्य है। **रूपक-व्यतिरेक अलङ्कारयुक्त** मन्त्र भी कितना सहज है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।।

(ऋ० १/१६४/२०)

अर्थात् हे मानवों! जो सुन्दर पंखों वाले, समान सम्बन्ध रखने वाले, मित्र तुल्य वर्तमान-पखेरु एक जो काटा जाता इस वृक्ष का आश्रय ग्रहण करते हैं, उनमें से एक उस पेड़ के परिपक्व फल रसावादुपन से भक्षण करता है तथा अन्य न भक्षण करता हुआ सभी ओर देखता है।

छंद– किसी साहित्यक पद्यरचना में छन्दों का विशेष महत्त्व है। वेद, विशेषतः **ऋग्वेद** प्रायः छन्दोबद्ध रचना है। वेदों में छन्दों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए **पाणिनि** ने जो विचार अपनी **पाणिनीय शिक्षा** में प्रकट किया है, उनका अर्थ है कि बिना छन्दों के ज्ञान के मन्त्रों को पढ़ना-पढ़ाना या मन्त्रों का स्वयं उच्चारण करना पाप का हेतु बन जाता है। इतना ही नहीं ऐसे गुरु या याजक को मरने पर वृक्षादि स्थुणु योनि प्राप्त होती है अथवा उसकी अधोगति होती है।

ऋग्वेद में प्रायः सात छन्दों का प्रयोग हुआ है। ये छन्द हैं– १. **गायत्री**, २. **उष्णिक**, ३. **अनुष्टुप**, ४. **त्रिष्टुप**, ५. **बृहती**, ६. **जगती** और ७. **पंक्ति**।

इस प्रकार हम देखते हैं कि **ऋग्वेद** की भाषा, शैली, रस, अलङ्कार, छन्द आदि काव्यगत विशिष्टताएँ अपना अनुपम महत्त्व रखती हैं, अतएव विद्वानों के द्वारा इन गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। **ऋग्वेदीय काव्य** की विशेषताओं के सम्बन्ध में राहुल जी का कथन निष्कर्ष रूप में अति समीचीन है– "ऋग्वेद में जहाँ तहाँ सुन्दर काव्य की जो छटा मिलती है, उससे पता लगता है कि ऋग्वैदिकआर्य कविता प्रेमी थे। उनके मनोरञ्जन के लिए सुन्दर कविताएँ रची जाती थीं। उनके गाने का ढंग क्या था, वह **सामगान** से पता लग सकता है। उससे भी अधिक वास्तविकता के समीप हम तब पहुँचेगे, यदि हमारे लोकगीतों के तुलनात्मक अध्ययन (विशेष कर हिमालय की कितनी ही पिछड़ी जातियों के लोकगीतों के तुलनात्मक अध्ययन) से किसी निष्कर्ष पर पहुँचे। किसी लोकगीतों के वाक्यविन्यास चाहे चिरजीवी न हों, पर उनके लय या गाने के ढंग शताब्दियों और सहस्राब्दियों तक बने रहते हैं। इसलिए यदि हमारे देश और कितने ही पश्चिमी देशों के वर्तमान लोकगीतों के साथ सामगान की तुलना की जाय तो **सप्तसिन्धु** के आर्यों के साथ गाने के ढंग को जाना जा सकता है।"

उपसंहार :

इस प्रकार हम देखते हैं कि **ऋग्वेद** के महत्त्व का कारण उसकी विषय वस्तु की व्यापकता है। ऋग्वेद में **धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, आर्थिक, दार्शनिक** एवं **साहित्यिक** समस्त आवश्यक विषयों का प्रतिपादन हुआ है। यज्ञों की महिमा, देवताओं की उपासना, ईश्वर के विविध रूप, पुरातन धार्मिक मान्यताओं, पाप-पुण्य की विवेचना, स्वर्ग-नरक, मोक्ष, पुनर्जन्म, लोक-परलोक, आस्तिक-नास्तिक, धर्म-अधर्म आदि **धर्म सम्बन्धी तथ्यों** का जहाँ इसमें प्रकटीकरण है, वहीं आर्यों के **जीवन-दर्शन, उत्तमाचरण, शिष्टाचार, सत्य-मिथ्या, हिंसा, अहिंसा का अन्तर, पाप-पुण्य, विवेक, हेय उपादेय** आदि सांस्कृतिक विषय निरूपित हैं।

समाजविज्ञान की दृष्टि से वर्ण-व्यवस्था, समस्त वर्णों के कर्तव्य एवं अधिकार, समष्टि व व्यष्टि का सम्बन्ध, विवाह संस्कार, नगर, पुर तथा ग्रामादि, भोजन-पान, वेशभूषा, साज-सज्जा, अलंकरण आदि के विषय में उपयोगी सामग्री इसमें उपलब्ध होती है। **ऐतिहासिक तत्त्वों** में **पुरातत्त्व, युग, कल्प, प्रलय, ऋषि** एवं **राजाओं के वंशक्रम, देवासुर संग्राम** तथा **इन्द्र-वृत्र युद्ध** सम्बन्धी प्रामाणिक जानकारी वर्णित है। राजा के अधिकार व कर्तव्य, **राज्य की शासन व्यवस्था, संघ-शासन, राजतन्त्र** तथा **प्रजातन्त्र, राष्ट्र की कल्पना, राष्ट्र के प्रति कर्तव्य, राजा का निर्वाचन, राज्याभिषेक, प्रजा के अधिकार** तथा **कर्तव्यादि** विभिन्न **राजनीति सम्बन्धी विषयों** का भी इसमें विवरण किया गया है। **कृषि, अन्न, कृषि के उपकरण, क्षेत्रों का माप, व्यापार, पशुपालन, जीविका के साधन** आदि अनेक **आर्थिक विषयों** का भी **ऋग्वेद** में समावेश है। ऋग्वेद में **दार्शनिक विवेचन** भी पर्याप्त है। **पुरुष-सूक्त** तथा **नासदीय-सूक्त** में **सृष्टि का उद्भव** बतलाया गया है। इसमें **ब्रह्म, ईश्वर, जीव, माया, एकेश्वरवाद, बहुदेववाद, पुनर्जन्म, मोक्ष** आदि गहन विषयों पर भी विचार प्रस्तुत किये गये हैं। **आख्यान** एवं **सम्वाद सूक्तों** का साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है।

अत: अन्त में हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद **आर्य संस्कृति का विश्वकोश** है। डॉ० जी०एस० सुकणकर का कथन वस्तुत: सत्य है—

"Ṛgveda is the oldest record of the Aryans whose immediate descendants we are."

(Ghata's Lectures on Ṛgveda)

यजुर्वेद

वैदिक संहिताएँ मुख्यतः चार प्रकार की होती हैं— **ऋक्संहिता, यजुःसंहिता, सामसंहिता** तथा **अथर्वसंहिता**। ऋक्संहिता के मन्त्रों का लक्ष्य देवताओं का आह्वान है। इस संहिता का विस्तृत विवेचन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ पर यजुर्वेद का विस्तारपूर्वक विवेचन किया जा रहा है। यजुर्वेद में **यजुषों** का संग्रह है। विद्वानों ने '**यजुष**' शब्द की भिन्न-भिन्न व्युत्पत्तियाँ की है। कतिपय निम्नलिखित हैं—

(क) यास्कानुसार **यज्** (यज्ञ करना) धातु से **यजुष** शब्द निर्मित हुआ— '**यजुर्यजतेः**।' तात्पर्य यह है कि यज्ञ के लिए जो मन्त्र सर्वाधिक उपयोगी हैं, उनका अभिधान 'यजुष्' है।

(ख) '**इज्यतेऽनेनेति यजुः**' जिसके द्वारा यज्ञ किया जाय, वह '**यजुष्**' कहलाता है।

(ग) **जैमिनि के अनुसार**- '**शेषे यजुः शब्दः**', इसका तात्पर्य यह है कि ऋक् तथा साम से भिन्न मन्त्र 'यजुष्' है।

(घ) '**गद्यात्मको यजुः**' अर्थात् गद्यात्मक मन्त्रों की संज्ञा '**यजुष्**' है।

उपर्युक्त '**यजुष्**' शब्द की व्याख्याएँ भले ही अनेक हों किन्तु उनका अभिप्राय लगभग समान है। अतः यज्ञ की दृष्टि से **यजुर्वेद** का विशेष महत्त्व है। यह '**अध्वर्युवेद**' कहलाता है क्योंकि '**यज्ञ**' में '**अध्वर्युः**' **संज्ञक पुरोहित** की यह अपनी संहिता है। याग के चारों पुरोहितों में **अध्वर्यु** का श्रेष्ठ स्थान है। वही यज्ञ का निर्माता है। निम्नलिखित मन्त्र में यही तथ्य प्रकट किया गया है—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः॥

(ऋ० १०/७१/११)

अर्थात् कोई विद्वान् वेद मन्त्रों के पोषण को पुष्ट करता हुआ रहता है। कोई **शक्वरी** नामक ऋचाओं में गाने योग्य मन्त्रों (**साम**) को गाता है। कोई यज्ञ का ब्रह्म या अथर्ववेद का ज्ञाता **शिल्प विद्या** को कहता है और कोई यज्ञ की विधि को विशेष रीति से बतलाता है। **अध्वर्यु** शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ **यास्क** ने इस प्रकार से किया है— '**अध्वरं युनक्ति, अध्वरस्य नेता**'। इसका अभिप्राय यह है कि **अध्वर्यु** ही **यज्ञ का सम्पादक तथा नेता है**। कतिपय दृष्टियों से भले ही **ऋग्वेद** अधिक महत्त्वशाली हो परन्तु यज्ञ में सर्वाधिक उपयोगी **यजुर्वेद** ही है। प्रख्यात भाष्यकार

आचार्य सायण ने भी इसीलिए ऋग्वेद से भी पूर्व यजुर्वेद की **तैत्तरीय संहिता** पर भाष्य लिखा। इसका कारण बतलाते हुए उन्होंने स्वयं कहा– **"एवं सति अध्वर्युसम्बन्धिनि यजुर्वेद निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्यं तदपेक्षितौ स्तोत्रशास्त्ररूपौ अवयवौ इतरेण वेदद्वयेन पूर्य्यते इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमतो व्याख्यानं युक्तम्।"**

तथा

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा।

यजुर्वेदोऽथ होत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते॥'

अर्थात् यज्ञ में **आध्वर्यव** की प्रधानता होने के कारण पहले **यजुर्वेद** की व्याख्या की गई, तत्पश्चात् होत्र के लिए ऋग्वेद की व्याख्या की गई।

ऋग्वेदीय ऋचाओं की पुनरावृत्ति :– प्राचीन काल में **यजुर्वेद** के प्रमुख विषयों का ऋचाओं में ही प्रतिपादन हुआ। तत्पश्चात् विषयों के स्पष्टीकरण के लिए इसमें गद्यांशों का भी समावेश हो गया। अतः इसे '**यजुः**' के नाम से सम्बोधित किया गया और इसी आधार पर इस वेद को '**यजुर्वेद**' कहा जाने लगा। यजुर्वेद में उपलब्ध **गद्यभाग** काव्य, लय तथा ताल से अनुगत होता है। ध्यान दिए जाने पर यह ज्ञात होता है कि **यजुर्वेद** में उपलब्ध अधिकांश ऋचाएँ ऋग्वेद में भी दृष्टिगोचर होती हैं। इन समान ऋचाओं के यजुर्वेद में मात्र पाठान्तर ही प्राप्त होते हैं। यजुर्वेद की ऋचाएँ ऋग्वेदीय मन्त्रों से पूर्वकालीन तो नहीं है, किन्तु फिर इस सामान्य परिवर्तन के साथ ऋचाओं की पुनरावृत्ति का कारण क्या है? विचार करने पर विदित होता है कि यह सब अकारण नहीं है अपितु इसमें कोई विशेष उद्देश्य निहित है। इनका उद्देश्य **याज्ञिक नियमों** को निकट ऋचाओं की स्थापना करना है। इसीलिए यजुर्वेद में ऋग्वेद का कोई सम्पूर्ण सूक्त नहीं उद्धृत किया गया, अपितु ऋचाओं की पृथक्-पृथक् आवृत्ति ही दृष्टिगत होती है।

सम्प्रदाय :– यजुर्वेद कर्मकाण्ड का वेद है। यह दो सम्प्रदायों से सम्बद्ध है। इन सम्प्रदायों की संज्ञा निम्नलिखित है–

(१) ब्रह्म सम्प्रदाय, (२) आदित्य सम्प्रदाय।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार :– 'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंशि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' (शत०- १४/९/५/३३) अर्थात् **आदित्ययजुः शुक्लःयजुष्** के नाम से जाना जाता है और यह **याज्ञवल्क्य ऋषि** के द्वारा व्याख्यात है। इसीलिए शुक्लयजुर्वेद को **आदित्य सम्प्रदाय** का प्रतिनिधि माना जाता है। **कृष्णयजुर्वेद** को **ब्रह्म-सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व प्राप्त है। यह दक्षिण में अधिक प्रचलित है।**

कृष्ण तथा शुक्ल यजुर्वेद :- कृष्ण यजुर्वेद के कृष्णत्व का तथा **शुक्ल यजुर्वेद** के शुक्लत्व का क्या कारण है? यह भेद किस आधार पर किया गया है? इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर विदित होता है कि **शुक्ल यजुर्वेद** में केवल प्रार्थनाओं एवं याज्ञिक नियमों से सम्बन्धित वे मन्त्र हैं जो यज्ञ के अवसर पर पुरोहित द्वारा उच्चारित होते हैं। इसके विपरीत **कृष्ण यजुर्वेदीय शाखाओं** में मन्त्रों के साथ याज्ञिक विधियों तथा उन विधियों पर वाद-विवाद युक्त अंशों का भी समावेश हुआ है। यही पृथक्-पृथक् प्रकार का संयोजन तथा रचनाक्रम **कृष्ण यजुर्वेद** के कृष्णत्व का तथा **शुक्ल यजुर्वेद के शुक्लत्व** का हेतु है तथापि यजुर्वेद के कृष्ण एवं शुक्ल रूप में विभाजन के आधार को लेकर भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। इनमें से कतिपय प्रमुख मत निम्नलिखित हैं—

मैक्डानल का मत :- प्रो० मैक्डानल का मत है कि **शुक्ल यजुर्वेद** का वर्ण्यविषय **निर्मल, स्पष्ट** तथा **सुबोध** है, अतः वह शुक्ल है, जबकि कृष्ण यजुर्वेद का वर्ण्यविषय **सांकर्य युक्त** है। **कृष्ण यजुर्वेद** में पद्य के साथ **गद्य का भी सम्मिश्रण** है। यह शैली पाठकों को क्लिष्ट प्रतीत होती है, अतः यह कृष्ण है।

डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री का मत :- डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री ने भी इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। उनका मत है कि **शुक्ल यजुर्वेद का उत्तर भारत में व्यापक प्रसार तथा प्रचार है,** जबकि **कृष्ण यजुर्वेद दाक्षिणात्यों में अधिक प्रचलित है।** दक्षिण में अधिक प्रचलित होने के कारण कृष्ण यजुर्वेद में वैदिकेतर विचार धारा का भी पर्याप्त समावेश उपलब्ध होता है। **शुक्ल यजुर्वेद** इस प्रभाव से वंचित है। उसमें विशुद्ध वैदिक तत्त्वों का निरूपण हुआ है। अतः **शास्त्री जी** के विचार से **शुद्ध विचार धारा से सज्जित होने के कारण शुक्ल यजुर्वेद को 'शुक्ल'** तथा **मिश्रित विचार धारा के संयोजन से कृष्ण यजुर्वेद को 'कृष्ण'** अभिधान प्राप्त हुआ।

विन्टरनिट्ज का मत :- विन्टरनिट्ज ने कृष्ण तथा शुक्ल यजुर्वेद के इस प्रकार के विभाजनों को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने इनके विभाजन को सामान्य भाव से निरूपित किया है। **उनके अनुसार कृष्ण यजुर्वेद के सापेक्ष में शुक्ल यजुर्वेद अधिक प्रचलित है,** इसीलिए अधिक महत्त्वपूर्ण भी है। इसके अतिरिक्त इनके विभाजन का कोई विशेष कारण नहीं है।

पं० बलदेव उपाध्याय का मत :- उपाध्याय जी ने पुराणों में प्राप्त एक **साम्प्रदायिक कथा** को कृष्ण तथा शुक्ल के नामकरण का आधार बतलाया है। इन्हीं के शब्दों में यह कथा निम्नलिखित है— "**वेदव्यास** ने अपने शिष्य **वैशम्पायन** को **यजुर्वेद** सिखलाया जिन्होंने इसे **याज्ञवल्क्य ऋषि** को पढ़ाया। किसी कारण गुरु अपने शिष्य से

रुष्ट हो गए और पठित विद्या को उनसे माँगने लगे। **याज्ञवल्क्य** ने पठित **यजुषों** का वमन कर दिया। तब अन्य शिष्यों ने **तित्तिर** रूप धारण कर उन्हें चुग लिया। **यही कृष्ण यजुः हुआ**, उधर याज्ञवल्क्य ने सूर्य की आराधना कर नवीन यजुषों को उत्पन्न किया, वही हुआ शुक्ल यजुर्वेद। इन दोनों के रूप में महान् अन्तर है। **शुक्ल यजुः में केवल मन्त्रों का ही संग्रह है जिसमें विनियोग वाक्य नहीं है**। अतः ब्राह्मण से अभिश्रित होने के कारण यह शुक्ल कहा जाता है। परन्तु '**कृष्ण यजुर्वेद**' में छन्दोबद्ध मन्त्रों तथा गद्यात्मक विनियोगों का मिश्रण है। इसी मिलावट के कारण इसे कृष्ण यजुर्वेद कहते हैं। **शुक्ल यजुर्वेद की संहिता वाजसनेयी संहिता** कहलाती है क्योंकि सूर्य ने वाजी (घोड़े) का रूप धारण कर इसका उपदेश दिया था।''

शुक्ल यजुर्वेद की श्रेष्ठता– पाश्चात्य तथा पौरस्तय वेदज्ञों ने कृष्ण यजुर्वेद की तुलना में शुक्ल यजुर्वेद को अधिक महत्त्वपूर्ण तथा उत्तम बतलाया है। इसीलिए **यजुर्वेद** के वर्ण्य विषय के विवेचन में **शुक्ल यजुर्वेद** को ही सर्वत्र आधार बनाया है। **यजुर्वेद में मुख्यतः यज्ञ का ही प्रतिपादन हुआ है**। यज्ञ के सम्पादन से ही मानव राक्षसी शक्तियों तथा अमानवीय प्रवृत्तियों को परास्त कर अमृतत्व को प्राप्त करता है–

'उदयं तमस स्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥'

अर्थात् अज्ञान से प्रकाश की ओर अग्रसर होना, मृत्यु से अमरता की ओर अग्रसर होना, आत्मा की निरन्तर समुन्नति ही अमृतत्व है।

कृष्ण यजुर्वेद की अपेक्षा **शुक्ल यजुर्वेद** में मानवीय जीवन के शुक्ल पक्ष को अधिक स्थान मिला है। उसमें जीवन का उदात्त तथा समुज्ज्वल पक्ष के महत्त्व को स्वीकार किया गया है–

'अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्यावः सन्त्वाशिषः॥'(२१६)

अर्थात् हमारे नेक विचार तथा श्रेष्ठ मनोकामनाएँ पूर्णता को प्राप्त हों।

यजुर्वेद में दीर्घ जीवन की कामना की गई है–

'कुर्वन्नेवेह कर्माणिजिजीविषेच्छतं समाः।'

अर्थात् यहाँ हम कर्मरत होकर सौ वर्ष तक जीवित रहें।

शुक्ल यजुर्वेद में **वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना का स्पष्ट उद्घोष किया गया है–

'मित्रास्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।' (३६/१८)

अर्थात् मैं मित्र की दृष्टि से समस्त प्राणियों को सम्यक देखूँ।

वर्णाश्रम व्यवस्था के बारे में भी **यजुर्वेद मन्त्रों** में किंचित जानकारी दी गई है–

'ब्राह्मणें ब्राह्मणं क्षत्रय राजन्य मरूते वैश्य तपसे शूद्रम्।'

शुक्ल यजुर्वेद में सूर्य देव की भी अति मनोहर स्तुति की गई है–

'आकृष्णेन रजसा वर्तमानोनिवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।

हिरण्येन सविता रथेनादेवो ययाति भुवनानि पश्यन्।।'

(अ.३३/ म०४३)

अर्थात् हे मानवों! जो अपने ज्योतिःस्वरूप व रमणीय स्वरूप के आकर्षण से परस्पर सम्बद्ध लोक या मात्रा के साथ अपने भ्रमण की आवृति करता हुआ, सब लोकों को दिखाता हुआ, प्रकाशमान सूर्यदेव, जल या अविनाशी आकाशादि और मरणधर्मा प्राणियों को अपने-अपने प्रदेश में स्थापित करता हआ उदयास्त समय में आता जाता है वह ईश्वर-निर्मित सूर्यलोक है।

यजुर्वेद में ओषधियों का भी सुन्दर निरूपण हुआ है। यथा–

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।

विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः।।

(यजु० १२/८०)

अर्थात् हे मानवों! तुम लोग जिन स्थानों में सोमलतादि ओषधि होती हो, उनको जैसे राजधर्म से युक्त वीरपुरुष युद्ध में शत्रुओं को प्राप्त करते हैं, वैसे प्राप्त हो, जो दुष्ट लोगों का विनाशक रोगों को निवृत्त करने वाला बुद्धिमान वैद्य हो, वह तुम्हारे प्रति औषधियों के गुण का उपदेश करे और औषधियों का तथा उस वैद्य का सेवन करो।

तथा या फलिनीः या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।

वृहस्पति प्रसूतास्ता नो मुञ्चत्वं हंसः।। (अ०१२/म०८९)

अर्थात् हे मानवों! जो अतिफलसम्पन्न, जो फलहीन, जो पुष्पहीन तथा जो अतिपुष्पसम्पन्न वेदवाणी के स्वामी ईश्वर से उत्पन्न की हुई औषधि से हम को दुःखदायी रोग से जैसे छुड़ावें, वे तुम लोगों को भी वैसे रोगों से छुड़ावें।

अतः **उपर्युक्त उत्कृष्ट विषय सामग्री के समावेश होने के कारण शुक्ल यजुर्वेद, कृष्ण यजुर्वेद की तुलना में श्रेष्ठ कहलाता है।**

यजुर्वेद की शाखाएँ – यजुर्वेद की शाखाओं की निश्चित संख्या के निर्धारण में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। **महाभाष्यकार पतञ्जलि** ने 'एकशत यजुः' के द्वारा यजुर्वेद की १०१ शाखाओं का उल्लेख किया है। **शौनक** ने **चरणव्यूह** में यजुर्वेद की ८६ शाखाएँ बतलाई हैं। इस वेद की **सूतसंहिता, ब्रह्माण्डपुराण** तथा **स्कन्दपुराण** के अनुसार १०७ तथा **मुक्तिकोपनिषद्** के अनुसार १०९ शाखाएँ थीं। सम्प्रति यजुर्वेद की कुल ६ शाखाएँ प्राप्त होती हैं।

कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएँ इस प्रकार हैं–

(१) **तैत्तिरीय शाखा,** (२) **मैत्रायणी शाखा,** (३) **कठ शाखा,** (४) **कठ कपिष्ठल शाखा**।

शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ उपलब्ध हैं—

(१) वाजसनेयी शाखा (२) काण्व शाखा

विषय विवेचन – शुक्ल यजुर्वेद को **वाजसनेयी संहिता** भी कहा जाता है। **वाजसेनी** के पुत्र **याज्ञवल्क्य** इसके द्रष्टा हैं, इसीलिए इसका शुक्ल यजुष्, यह नाम पड़ा। यह भी प्रचलित है कि वाजी का रूप धारण करके याज्ञवल्क्य को शुक्ल यजुष् की प्राप्ति वरदान रूप में हुई, अतः इसकी **वाजसनेयी संहिता** संज्ञा हुई। इस संहिता में कुल ४० अध्याय हैं जिनमें से अन्तिम १५ अध्याय **खिलरूप** से प्रसिद्ध हैं और इन्हें अवान्तरयुगीय माना जाता है। सम्पूर्ण यजुर्वेद में मुख्य रूप से **कर्मकाण्ड** का प्रतिपादन हुआ है अतः समस्त शाखाओं में विषयवस्तु प्रायः समान है। इसलिए **वाजसनेयी संहिता** के विषयों का विस्तृत विवेचन यहाँ प्रस्तुत है। यही विवेचन अन्य यजुर्वेदीय संहिताओं के विषयों के परिचयार्थ भी पर्याप्त है।

वाजसनेयी संहिता के समस्त चालीस अध्यायों में विशाल यज्ञों के प्रार्थना सम्बन्धी मन्त्रों का संग्रह है। इनमें यज्ञों के महत्व तथा याज्ञिक-क्रियाओं के विषय में में सम्पूर्ण जानकारी उपलब्ध होती है। जिन प्रमुख यज्ञों का इसमें निरूपण है, उनके नाम निम्नलिखित हैं—

(१) दर्शयज्ञ (२) पौर्णमास यज्ञ (३) चातुर्मास्ययज्ञ (४) सोमयाग (५) वाजपेययज्ञ (६) राजसूय यज्ञ (७) शतरुद्रीययज्ञ (८) सौत्रामणी यज्ञ (९) अश्वमेधयज्ञ (१०) पुरुषमेधयज्ञ (११) सर्वमेधयज्ञ (१२) पितृमेधयज्ञ (१३) प्रवर्ग्य यज्ञ आदि।

जो अन्य विषय इसमें निरूपित हैं— (१) **अग्निवेदी का निर्माण**, (२) **मन की महिमा**, (३) **प्रहेलिकाएँ**, (४) **देवों की विविध उपाधियाँ** आदि। २६ अध्याय से २९ अध्याय तक **खिलसूक्त** तथा ४०वाँ अध्याय **ईशावास्योपनिषद्** है।

इन सबका विस्तृत विवरण निम्नलिखित है—

दर्शयज्ञ :– दर्शयज्ञ से सम्बन्धित मन्त्रों का विन्यास **प्रथम अध्याय** में मिलता है। वस्तुत: दर्श, अमावस्या है जिसमें रात्रि में आकाश में चन्द्र दर्शन नहीं होता। अत: पृथ्वीवासी चन्द्र अदर्शन से उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिए ही ज्योत्सना की कामना करते हैं। यह दोष सविता दूर कर सकता है तथा शीतलता प्रदान करने की शक्ति जल में है। औषधियाँ चन्द्रमा द्वारा पोषित होती हैं। **दर्श-यज्ञ** इन सबको भोज्य पदार्थ प्रदान करता है। यही संक्षेप में दर्श-यज्ञ का विषय है। प्रथम अध्याय के अन्तिम मन्त्रों में **देव यज्ञ** की ओर संकेत किया गया है—

सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।
तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि।।

(यजु० १/३१)

अर्थात् जो **यज्ञ** परमेश्वर द्वारा उत्पन्न किए गए विश्व में सदैव पवित्र एवं प्रकाशवान् सूर्य की रश्मियों के साथ मिलकर समस्त पदार्थों को शुद्ध करता है, वह यज्ञ, यज्ञकर्ता को उत्कृष्टता के साथ पवित्र करता है। हे ब्रह्मन्! जिस कारण आप स्वयं प्रकाशवान् शुक्र नाशरहित समस्त पदार्थों के आधार वन्दनीय विद्वानों के प्रीतिकारक एव अन्य विद्वानों के पूज्य हैं, इससे मैं आपका ही आश्रय करता हूँ।

पौर्णमास-यज्ञ :– पौर्णमास-यज्ञ विषयक मन्त्रों का संग्रह **द्वितीय अध्याय** में प्राप्त होता है। यह यज्ञ पूर्णमासी से सम्बन्धित है। द्वितीय अध्याय के प्रथम मन्त्रों में पूर्णिमा के आकर्षण का संकेत मिलता है। यह संकेत हमें **'कृष्णोऽसि'** पद से मिलता है। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्रों में पितरों का वर्णन है। जो व्यक्ति अपनी स्वार्थ पूर्ति को त्यागकर जनहित के कार्य करते हैं, वे **'पितर'** होते हैं। मृत्यु के पश्चात् ये चन्द्रलोक के वासी बनते हैं। **पितरों** को किन पदार्थों से सत्कार करना चाहिए, इस विषय में निम्नलिखित मन्त्र में उपदेश निहित है—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्।।

(यजु० २/३४)

अर्थात् हे पुत्रों! तुम मेरे पितरों को अनेक प्रकार के उत्तम रस, सुख प्राप्त करने वाले स्वादिष्ट जल, सभी व्याधियों की नाशक औषधि, मिष्ठानादि पदार्थ, दूध, घी, उत्तम विधि से पकाया गया अन्न तथा रस से परिपूर्ण फल प्रदान करके तृप्त करो।

अग्निहोत्र एवं चातुर्मास्य यज्ञ :– तीसरा अध्याय अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य यज्ञ का विवरण प्रस्तुत करता है। अग्नि की स्थापना एवं प्रतिदिन प्रातः एवं सायं यज्ञ का सम्पादन 'अग्निहोत्र' कहलाता है। इस अध्याय की **प्रथम ऋचा** में ही अग्निहोत्र के सम्पादन का उपदेश दिया गया है। इसी अध्याय में **चातुर्मास्य यज्ञ** से सम्बन्धित मन्त्रों में **याजक** प्रार्थना करता है–

इन्धानास्त्वा शतꣳ हिमा द्युमन्तꣳ समिधीमहि।
वयस्वन्तो वयस्कृतꣳ सहस्वन्तः सहस्कृतम्।
अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासो अदाभ्यम्।
चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय।। (३/१८)

हे अग्निदेवता! आप अनन्त प्रकाश वाले, तेजस्वी, शत्रुविनाशक, सहनशील, आश्चर्यरूप धनसम्पन्न एवं अहिंसक हैं। सौ वर्षों तक आपको प्रकाशित करते हुए, अग्निहोत्रादि करते हुए, हम भी पूर्ण आयु वाले, शक्तिसम्पन्न एवं अदब्ध, अविजेय बने रहें। हे परमेश्वर! हमें पाप से दूर करो। हमारा जीवन मङ्गलमय बने।

जो यज्ञ प्रत्येक चार मास के पश्चात् किया जाता है, वह 'चातुर्मास्य' यज्ञ कहलाता है। इसके लिए धनधान्य से परिपूर्ण **गृहस्थाश्रम** की आवश्यकता होती है।

सोमयाग :– सोमयगों का वर्णन **चतुर्थ से लेकर अष्टम अध्याय तक** उपलब्ध होता है। **अग्निष्टोम** के **प्रकृतियाग** होने से विस्तृत विवेचन किया गया है। इन यज्ञों में सोम को पत्थरों से कूटकर, रस निकाल कर दूध में मिलाया जाता है। उससे प्रातः काल, मध्याह्न तथा सांयकाल अग्नि से हवन किया जाता है। इसकी **'सवन'** संज्ञा है जो तीनों कालों के अनुसार विभिन्न संज्ञाओं से प्रसिद्ध है। **सोम यागों** का उद्देश्य जीवन को संयत क्रम में बाँधना है। इनसे हमारे संकल्पों को शक्ति प्रदान होती है। **सोमरस** तो शारीरिक शक्ति को **प्राण** देता है तो **मानसिक शक्ति** को ऋक्–यजु–साम का ज्ञान भी प्रदान करता है।

वाजपेययज्ञ :– नवम अध्याय का सम्बन्ध **'वाजपेय यज्ञ'** से है। 'एकाह' अर्थात् एक दिन में समाप्त सोमयागों में **'वाजपेय'** अन्यतम है। **याजक** अन्न, बल, ज्ञान अथवा किसी भी प्रकार की शक्ति ग्रहण करना चाहता है तो उसको इन सबको

आत्मसात् करना पड़ता है। तब वह **वाजपेयी** बनने का अधिकारी होता है। जो वाज को पेयरूप में ग्रहण कर लें तथा उसे व्यर्थ न जाने दें, वही **वाजपेय यज्ञ** का कर्ता कहलाता है। यह यज्ञ मूलतः **योद्धाओं** तथा **राजाओं** द्वारा किया जाता था। इसका सम्बन्ध घोड़ों की धावन प्रतियोगिता से जोड़ा जाता है। इसमें **सुरामिश्रित सोमरस** का पान होता था। इस सुरापान का ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल में निषेध किया गया था।

राजसूय यज्ञ :- दशम अध्याय में राजसूय यज्ञ वर्णित है। यह राजा जनक के राज्याभिषेक के अवसर पर किया गया था। राज्याभिषेकोपरान्त राज्य का भार राजा के शिर पर आ जाता है जिसका उसे सफलतापूर्वक निर्वाह करना पड़ता है। इसीलिए इस अध्याय में राजनीति, राजतन्त्र तथा राजोपयोगी शिक्षा का निरूपण हुआ है। अन्तिम मन्त्र में राजा तथा प्रजा के सम्बन्ध का निर्देश है—

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक्।। (१०/३४)

हे विशिष्ट धन से सम्माननीय समस्त सभाओं के स्वामी! आप बुद्धिबल से आरामदायक रस को विविध प्रकार से पीवें, आप विद्या से उत्तम शिक्षा प्राप्त वाणी के समान स्त्री सेवन करे। राजा से आज्ञा प्राप्त (तुम दोनों) सेनापति तथा न्यायाधीश, परम विद्वानों द्वारा किए कर्मों से जैसे माता-पिता अपने सन्तान की रक्षा करते हैं वैसे समस्त राज्य की रक्षा करों।

अग्निचयन :- अध्याय ११ से १८ तक 'अग्निचयन' का विस्तारपूर्वक वर्णन है। **अग्निचयन का अभिप्राय है— 'याज्ञीय होमाग्नि के लिए वेदिका निर्माण।'** यह गृहस्थ के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसके निर्माण में १०,८०० ईंटों का प्रयोग होता है। **यज्ञकुण्ड** पंख खोले पक्षी के आकार का बनाया जाता था। **वैखानस गृह्यसूत्र** तथा **शतपथ ब्राह्मण** में वेदि तथा उसके विविध ईंटों के आध्यात्मिक रूप का व्याख्यान बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। ११वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में **अग्निचयन** का स्पष्ट उल्लेख है। यह न केवल **पार्थिव अग्निचयन** का ही अपितु **मानसिक** एवं **आध्यात्मिक अग्निचयनों** का भी निर्देश कर रहा है—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याऽभरत्।। (११/१)

अर्थात् जो ऐश्वर्य का इच्छुक मनुष्य उन परमेश्वरादि पदार्थों के ज्ञान के लिए प्रथम विचार स्वरूप अन्तःकरण की वृत्तियों को **योगाभ्यास** तथा **भूगर्भविद्या** में युक्त

हुआ पृथिवी आदि में निवास करने वाली बिजली के प्रकाश को निश्चय करके भूमि के ऊपर धारण करे वह योगी तथा भूगर्भविद्या का ज्ञाता होवे।

शतरुद्रीययज्ञ :– १६वें अध्याय में शतरुद्रीय-यज्ञ का विवेचन है। इसमें **रुद्र** की कल्पना का अत्यन्त **साङ्गोपाङ्ग विवरण** प्राप्त होता है। वेदज्ञों में यह **रुद्राध्याय** अत्यन्त उपयोगी होने से **अतिप्रसिद्ध** है। इस अध्याय के देवता '**रुद्र**' ही है।

सौत्रामणी यज्ञ :– १९वें अध्याय से लेकर २१वें अध्याय तक उपलब्ध मन्त्रों में **उत्सवरूपी सौत्रामणी** यज्ञ का वर्णन है। इस यज्ञ में **सोमरस** के साथ **सुरापान** का भी उल्लेख है। कहा भी गया है– "**सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्**।" सोमरस को निचोड़कर सुरा मिलाकर पान करना बलवर्द्धक होता है। यह सुरा अश्विनीकुमार सरस्वती तथा इन्द्र को आहुति द्वारा दी जाती है। इस यज्ञ को अश्विनी कुमार ने इन्द्र के रोग दूर करने के लिए किया था क्योंकि अधिक सोमपान से इन्द्र रोगग्रस्त हो गए थे। यह यज्ञ किसी भी प्रकार के व्यक्ति द्वारा अपनी सफलता के लिए किया जाता था। यथा राजा द्वारा राज सिंहासन की पुनः प्राप्ति के लिए, विजयेच्छु योद्धा के लिए, ऐश्वर्याभिलाषी वैश्य के लिए इस यज्ञ का अनुष्ठान विहित है।

अश्वमेध यज्ञ :– अध्याय २२ से २५ तक **अश्वमेध यज्ञ से सम्बन्धित प्रार्थनाओं का संग्रह है**। यह यज्ञ सार्वभौम आधिपत्य के अधिकारी सम्राट द्वारा किए जाते रहे हैं। इस यज्ञ का सम्पादन चक्रवर्ती सम्राट द्वारा ही किया जा सकता है। अध्याय २० के प्रथम १३ मन्त्रों में राजतन्त्र की उपमा मानवीय शरीर से दी गई है। इस यज्ञ में घोड़ा छोड़ा जाता है। जिस राज्य में घोड़ा निर्वाद रूप से अतिक्रमण कर लेता है, वह राज्य अश्वमेध यज्ञ के कर्ता के अधीन हो जाता है। जहाँ अश्व को बाधा पहुँचाई जाती है, वहाँ संग्राम होता है तथा संग्राम का परिणाम ही चक्रवर्ती सम्राट के पद का निर्णायक होता है। अध्याय २२ का प्रथम मन्त्र ही अश्व छोड़े जाने की प्रक्रिया बतलाता है। अश्व छोड़े जाने के समय निम्नलिखित ऋचा का पाठ किया जाता है–

स्वगा त्वा देवेभ्यः प्रजापतये ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामि देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्यासम्।

तं बधान देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्नुहि।। (२२/४)

इस मन्त्र में प्रजा की ओर से पुरोहित सम्राट् को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह प्रजा के अभ्युदय तथा रक्षा के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करे। सभी स्वतन्त्रता तथा ऐश्वर्य का उपभोग करें। दूसरे के हितों का सभी ध्यान रखें।

खिलसूक्त :- २६वें अध्याय से ४० अध्याय तक के मन्त्रों को निःसन्देह रूप से परवर्तीकालीन रचना स्वीकार किया जाता है। इनमें से २६ से २९ अध्याय तक का अंश **खिलसूक्त** के नाम से जाना जाता है। विषयवस्तु की दृष्टि से खिल सूक्तों में कोई नवीन वस्तु नहीं है, अपितु पिछले अध्यायों में कथित अनुष्ठानों के सम्बन्ध में नवीन मन्त्रों द्वारा वर्णन किया गया है।

पुरुषमेध यज्ञ :- पुरुषमेध यज्ञ का वर्णन ३०वें अध्याय में किया गया है। यह अध्याय एक जोड़ के सदृश प्रतीत होता है क्योंकि इस अध्याय में एक भी प्रार्थना नहीं उपलब्ध होती है। इस अध्याय में १८४ पदार्थों व व्यक्तियों का आलम्भन उपलब्ध होता है। यह आलम्भन यथार्थ आलम्भन नहीं है बल्कि **पुरुष मेध यज्ञ** के अवसर पर प्रतीक रूप में किया जाता था। भारत में कभी भी पुरुषमेध यज्ञ हुआ हो, ऐसा वर्णन कहीं भी इतिहास पुराणादि में उपलब्ध नहीं होता। यह यज्ञ कल्पनाप्रसूत है, इसमें पुरुष की विभिन्न प्रतिनिधिभूत वस्तुओं के लिए पृथक्-पृथक् पदार्थों में दान का विधान था। जैसे नृत्तार्थ सूत की, गीत के लिए नट की, धर्म के लिए समाचर की, पुरोहित के लिए ब्राह्मण की, राजवंश के लिए वीर योद्धा की, मरुत्गणों के लिए वैश्य की, संन्यासी के लिए शूद्र की, अन्धकार के लिए चोर की, नरकार्थ हत्यारे की, कामार्थ वाराङ्गना की, कोलाहलार्थ गायक की, अक्षार्थ द्यूतकर की, निद्रार्थ नेत्रहीन की, अन्यायार्थ वधिर की, यथार्थ रजक पत्नी की, कामनार्थ रजक पत्नी की, यथार्थ वन्ध्या की, आनन्दार्थ वीणा वादक की, क्रन्दनार्थ मुरली वादक की, स्वर्गार्थ खल्वाट् की तथा पृथ्वी के लिए पंगु की आलम्भन की विधि विहित है।

पुरुषसूक्त :- ३१वाँ अध्याय प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त है। यहाँ **पुरुष** को सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति के रूप में उपस्थित किया गया है। इस अध्याय को एक '**उपनिषद्**' भी कहा जाता है। **पुरुष-मेध-यज्ञ** करते समय पुरोहित द्वारा इसी के मन्त्रों का सस्वर पाठ किया जाता है। **ऋग्वेद** में दशम मण्डलान्तर्गत उपलब्ध ९०वें सूक्त में संसार की उत्पत्ति **पुरुषबलि** के द्वारा बतलाई गई है तथा विश्व व पुरुष को अभिन्न निरूपित किया गया है। यजुर्वेदीय पुरुष सूक्त में ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त से ८ मन्त्र अधिक मिलते हैं।

सर्वमेध यज्ञ :- ३२वें तथा ३३वें अध्याय में **सर्वमेध यज्ञ** का वर्णन किया गया है। ३२वें अध्याय में केवल १६ तथा ३३वें अध्याय में कुल ९६ मन्त्र हैं। **यह वह सर्वोत्कृष्ट यज्ञ है जिसके समाप्त होने पर यज्ञ करने वाला यजमान पुराहित को यज्ञ के पश्चात् अपना सब कुछ दक्षिणा के रूप में समर्पित करता है और शेष जीवन के निर्वाह हेतु वानप्रस्थ ग्रहण कर लेता है। यही इस यज्ञ का वैशिष्ट्य है।**

मन की महिमा :– ३४वें अध्याय के प्रारम्भ में '**शिवसंकल्प उपनिषद्**' नामक ६ मन्त्रों का सङ्कलन दृष्टिगोचर होता है। यह संकलन तथा उसकी वृत्तियों के स्वरूप निरूपण में अत्यन्त उपयोगी है। इसमें मन की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। इस मन में वेग है, कर्म को प्रेरणा देने वाली शक्तियाँ हैं, चेतना है, घृति है, त्रिकाल का ज्ञान है। इसमें तीनों वेद विद्यमान है और यह स्वयं हृदय में स्थित है। इसके अन्त में **मन को 'शिव सङ्कल्प' होने की प्रार्थना की गई है**, जिससे उसकी इच्छा सदैव मंगलदायक बने–

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।। (३४/५)

अर्थात् जो मन, जैसे सुन्दरचतुरसारथि गाड़ीवान लगाम से घोड़ों को सभी ओर से चलाता है, वैसे मनुष्यादि प्राणियों को शीघ्रतापूर्वक इधर–उधर घुमाता है तथा जैसे रस्सियों से वेग वाले घोड़ों को सारथि वश में करता तथा नियम में रखता है, जो हृदयस्थ विषयादि में प्रेरक या वृद्धादि अवस्था रहित तथा अत्यन्त वेगवान् है, वह मेरा मन मङ्गलमय नियम में इष्ट होवे।

पितृमेधयज्ञ :– ३६वें अध्याय में **पितृमेध सम्बन्धी मन्त्रों का संग्रह** है। इसमें पितरों की संतुष्टि के लिए ऋचाएँ संगृहीत है। इसके कतिपय मन्त्र अन्त्येष्टि क्रिया से सम्बन्धित हैं। इन **मन्त्रों को ऋग्वेद से ग्रहण किया गया है**।

प्रवर्ग्य यज्ञ :– ३६वें अध्याय से लेकर ३९वें अध्याय तक प्रवर्ग्य यज्ञ की प्रार्थनाओं का संकलन है। इन अध्यायों में प्रवर्ग्ययज्ञ का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस यज्ञ में एक थाली को यज्ञाग्नि पर खूब गर्म किया जाता है। यह थाली सूर्य की प्रतिनिधि के रूप में मानी जाती है। इस दहकती हुई अग्नि में दूध को उबाला जाता है। इस प्रकार उष्ण किया गया दूध अश्विनी कुमारों द्वारा मिलाया जाता है। इस यज्ञ में एक गूढ़ रहस्य निहित है। इसमें **यज्ञ** के पात्र ऐसे क्रम से रखे जाते हैं कि वह सब मिलकर एक पुरुष की आकृति का रूप धारण कर लेते हैं। यथा– **दूध की थाली मस्तक हो, पावन तृण से निर्मित शिखा केशपाश हो, दो लघु दुग्धपात्र कान हों, दो छोटे सुनहले पत्ते आँखें हों, दो पात्र ऐडी हों, माड़ा हुआ आटा मेद तथा मज्जाएँ हो, दूध से मिला शहद ही रुधिर हो आदि**। इसी प्रकार अन्य अंगों की भी कल्पना की गई है। यह समस्त विधान रहस्यात्मक है।

ईशावास्योपनिषद् :– ४०वाँ अथवा अन्तिम अध्याय '**ईशावास्योपनिषद्**' के रूप में विख्यात है। इसका यह अभिधान अपने प्रारम्भिक दो शब्दों के कारण पड़ा।

यह अत्यन्त लघु उपनिषद् समस्त उपनिषदों में आदि स्वीकार किया जाता है। यही एक मात्र ऐसा उपनिषद् है जो किसी संहिता का अंश है। अन्य उपनिषदों के साथ ऐसी बात नहीं है, वे किसी संहिता के अंश न होकर स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। **यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी उपनिषद् है, इसमें आद्योपान्त ज्ञान की चर्चा की गई है।** अपने पृथक् वर्ण्य विषय के कारण यह अवान्तर कालीन रचना प्रतीत होती है। वस्तुत: कर्मकाण्ड का समापन इसी प्रकार की ज्ञान चर्चा से होना चाहिए।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ॐ खं ब्रह्म।। (४०/१७)

अर्थात् हे मनुष्यों! जिस ज्योति स्वरूप रक्षक मुझसे अविनाशी यथार्थ कारण के ढके हुए मुख के सदृश उत्तम अंग का आलोक किया जाता है, जो वह सूर्यमण्डल में पूर्ण परमात्मा है। वह परोक्षरूप मैं आकाश के सदृश व्यापक सबसे गुण कर्म और स्वरूप करके अधिक हूँ। सबका रक्षक जो मैं हूँ उसका ऐसा नाम जानो।

कृष्ण यजुर्वेद का वर्ण्य विषय :- कृष्ण यजुर्वेद की **चरण व्यूह** के अनुसार ८५ शाखाएँ हैं किन्तु वर्तमान काल में केवल चार शाखाएँ तथा उससे सम्बन्धित साहित्य मिलता है। वे शाखाएँ निम्नलिखित हैं—

१. तैत्तरीय शाखा (२) मैत्रायणी शाखा (३) कठ शाखा (४) कपिष्ठल शाखा

शुक्ल यजुर्वेद के वर्ण्य विषय में तथा कृष्ण यजुर्वेद के वर्ण्य विषय में कोई विशेष भेद नहीं है। दोनों में जिन अनुष्ठानादि विधियों का वर्णन किया गया है, वे प्राय: एक समान ही हैं। अन्तर है तो केवल इतना ही **कि शुक्ल यजुर्वेद में केवल मन्त्रों का संकलन है, जबकि कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ ब्राह्मणों का भी संमिश्रण है। तैत्तरीय संहिता** में भी शुक्ल यजुर्वेद के समान ही **पुरोडाश, याजमान, वाजपेय, राजसूय** आदि अनेक **यज्ञीय अनुष्ठानों** का विस्तारपूर्वक वर्णन है। **मैत्राणयी संहिता गद्यपद्यात्मक** है। इस संहिता के **प्रथम काण्ड** में **दशपूर्णमाश, अध्वर, आधान, पुनराधान, चातुर्मास्य** तथा **वाजपेय** यज्ञ चर्चित है। द्वितीय काण्ड में **काम्य ईष्टि, राजसूय** तथा **अग्निचित्ति** वर्णित है। **तृतीय काण्ड में अग्निचित्ति, अध्वरविधि, सौत्रामणी** तथा **अश्वमेध** यज्ञ का विस्तृत विवेचन है। **चतुर्थ काण्ड** में पूर्वकथित यज्ञों के सम्बन्ध में अन्य आवश्यक सामग्री एकत्रित की गई है। **कठ संहिता में पाँच खण्ड हैं– इठिमिका, मध्यमिका, ओरिमिका, याज्यानुवाक्या काण्ड एवं अश्वमेधाधुवचन।** इन खण्डों को टुकड़ों में विभाजित किया गया है, **टुकड़ों का नाम है– 'स्थानक'। इठिमिका में १८ स्थानक हैं जिनमें पुरोडाश, अध्वर, पशु-बन्ध, वाजपेय, राजसूय**

आदि वर्णित है। **माध्यामिका में १२ स्थानक हैं**, जिसमें **सावित्री, पञ्चचूड, स्वर्ग, दीक्षित, आयुष्य** आदि का **विवेचन मिलता है। ओरिमिका काण्ड** में १० स्थानक हैं, जिनमें **पुरोडाश ब्राह्मण, यजमान ब्राह्मण, सत्र, प्रायश्चित्ति चातुर्मास्य, सब, सौत्रामणी** आदि का विवेचन है। चतुर्थ काण्ड का भी यही वर्ण्यविषय है। अन्तिम काण्ड १३ अनुवचनों वाला है। **कपिष्ठल कठ संहिता** का वर्ण्य विषय भी अन्य यजुर्वेदीय शाखाओं के समान ही **कर्मकाण्ड का प्रतिपादन** है। वस्तुत: यजुर्वेद की समस्त मन्त्र संहिताएँ मन्त्रों तथा यज्ञीय अनुष्ठानों की दृष्टि से अत्यधिक समानता का निर्वाह करती है।

यजुर्वेदीय प्रहेलिकाएँ :- जिस प्रकार ऋग्वेद में प्रहेलिकाओं की प्रतिपत्ति है, उसी प्रकार यजुर्वेद में भी प्रहेलिकाओं की उपलब्धि होती है। इस **वेद में आध्यात्मिक प्रहेलिकाओं का एक विशेष अंश समाविष्ट** है। इन आध्यात्मिक प्रहेलिकाओं को ब्राह्मण ग्रन्थों की कल्पना की प्राक्कलपनाएँ कहा जा सकता है। उस काल में प्रहेलिकाएँ एक प्रथा के रूप में प्रचलित थी। यह प्रथा पूर्णत: धार्मिक थी। प्राचीन काल में **अश्वमेधादि यज्ञ** के अवसर पर इन प्रहेलिकाओं से ब्राह्मण वर्ग अपना मनोरञ्जन किया करता था। इन प्रहेलिकाओं में विषय की दृष्टि से विविधता प्राप्त होती है। कतिपय प्रहेलिकाएँ यौवन की स्मृति को कुदेरने वाली तथा कतिपय प्रहेलिकाएँ यज्ञीय गूढ विषयों तथा **औपनिषदिकतत्त्वचिन्तन** से मण्डित हैं। ये प्रहेलिकाएँ वाजसनेयी संहिता के २३वें अध्याय में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती हैं। वैदिक काल में ये **प्रहेलिकाएँ देवताओं की पूजा का एक आवश्यक अंश हुआ करती थी।**

देवों की उपाधियाँ :- आधुनिक काल में एक ही देवता की विभिन्न संज्ञाएँ हैं। प्रत्येक देवता को अनेक नामों से पुकारा जाता है। यथा **विष्णुसहस्रनाम में विष्णु** के **एक हजार** तथा **शिवसहस्रनाम** में शिव के **एक हजार नाम संगृहीत हैं। समाज में राम तथा कृष्णादि को भी एकाधिक अभिधान प्राप्त है**, यहाँ तक कि भक्तों ने **कृष्णसहस्रनाम** तथा **राधासहस्रनाम** की भी रचना कर डाली है। इस परम्परा का भी बीज हमें यजुर्वेद में उपलब्ध होता है जिसमें **वाजसनेयी संहिता के २५वें तथा तैत्तरीय संहिता के चौथें** तथा **पाँचवें अध्यायों में शतरूद्रीय यज्ञ** के अवसर पर **रुद्र के नामों की गणना की गई है**। इस प्रथा का उद्देश्य विभिन्न नामों द्वारा देवताओं की अर्चना करके उससे ऐश्वर्य की प्राप्ति करना है।

एकाक्षर शब्द :- यजुर्वेदीय मन्त्रों एवं प्रार्थनाओं के अन्त में हमें कुछ ऐसी ध्वनियाँ तथा उच्चारण प्राप्त होते हैं जिनका पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार कोई महत्त्व नहीं है। उनके विचार से इनमें केवल परम्परा का निर्वाह है तथा इस प्रकार के शब्दों

से साहित्य को हानि पहुँची है। इनका अभिप्राय तथा महत्त्व प्राचीन काल में भले ही रहा हो किन्तु वर्तमान काल में ना के बराबर है। इस प्रकार के शब्दों में स्वाहा, स्वधा, ओ३म् तथा वषट् आदि हैं, ये एकाक्षर शब्द हैं। विन्टरनिट्ज ने इन शब्दों को अर्थहीन बतलाया है। इन एकाक्षर शब्दों के विषय में भारतीय वेदज्ञों की भिन्न धारणा है। भारतीय इन शब्दों को अत्यन्त श्रद्धा तथा आदर के साथ उच्चारण तथा श्रवण करते हैं। 'स्वाहा' तथा 'स्वधा' शब्द क्रमशः देवों तथा पितरों के लिए प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों में अन्तिम में उच्चारित किए जाते हैं। भारतीय की दृष्टि में इनका पर्याप्त अर्थ है किन्तु उन अर्थों को समझने वाले अधिकारी विद्वान् अब नहीं रहें। पाश्चात्य विद्वान् ओ३म् के जाप को भी निरर्थक तथा महत्त्वहीन बतलाते हैं किन्तु भारतीयों के मध्य में ओ३म् शब्द पर्याप्त समादृत है। आचार्यप्रवर डॉ० मुंशीराम शर्मा का कथन है कि **"यह मूल ध्वनि है। यही ध्वनि अ+उ+म् नाम की तीन ध्वनियों में फैल जाती है। अ आविर्भाव है, उ उठना या उड़ना है और म चुप हो जाना या अपने में लीन हो जाना है। ऋक्-यजु-साम की वेदत्रयीं इन्हीं तीन मात्राओं का उपबृंहण है। तीन महाव्याहृतियाँ– भूः, भुवः तथा स्वः, इन्हीं तीन मात्राओं से निकली हैं। सृष्टि, स्थिति और प्रलय का प्रकाशन भी इन्हीं तीन मात्राओं से होता है। सत्, चित्, आनन्द नाम की तीन सत्ताएँ भी इन्हीं से प्रकट हो जाती हैं। मूल ध्वनि का यही विस्तार सब कुछ है, था और होगा।"**

विभिन्न उपनिषदों तथा ब्राह्मणों में भी अनेक स्थलों पर शब्द के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। यथा **गोपथ ब्राह्मण** में ऋषि-कथन है—

तत् एतत् अक्षरं ब्राह्मणों यं कामं इच्छेत् त्रिरात्रोपोषितः प्राङ्मुखों वाग्यतो बर्हिषि उपविश्य सहस्त्रा कृत्वा आर्वतयेत सिद्धायन्ति अस्य अर्थाः सर्वकर्माणि च। (१/२२)

अर्थात् जो इस एकाक्षर अविनाशी ओ३म् नाम की ऋचा का एक हजार बार कुशासन पर बैठकर पूर्व दिशा की ओर मुख करके, वाणी के संयम सहित तथा तीन रातों तक उपवास करता हुआ जाप करता है, उसके समस्त अर्थ तथा काम सिद्ध हो जाते हैं।

उपनिषदों के ऋषि ओ३म् के महत्त्व से भलीभाँति परिचित थे। वे अत्यन्त प्रेम के साथ ओ३म् एकाक्षर शब्द का उच्चारण करते थे तथा ओ३म् के जाप को ही परमात्मा प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन समझते थे। उनके अनुसार ओ३म् शब्द का जाप ही तम-रत के क्लेशों से छुटकारा दिला सकता है।

अनेक शताब्दियों के पश्चात् तन्त्र ग्रन्थों में इस प्रकार के शब्दों का पुनः आविर्भाव दृष्टिगोचर होता है। इन ग्रन्थों में केवल ऐं, ह्रीं, क्लीं, श्रीं, क्रीं आदि अस्पष्ट ध्वनियाँ ही प्राप्त होती हैं।

भारतीय तन्त्रशास्त्रियों की दृष्टि में इस प्रकार की ध्वनियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। **तान्त्रिक साधना के अनुयायी वज्रयानी-बौद्धों तथा शाक्तों** ने अपनी उपासना पद्धति के मूल में ओ३म् को विशिष्ट स्थान प्रदान किया है। उनके प्रार्थना सम्बन्धी मन्त्रों में ओऽम् का उच्चारण अनिवार्य है।

अतः पाश्चात्य वेदज्ञों के दृष्टिकोण में ये एकाक्षर शब्द भले ही निरर्थक हो किन्तु भारतीय यज्ञीय अनुष्ठानों तथा विभिन्न उपासना पद्धतियों में इन्हें आदरणीय स्थान प्राप्त है।

यजुर्वेदीय गद्य का स्वरूप– यजुर्वेद में विशेष रूप से अनेक स्थलों पर भावों के विनियोग के लिए गद्य का उपयोग किया गया है। यह अधिकांशतया देवों के नामोच्चारण के साथ-साथ याज्ञिक भेटों के अर्पण के समय दृष्टिगोचर होता है। इस गद्य में पदों का मञ्जुलविन्यास तथा सारल्य प्रधान रूप से वर्णनीय है। **क्लिष्ट पदविन्यास तथा दुर्गम शब्द जाल का सर्वथा अभाव है**। इन्द्र को आहुति देते समय **'इदमिन्द्राय'** तथा अग्नि के लिए आहुति देते समय **'इदमिग्नये'** शब्दों का उच्चारण किया जाता है। इस प्रकार के पदों की सरलता तथा सुबोधता स्पष्ट ही है। शब्द अपने अर्थ एवं अभिप्राय को स्वतः मुखरित करते हुए प्रतीत होते हैं।

यजुर्वेद का महत्त्व :– पाश्चात्य वेदज्ञ यजुर्वेद संहिता में उपलब्ध मन्त्रों को भले ही व्यर्थ तथा महत्त्वहीन समझें, किन्तु भारतवासियों की दृष्टि में यजुर्वेद का वर्ण्य विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। **भारतीय संस्कृति के विषय में यजुर्वेद में अत्यधिक जानकारी दी गई है।** यथा–

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचꣳराजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।।

(यजु० १८/४८)

अर्थात् हे जगदीश! आप हमारे ब्राह्मण विद्वानों में प्रीति से प्रीति को धारण करो। हमारे राजपूत क्षत्रियों में प्रीति से प्रीति को तथा मुझमें भी प्रीति से प्रीति को धारण करो।

यजुर्वेद मुख्यतः कर्मकाण्ड का वेद है। इसमें यज्ञों की व्याख्या है। इसके साथ ही यजुर्वेद में **सृष्टि रचना, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, अन्न, ऋतु, धातु, मरुत, पितर, राजनीति, दर्शन अर्थात् यज्ञ से सम्बन्धित अन्य तत्त्व भी पाए जाते हैं**। अतः भारतीय धार्मिक तथा दार्शनिक परम्परा में यजुर्वेद का गौरवमय स्थान है।

सामवेद

वैदिक संहिताओं में **सामवेद** को सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। संहितासाहित्य में **साम** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा गौरवमण्डित स्थान पर आसीन है। जिस प्रकार **अग्नि** तथा **वायु** से **आदित्य** अर्थात् **सूर्य** श्रेष्ठ है, उसी प्रकार **ऋग्वेद** तथा **यजुर्वेद** की तुलना में **सामवेद** श्रेष्ठ है। **मनु** तथा **याज्ञवल्क्य** आदि अनेक ऋषियों के अनुसार **ऋग्वेद** की उत्पत्ति **अग्नि** से और **यजुर्वेद** की उत्पत्ति **वायु** से हुई है। जबकि **सामवेद** की उत्पत्ति **आदित्य** से हुई है। **छान्दोग्यउपनिषद्** के अनुसार **'सामवेद एवं पुष्पम्'** अर्थात् **सामवेद वेदरूपी वृक्ष का पुष्प है**। इसका तात्पर्य यह हुआ कि **सामवेद** भी पुष्पित वृक्ष के सदृश अपने अनुरागियों को मात्र आकर्षित ही नहीं करता, अपितु आह्लादित भी करता है। **छान्दोग्यउपनिषद्** में सामवेद की प्रशंसा में एक उक्ति लिखी है— **'वाचः ऋक् रसः, ऋचः सामः रसः, साम्नः उद्गीथो रस'** (१/१/२) अर्थात् वाणी का रस ऋचा है, ऋचा का रस साम है तथा साम का भी रस उद्गीथ है। इस प्रकार उद्गीथ को सामवेद का सार कहा गया है। **उद्गीथ ओंकार शब्द का पर्यायवाची है।** **गीता** के कथानानुसार भी **'प्रणवः सर्ववेदेषु'** (७/८) तथा **अनुगीता** में भी **'ओंकारः सर्ववेदानाम्'** कहकर समस्त वैदिक संहिताओं में **ओङ्कार** को सर्वोत्तम बतलाया गया है। **ओङ्कार** की श्रेष्ठता का प्रतिपादन ही **सामवेद की श्रेष्ठता** का प्रतिपादन है। **भगवद्गीता** में भी **भगवान् श्री कृष्ण** सामवेद को स्वयं का स्वरूप बतलाते हैं— **'वेदानां सामवेदोऽस्मि'** अर्थात् मैं वेदों में सामवेद हूँ। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी अनेक स्थलों पर सामवेद की पर्याप्त प्रशंसा उपलब्ध होती है। जैसे—

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः।।१४।।

(ऋ० ५/४४/१४)

अर्थात् जो अविद्यारूपी निद्रा से उठके जागरणशील है, उसको ऋचाओं के सदृश जन कामना करते हैं तथा जो अविद्यारूपनिद्रा से उठ के जागरणशील हैं, उसको भी सामवेद के विभाग प्राप्त होते हैं और जो अविद्यारूप निद्रा से उठके जागरणशील हैं उनको यह सोम सदृश निश्चित स्थान वाला मित्रत्व में आपका मैं हूँ, इस प्रकार कहता है।

तथा—

उद्गातेव शकुने साम गायसि, ब्रह्मपुत्रइव सवनेषु शंससि।। (ऋ० २/४३/२)

अर्थात् हे परवेश के सदृश शक्ति सम्पन्न! जो तुम उर्ध्व स्वर से वेद का गान करते हुए के सदृश सामवेद का गान करते हो, जैसे चतुर्वेद के ज्ञाता ब्रह्मा के पुत्र के सदृश यज्ञ सम्बन्धी प्रातः कालीन क्रियादि में स्तुति करते हो।

तथा—

विभिन्न स्थलों में **साम** की अत्यधिक प्रशंसा की गई है। उसमें **'उच्छिष्ट'** तथा **'स्कम्भ'** से **साम** का आविर्भाव बतलाया गया है। एक ऋषि का कथन है कि—

'सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं

स्कम्भं लं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः' (अथर्व० १०/७/२०)

अर्थात् साम जिसके लोम हैं और अथर्वमन्त्र मुख के सदृश हैं, वह कौन सा स्कम्भ है तू निश्चय करके कह।

इसी प्रकार एक अन्य मंत्र में भी **'उच्छिष्ट'** से **ऋक्** तथा **साम** का आविर्भाव बतलाया गया है—

ऋचः सामानि च्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः।। (अथर्व० ११/७/२७)

अर्थात् ऋचाएँ, सामवेद मन्त्र, यजुर्वेद सहित अथर्ववेद मन्त्र तथा पुराण आकाश में सूर्य में ठहरे हुए गतिमान लोक (उच्छिष्ट) से उत्पन्न हुए।

एक मन्त्र में **ऋक्** तथा **साम** की स्तुति की गई है—

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते।

एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः।। (अथर्व० ७/५६/१)

अर्थात् ऋचाएँ तथा साम का हम सत्कार करते हैं, जिन दोनों के द्वारा वे (समस्त प्राणी) कर्मों को करते हैं। ये दोनों बैठक में विराजते हैं तथा विद्वानों के बीच में सगति दान करते हैं।

अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि **सामगायन** अत्यन्त प्राचीन है। अनेक प्रशंसात्मक उक्तियों के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर **वैदिक सामों** का उल्लेख इनकी प्राचीनता को द्योतित करता है। जैसे— **ऋग्वेद में वैरूप, वृहत, रैवत, गायत्र,** भद्र आदि, **यजुर्वेद में रथन्तर, वैराज, वैखानस, वामदेव्य, शाक्कर, रैवत, अभीवर्त** तथा **ऐतरेय ब्राह्मण में नौद्यस, रौरव, यौद्याजय, अग्निष्टोमीय** आदि विभिन्न सामों का उल्लेख है। अतः अति प्राचीन काल में भी साम गायनों का अस्तित्व पूर्णतः सिद्ध हो जाता है।

साम का अर्थ– '**साम**' शब्द का एक अतीव सुन्दर निर्वचन **बृहदारण्यक-उपनिषद्** में उपलब्ध होता है। उसके अनुसार '**सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्**' (बृह०उ० १/३/२२)। अर्थात् साम का निर्वचन सा+अम हुआ। **'सा' का अर्थ है ऋचा तथा 'अम' का अर्थ है स्वर। यह स्वर ही ऋचा को साम का रूप देता है।** अतः 'साम' शब्द का निष्पत्ति से प्राप्त अर्थ हुआ **ऋक् के साथ सम्बन्धित स्वर प्रधान गायन** अर्थात् '**तया सहसम्बद्ध अमो नामस्वरः यत्र वर्तते तत् साम्**।' ऋग्वेद में भी अनेक पदों द्वारा स्तुति को गान के साथ संयुक्त किया गया है। जैसे '**एतोन्विन्द्रं स्तवाम शुद्ध शुद्धेन साम्न**' (ऋ० ८/९५/७) अर्थात् **हम शुद्ध प्रभु की शुद्ध साम गान से स्तुति करें** तथा '**इन्द्राय साम गायत्**' (ऋ० ८/९८/१) अर्थात् प्रभु के लिए साम को गाओ, आदि के द्वारा स्तुति को गान से जोड़ा गया है। स्तुति परमेश्वर की है तथा स्तोता कवि है। कवि की उत्पत्ति साम स्वरावली से होती है– '**त्वष्टा जनयत् साम्नः कविः**' (ऋ०२/२३/१७) अर्थात् साम का कवि सर्वज्ञ आपको प्रकट करता है। वे ऋचाएँ जिन पर साम का गायन किया जाता है, '**सामयोनि**' कहलाती हैं। साम संहिता इन्हीं सामयोनियों का संकलन है। '**साम**' शब्द के मुख्य वाच्य गानों का संकलन– '**गान संहिता**' के नाम से जाना जाता है।

वस्तुतः '**साम**' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। एक तो **ऋक् मन्त्रों** के लिए तथा दूसरे **ऋक् मन्त्रों के ऊपर गाए जाने वाले गानों के लिए**। अतः साम का मूलाधार **ऋक् मन्त्र** ही है। ऋषियों ने **साम तथा ऋक् के प्रगाढ़ सम्बन्ध** को द्योतित करने के लिए **दाम्पत्य-भाव** की कल्पना की है। अथर्ववेद के अनुसार '**अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरेहं पृथिवी त्वम्, ताविह सं भवाव प्रजाम जनयावहै**' (अथर्व० (१४/२/७१), अर्थात् (हे वधू!) मैं ज्ञानवान हूँ, सो तू (ज्ञानवती है।) मैं सामवेद हूँ, तू ऋग्वेद की ऋचा हैं। मैं सूर्य हूँ और तू पृथिवी है। वे हम दोनों यहाँ पराक्रमी होवें तथा प्रजा को उत्पन्न करें।

जब **ऋचा** संगीत के स्वरों, तानों तथा लयों से बँधी होती है, तो वह '**साम**' कहलाती है। **जैमिनि** ने अपनी **मीमांसा के सूत्र** २/१/३६ में कहा है– '**गीतिषु सामाख्या**' अर्थात् सामवेद की साम संज्ञा गीतों के कारण है। **छान्दोग्य उपनिषद्** 'स्वर' के साम का स्वरूप कहा गया है। उसके अनुसार '**का साम्नों गतिः ? स्वर इति होवाच**' (छा०उ०१/८/४) अर्थात् साम की गति क्या है ? साम की गति स्वर अथवा तान में है। अतः **संगीत का सौन्दर्य ही सामवेद को साम संज्ञा से विभूषित करता है।**

सामवेद का विभाजन :– सामवेद मुख्यतः **दो भागों में संविभक्त है– आर्चिक** तथा गान। **आर्चिक का तात्पर्य है– ऋक् समूह**। आर्चिक के भी **पूर्वार्चिक तथा**

उत्तरार्चिक दो भाग हैं। पूर्वार्चिक में ५ अध्याय तथा उत्तरार्चिक में ९ अध्याय हैं। ये अध्याय '**प्रपाठक**' की संज्ञा से विभूषित है। पूर्वार्चिक के प्रत्येक प्रपाठक में दो खण्ड उपलब्ध होते हैं। प्रत्येक खण्ड में एक '**दशति**' प्राप्त होती है तथा **दस ऋचाएँ** मिलकर **एक दशति** का निर्माण करती है। किन्तु ऋचाओं की संख्या के विषय में १० ऋचाओं के नियम का पूर्णतः पालन नहीं किया गया है। किसी खण्ड में दस से कम ऋचाएँ प्राप्त होती हैं, किसी में दस से अधिक प्राप्त होती हैं। इन दशतियों में मन्त्रों के संग्रह का मुख्य आधार छन्द तथा देवताओं की एकता है। इसी आधार को लेकर भिन्न-भिन्न मण्डलों वाली तथा भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा साक्षात्कृत ऋग्वेदीय ऋचाएँ एक देवता से सम्बन्धित होने के कारण एक स्थान पर एकत्रित कर दी गई हैं। **पूर्वार्चिक** के ५ प्रपाठकों के नाम निम्नलिखित हैं—

१. **आग्नेय काण्ड**
२. **ऐन्द्र काण्ड**
३. **पवमान् काण्ड**
४. **आरण्यक काण्ड**
५. **महानाम्नी ऋचाएँ**

आग्नेय में अग्निविषयक मन्त्रों का समूह है। द्वितीय से लेकर चतुर्थ अध्याय तक एक **ऐन्द्र पर्व या काण्ड** है, इसमें **इन्द्र** पूर्ण ऐश्वर्य के साथ सबके नियन्त्रण की शक्ति से सम्पन्न वर्णित है। **पवमान काण्ड** में सोम सम्बन्धी ऋचाओं का संग्रह है। ये ऋग्वेद के नवममण्डल से उद्धृत की गई हैं। इसमें **पवमान** सोम उद्गीथ अर्थात् ऊपर उठाने वाला है। आरण्डयक काण्ड में उस **एक ब्रह्म के अतिरिक्त** समस्त सांसारिक प्रपञ्च को अमरणीय सिद्ध किया गया है। प्रभु के सम्पर्क में रहने वालों को आनन्द ही आनन्द है, दुःख नहीं। इसमें अनेक देवता तथा छन्द हैं किन्तु गान विषयक एकता है। अन्त में परिशिष्ट रूप में १० ऋचाएँ दी गई हैं। ये **महानाम्नी ऋचाएँ** कहलाती हैं। ये अपने अभिधान से ही महानाम वाली है। **पूर्वार्चिक** में संगृहीत मन्त्रों की कुल संख्या २५० है।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है **उत्तरार्चिक** में ९ प्रपाठक हैं। आदि के पाँच प्रपाठकों में दो-दो भाग हैं अथवा अध्याय हैं, किन्तु अन्तिम चार प्रपाठकों में तीन-तीन भाग या अध्याय हैं। **उत्तरार्चिक** में कुल १२२५ मन्त्र हैं। यह संख्या पूर्णतः शुद्ध नहीं है क्योंकि उत्तरार्चिक में से २६७ मन्त्र पूर्वार्चिक से ही उद्धृत हैं। अतः दोनों आर्चिकों की संख्या १८७५ में २६७ पुनरुक्त मन्त्र तथा ९९ नवीन तथा ५ नवीन पुनरुक्त मन्त्रों को निकाल देने पर ऋग्वेद के उद्धृत मन्त्रों की संख्या १५०४ शेष रहती है। इस विषय को निम्नलिखित तालिका द्वारा समझा जा सकता है—

ऋग्वेद की ऋचाएँ १५०४ + पुनरुक्त २६७ = कुल १७७१

नवीन ऋचाएँ ९९ + पुनरुक्त ५ = कुल १०४

सामवेद की कुल ऋचाएँ = १८७५

पूर्वार्चिक में ऋचाओं की रचना **कतिपय छन्दों के आधार पर कतिपय देवताओं के आधार पर** होती है, जबकि **उत्तरार्चिक** में गीतों की रचना **प्रमुख यज्ञों के आधार पर** की गई है। वस्तुतः उत्तरार्चिक पूर्वार्चिक की एक महत्त्वपूर्ण पूर्ति है। उत्तरार्चिक में जो तीन-चार ऋचाओं के सूक्त हैं, उनमें से अधिकांश की प्रारम्भिक ऋचाएँ पूर्वार्चिक में उपलब्ध होती हैं।

शाखाएँ– पतञ्जलि ने सामवेद की एक हजार शाखाएँ बतलाई हैं। **शौनक** के भी **'चरण व्यूह'** में सामवेद की एक हजार शाखाएँ हैं, किन्तु चरणव्यूह के टीकाकार **'महीदास'** सामवेद की कुल तीन शाखाओं की उपलब्धि की सूचना देते हैं–

१. कोथुमीय शाखा।

२. राणायनीय शाखा।

३. जैमिनीय शाखा।

कौथुमीय शाखा गुर्जर देश में, राणायनीय शाखा महाराष्ट्र में तथा जैमिनीय शाखा कर्नाटक प्रदेश में अधिक प्रसिद्ध है।

विषय विवेचन :– पूर्वार्चिक के पाँच भागों में प्रथम भाग 'आग्नेय काण्ड' में अग्नि आगे ले जाने वाला है। इसमें अग्नि विषयक मन्त्रों का समवाय उपस्थित किया गया है।

दूसरा काण्ड **'ऐन्द्र काण्ड'** है। यह द्वितीय से लेकर चतुर्थ अध्याय तक फैला है। इसमें **इन्द्र की स्तुति** सम्बन्धी मन्त्रों का संग्रह है। इन्द्र सर्वाधिक शक्तिशाली देव के रूप में वर्णित है। उससे अधिक शक्ति सम्पन्न हो जाने का तो प्रश्न ही नहीं है। वह अभिज्ञु है, वजबाहु है, सब उसके नियन्त्रण में रहते हैं। वह अपने बल द्वारा पर्वतों को कँपा देता है, जिससे पृथ्वी में भूकम्प आ जाता है। **सामवेद** के अनुसार **'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते'** अर्थात् शास्त्र से रक्षित राष्ट्र में शास्त्रचिन्ता प्रवृत्त होती है। सम्राट को ऐसा होना चाहिए जिसका शासन प्रजा की रक्षा कर सके। सामवेदानुसार पीड़ित व्यक्ति की रक्षा आवश्यक है, अगर शासन इसमें समर्थ नहीं है तो यह पाप है।

ऐन्द्र-काण्ड– अग्नि के अग्रनयन का मार्ग प्रशस्त करता है। समस्त साधक अग्नि से प्रार्थना करते हैं–

'अग्नि आ याहि वीतये गृणानों हव्यदायते। नि होता सत्सि बर्हिषि।।'

अर्थात् हे अग्नि देवता! आ जाओ। हमको आगे ले चलो, आलोक में, ज्ञान में, कर्म में भी। हम आपसे हव्य दाति के लिए प्रार्थना करते हैं।

तीसरा काण्ड **'पावमान काण्ड'** की संज्ञा से विभूषित है। इसमें **पवमान-सोम** से सम्बद्ध ऋचाएँ संगृहीत हैं। यह सोम भी कवि है। पवमान-सोम का स्वरूप उर्ध्वारोहणकारी है। यह निम्नलिखित पदों से प्रकट होता है—

१. 'वायुमारोह धर्मणा' (४८३)

२. 'अजीजनत् दिवः ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत्' (४८४)

३. 'सिन्धोरुर्मावधिश्रितः' (४८६)

१. अर्थात् प्राणायाम रूप धर्म से हवा में चढ़कर चल।

२. अर्थात् पतितपावन परमात्मा ने द्युलोक की विचित्र वस्तु के सदृश महान् सूर्य के प्रकाश को उत्पन्न किया।

३. अर्थात् (मेधावी पुरुष) नदी की तरंग पर बैठकर, उसके साथ अति सरलता से बहता है।

इसी काण्ड में भक्त सोम का आह्वान करता हुआ कहता है—

आ सोम स्वानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया।
जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दध्रिषे।। (साम० ५१३)

अर्थात् हे सोम देवता! आओ, अचल शक्तियों के साथ, शोभन प्राण के साथ मेघ सदृशमन्द ध्वनि करते हुए आओ। अवि से सम्बद्ध ऋत से परिवृत, चारों ओर आक्षादायक हरीतिमा छिटकाते हुए, आवरणों को पार करते हुए आओ। मेरे परमेश्वर! द्यावा पृथ्वी के मध्यस्थित हृदयपुरी में प्रवेश करें।

इन्हीं के मध्य में स्थित वेदी पर अपना आसन ग्रहण करो।

चतुर्थ काण्ड **'अरण्य काण्ड'** के नाम से जाना जाता है। इसमें ईश्वर की व्यवस्था में सभी ऋतुओं को मनोहर बतलाया गया है—

वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिरः इन्नु रन्त्यः।। (साम० ६१६)

अर्थात् (चैत्र तथा वैशाख मास) वसन्त ऋतु निश्चय ही रमणीय है, (ज्येष्ठ और आषाढ़ मास) ग्रीष्म ऋतु निश्चय ही मनोहर है, (श्रावण तथा भाद्रपद मास) वर्षा ऋतु, उसके पश्चात् होने वाली (आश्विन तथा कार्तिक मास) शरद ऋतु, (अग्राहण

तथा पौष) हेमन्त ऋतु, (माघ तथा फाल्गुन मास) शिशिर ऋतु निश्चित ही रमणीय होता है।

यहाँ पर अरण्य होते हुए भी रण्य दशा है। यहाँ पर शुभ-अशुभ का भेद समाप्त हो जाता है। **पूर्वार्चिक** के अन्त में **दस महानाम्नी** ऋचाएँ हैं। उदाहरणार्थ इन ऋचाओं का प्रथम मन्त्र यहाँ उद्धृत किया जाता है—

विदा मघवन् विदा गातुमनुशꣳसिषो दिशः।
शिक्षा शचीनां पते पूर्वीणां पुरूवसो॥ (साम० ६४१)

अर्थात् हे पर्याप्त धन वाले प्रभो! तू सर्वज्ञ है, समस्त अपूर्व श्रेष्ठ शक्तियों का स्वामी है। आप ही गन्तव्य स्थान पर ज्ञान कराइए, मार्गों की शिक्षा दीजिए। तू अनेक ज्ञानों का स्वामी है, सनातन है।

पूर्वार्चिक के सदृश **उत्तरार्चिक** भी पाँच एवं चार अर्थात् कुल ९ प्रपाठकों में संविभक्त है, किन्तु उनमें मन्त्र क्रमबद्ध नहीं हैं। जबकि पूर्वार्चिक के मन्त्र क्रमबद्ध हैं। पूर्वार्चिक के समान ही उत्तरार्चिक में भी अनेक विषयों का प्रतिपादन हुआ है। इसकी अन्तिम ऋचाओं में **युद्धकला** का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। उत्तरार्चिक के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वान् **विन्टरनिट्ज** का कथन है—

"We may compare the uttarārcika to a song in which the complete text of the song is given while it is presumed that the melodies are already known."

सामगान पद्धति :– वेदज्ञ ऋषियों ने सामयोनि मन्त्रों के माध्यम से गान मन्त्रों का निर्माण किया। ये गान चार प्रकार के होते हैं। उनके नाम निम्नांकित हैं—

१. गेयगान

२. आरण्यगान

३. ऊहगान

४. ऊह्यगान (रहस्य ज्ञान)

इन गानों में प्रथम है— **'गेय गान'** अथवा **'ग्रामे गेय गान।'** जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है ये गान गाँवों में, साधारण जनता के मध्य पाया जाता था। यह गान **पूर्वार्चिक** के प्रारम्भिक पाँच अध्यायों के ऊपर होता है। द्वितीय है— **आरण्यगान**। ये गान आरण्यक काण्ड में प्राप्त मन्त्रों का होता है। **गेय-गान** के विपरीत ये गान **अरण्य में गाने योग्य होते हैं**। सामवेद के मर्मज्ञों के अनुसार आरण्य गान के **स्तोत्र** विचित्र विलक्षणता से पूर्ण है। वे अत्यन्त पावन हैं। अरण्य का पावन वातावरण ही आरण्य

गान के लिए उपयुक्त है। सामान्य जनता के मध्य इनका अनर्थ हो सकता है। **तृतीय है– ऊहगान**। यह विशेष रूप से उत्तरार्चिक में उपलब्ध मन्त्रों का होता है। **'ऊह' का अभिप्राय है ऊहन्,** किसी उपयुक्त अवसर पर मन्त्रों का सामयिक परिवर्तन। इस विवेचनानुसार ऊहगान सोमयागों के अवसर पर प्रयोग किया जाना चाहिए। **चतुर्थ है– ऊह्यगान**। ये भी उत्तरार्चिक में प्राप्त मन्त्रों का होता है। **ऊह्यगान को 'ऊह्य-रहस्यगान'** के नाम से पुकारा जाता है क्योंकि ये **रहस्यात्मक** हैं। ये गान भी अरण्य गान के सदृश रहस्यात्मक होने के कारण सामान्य जनता के मध्य गायन के लिए वर्जित है। **ऊह-गान तथा ऊह्य-गान, गेयगान एवं अरण्य गान** की विकृति माने जाते हैं अर्थात् गेयगान में प्रयोग किए जाने वाले स्वर एवं रागादि के आधार पर ऊह–गान तथा अरण्य गान में प्रयोग किए जाने वाले स्वर एवं रागादि के आधार पर ऊह्य–गान का निर्माण हुआ है।

पृथक्–पृथक् शाखाओं में ये गान पृथक्–पृथक् संख्या में उपलब्ध होते हैं। सर्वाधिक संख्या में गान जैमिनीय शाखा में निहित हैं—

	कौथुमीय गान	जैमिनीय गान
गेय-गान	११९७	१२३२
अरण्य-गान	२९४	२९१
ऊह-गान	१०२६	१८०२
ऊह्य-गान	२०५	३५६
कुल योग	२७२२	३६८१

साम के समस्त स्वरमण्डलों की संख्या 'नारद शिक्षा' में उपलब्ध होती है। कुल स्वरमण्डल इस प्रकार है— ७ स्वर, ३ ग्राम, २१ मूर्छना और ४९ तान।

इन सात स्वरों की तुलना वेणु स्वरों में निम्नलिखित ढंग से की जा सकती है—

साम	वेणु
१. प्रथम	मध्यम/म
२. द्वितीय	गान्धार/ग
३. तृतीय	ऋषभ्/रे
४. चतुर्थ	षडज/सा
५. पञ्चम	निषाद/नि

६. षष्ठ	धैवत/ध
७. सप्तम	पञ्चम/प

सामगानों में ये ही ७ तक के अंक विभिन्न स्वरों के स्वरूप को प्रकट करते हैं।

सामविकार :- साम संहिता के दोनों भागों में मात्र संहिता पाठ उपलब्ध होता है। इन्हें **'गान'** की संज्ञा अवान्तर काल में दी गई है। **गान शब्द 'गै' (गान) धातु से निष्पन्न होता है**। इन गानों द्वारा संगीत के तत्त्वों के माध्यम से ताल तथा लय का ज्ञान होता है। **साम मन्त्रों का सामगानों के रूप में परिवर्तन करने के लिए अनेक शाब्दिक परिवर्तन किए जाते हैं। ये 'सामविकार' कहलाते हैं**। सामविकारों की कुल संख्या ६ है, जो निम्नलिखित हैं—

१. **विकार–** यह शाब्दिक परिवर्तन है। यथा 'अग्ने' के स्थान पर 'ओग्नायि' करना।

२. **विश्लेषण–** इसमें एक पद पृथक् कर दिया जाता है। जैसे 'वीतये' के स्थान पर 'वोयि तोया तोया यि' कर दिया जाता है।

३. **विकर्षण–** इसमें एक ही स्वर का दीर्घकाल तक विभिन्न प्रकार से उच्चारण किया जाता है। जैसे— ये को या २३ यि करके उच्चारित करना।

४. **अभ्यास–** इसमें किसी भी पद का एक से अधिक बार उच्चारण किया जाता है। जैसे 'तोयायि' का दो बार उच्चारण किया जाता है।

५. **विश्रामार्थ–** किसी भी पद के मध्य में रुक जाने पर **'विराम'** नामक **'सामविकार'** होता है। जैसे— 'गृणानों हव्यदातये' में 'ह' पर विराम लिया जाता है।

६. **स्तोभ–** गायन के अनुकल पदों की 'स्तोभ' संज्ञा है, जैसे औ, होवा, हाउआ आदि। भाषाशास्त्र में इन विकारों का बड़ा महत्त्व है।

स्तोभ एवं विष्टुति– स्तुति का एक दूसरा रूप 'स्तोभ' कहलाता है। ये स्तोभ यज्ञ यागों के अवसर पर प्रयुक्त किए जाते हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण में इनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इन स्तोभों की कुल संख्या नौ हैं, जो इस प्रकार है।

१. त्रिवृत २. पञ्चदश ३. सप्तदश ४. एकविंश
५. त्रिणव ६. त्रयस्त्रिांश ७. चतुर्विंश ८. चतुश्चत्वारिंश
९. अष्टचत्वारिंश

'विष्टुति' एक विशेष प्रकार की स्तुति की संज्ञा है। इस स्तुति में स्तोभ को तृचों

पर साम के गानों की आवृत्ति की जाती है। प्रत्येक तृच तीन पर्यायों में गाया जाता है। अत: नौ स्तोभों की कुल विष्टुतियाँ २८ हुई।

सामगान के पञ्चभाग :- सामगान की प्रणाली अत्यन्त जटिल है। **सामगान के पञ्चविभाग होते हैं-**

१. **प्रस्ताव-** वह मन्त्र पूर्वांश है। प्रस्तोता को 'प्रस्तोत' संज्ञक ऋत्विज् गाता है।

२. **उद्गीथ-** इसका प्रारम्भ ओ३म् से किया जाता है। इसे 'उद्गाता' गाता है।

३. **प्रतिहार-** इसे प्रतिहर्त्ता गाता है। यह कभी-कभी दो भागों में विभाजित कर दिया जाता है।

४. **उपदव-** यह पुन: उद्गाता द्वारा ही गया जाता है।

५. **निधन-** इसमें ओ३म् रहता है। इसे प्रस्तोता, उद्गाता एवं प्रतिहर्त्ता— तीनों ऋत्विजों द्वारा गया जाता है।

उदाहरणार्थ सामवेद का प्रथम मन्त्र प्रस्तुत है-

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि॥ १॥

इसका गायन निम्नलिखित रूप में होगा।

१. हुँ ओग्नाई (प्रस्ताव)

२. ओ३म् आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये (उद्गीथ)

३. नि होता सत्सि बर्हिषि ओ३म् (प्रतिहार)

४. नि होता सत्सिब (उपद्रव)

५. हिंषि ओ३म् (निधन)।

यह साम जब तीन बार गाया जाता है, तो 'स्तोभ' कहलाता है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार साम के सात प्रकार हैं—

१. हिंकार, २. प्रस्ताव, ३. आदि, ४. उद्गीथ, ५. प्रतिहार, ६. उपद्रव, ७. निधन।

सामवेद का महत्त्व :- इस प्रकार **सामसंहिता** का भारतीय यज्ञों एवं आभिचारिक इतिहास के लिए अति महत्त्व है। यज्ञीय आवश्यकता के **अतिरिक्त भारतीय संगीत-शास्त्र का मूल आधार इसके साम-गायन में ही है।** इसका अर्थ यह है कि **विनियोगात्मक, कलात्मक** एवं **आध्यात्मिक दृष्टि से भी साम-संहिता वैदिक वाङ्मय में अत्यन्त उपयोगी संहिता के रूप में मान्य है।** एक ओर तो साम-संगीत

हमारे हृदय की वीणा के तारों को झंकृत करते हैं, तो दूसरी ओर साम-संहिता के प्रार्थना मन्त्रों का संग्रह भक्ति रूपी गंगा में स्नान का आनन्द प्रदान करता है। सामवेद में **सोम** विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, तथा दार्शनिक दृष्टि से यह सोम शिवतत्त्व के रूप में स्वीकृत है। **अतः सामसंहिता संगीत एवं भक्ति के माध्यम से शिव तत्त्व की प्राप्ति का साधन** है। **शतपथ-ब्राह्मण** में तो सामवेद तथा सामगान के महत्त्व के विषय में यहाँ तक लिखा है कि **"न असाम यज्ञो भवति। नवा अहिंकृत्य सामगीयते।"** अर्थात् **कोई भी यज्ञ सामगान के बिना पूर्ण नहीं होता है** तथा सामगान भी हिंकार के बिना सम्भव नहीं। इससे **सामवेद** तथा उसके **सामगान** का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

अथर्ववेद

अपनी विशिष्ट विषयसामग्री के कारण **अथर्ववेद** चतुर्वेदों में अन्यतम है। **अथर्ववेद** के महत्त्व के अनेक कारण हैं। **वेदत्रयी** आमुष्मिक फलप्रद हैं, **परन्तु अथर्ववेद ऐहिक तथा आमुष्मिक अर्थात् परलोक सम्बन्धी फलों का प्रदाता है।** इस ऐहिक जीवन में मनुष्य अपने जीवन को आनन्दमय बनाना चाहता है, इस कार्य के लिए अनेक साधनों की आवश्यकता होती है। उन साधनों को प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के अनुष्ठान किए जाते हैं। उन अनुष्ठानों का विस्तृत विवेचन इस वेद में उपलब्ध होता है। इस विषय में **आचार्य सायण** का कथन प्रस्तुत है—

व्याख्याय वेदत्रितयमामुष्कि फलप्रदम्।
ऐहिकामुष्मिक फलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति॥

यज्ञ चार पुरोहितों द्वारा सम्पादित होता है— **श्रोता, अध्वर्यु, उद्गाता** तथा **ब्रह्मा**। इनमें से चतुर्थ पुरोहित (ब्रह्मा) का साक्षात् सम्बन्ध इसी वेद से है। **सर्वकर्माभिज्ञ** होने के कारण **ब्रह्मा यज्ञ का अध्यक्ष होता है**। वह शेष तीन पुरोहितों द्वारा होने वाली यज्ञ सम्बन्धी त्रुटियों का निराकरण भी करता है। चतुर्वेद का ज्ञाता होते हुए भी उसका मुख्य वेद अथर्ववेद ही है। **गोपथ-ब्राह्मण** के अनुसार वेदत्रयी द्वारा सम्पादित यज्ञ में यज्ञ का एक पक्षीय संस्कार हो पाता है। ब्रह्मा ही मन के द्वारा यज्ञ के द्वितीय पक्ष का संस्कार करता है—

स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्तरः पक्षः संस्क्रियते।
मनसैव ब्रह्म यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति॥ (गो०ब्रा० ३१२)

ऐतरेय ब्राह्मण ने भी इस विषय का समर्थन किया है—

'अयं वैयज्ञो योऽयं पवेत। तस्य वाक् च मनश्च वर्तन्यौ। वाचा चहि मनसा च यज्ञोऽवर्तत। इयं वै वाम्। अदोमनः। तद्वाचा त्रय्या विधैयकं पक्षम्, संस्कृर्वन्ति मनसैव ब्रह्मा संस्करोति॥' (ऐत०ब्रा० ५/३३)

अर्थात्

स्वयं अथर्ववेद के परिशिष्ट में कहा गया है कि जिस राजा के राज्य में अथर्ववेद का विद्वान् रहता है, वह राष्ट्र विघ्नरहित होकर निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर होता है–

यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः।
निवसत्यपि तद् राष्ट्रं वर्धते निरूपद्रवम्॥

तस्माद् राजा विशेषेण अथर्वाण जितेन्द्रियम्।
दान सम्मान सत्कारैर्नित्यं समभिपूजयेत्।।

आचार्य सायण का स्पष्ट मत है कि ऐहिक फल के प्रदाता शान्तिक एवं पौष्टिक कर्म, राज्याभिषेक आदि राजा कर्म, असीमित फलदायक तुला पुरुषादि दोनों का प्रतिपादन अथर्ववेद में ही उपलब्ध होता है, अत: पौरोहित्यार्थ अथर्ववेद श्रेष्ठ है।

अथर्ववेद की प्रशंसा में **स्कन्द पुराण** में कहा गया है—

'नतिथिर्न च नक्षत्रा न ग्रहो न च चन्द्रमा:।
अथर्वमन्त्र सम्प्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति।।'

और भी—

यस्तत्राथर्ववणान् मन्त्रान् जपेच्छ्रद्धासमन्वित:।
तेषामर्थोद्भवं कृत्सनं फलं प्राप्नोति स ध्रुवम्।।

अथर्ववेद के अनेक अभिधान प्राप्त होते हैं। यथा- अथर्ववेद, सोमवेद, ब्रह्मवेद, अङ्गिरोवेद, अथर्वाङ्गिरस वेद आदि। **यजुर्वेद** में सोम को ब्राह्मणों का राजा कहा गया है। **ब्रह्मा** यज्ञकर्म का अध्यक्ष होने से राजा के सदृश है। अत: ब्रह्मा की भी **सोम** संज्ञा हो जाती है। इस कारण **अथर्ववेद** को **'ब्रह्मवेद'** एवं **'सोमवेद'** के अभिधान प्राप्त हुए हैं। गोपथ ब्राह्मणानुसार **अथर्व भृगु के पुत्र थे** तथा **भृगु ब्रह्मा के पुत्र थे**। एक ही नाम के कई ऋषि हुए हैं, इसीलिए कहीं **अथर्वा भार्गव** है, तो कहीं **भृगु आथर्वण** हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार ये पृथक्-पृथक् ऋषि हैं, केवल उनकी संज्ञा समान है। **अथर्वण** तथा **आङ्गिरस** आदि ऋषियों ने ही इस वेद के अधिकांश मन्त्रों का साक्षात्कार किया है, अत: **यह वेद 'अथर्वाङ्गि-रसवेद' कहलाता है**। इस संज्ञा के होने का एक और कारण भी हो सकता है। वह यह कि **आङ्गिरस का अर्थ होता है अभिचार मंत्र**। इन मन्त्रों का प्रयोग **मारण तथा मोहन** के लिए बहुधा किया जाता है। इस प्रकार के अनेक मन्त्र इस वेद में संगृहीत हैं। इस वेद की अथर्ववेद संज्ञा होने को विद्वानों ने भिन्न-भिन्न कारणों द्वारा सिद्ध किया है। कतिपय विद्वानों का मत है कि **अथर्वा ऋषि** द्वारा साक्षात्कृत होने के कारण यह **अथर्वसिद्ध** कहलाता है। **जिन ऋषियों ने अथर्वमन्त्रों का साक्षात्कार किया, वे अनेक हैं। जैसे- काण्व, बादरायण, मरीचि, पुरुमीढ, अगस्त्य, जमदग्नि, वामदेव, ब्रह्मा तथा अथर्वा आदि। इन सबमें अथर्वा का नाम बहुलता से प्राप्त होता है। इसीलिए इसकी 'अथर्ववेद' संज्ञा हुई। गोपथ ब्राह्मण** (१/४) तथा **निरुक्त** (११/२/१७) दोनों में **'अथर्व'** शब्द की व्याख्या की गई है। गोपथ ब्राह्मणकार ने तो अथर्व की पूर्णत: नवीन रूप में निरुक्ति की है। उसका कथन है—

'अथर्वाङ्ग एनमेता स्वेव अप्सु अन्विच्छ इति।
तद्यद् अब्रवीत् अथ अर्वाङ्ग एन मे तास्वे अप्सु,
अन्विच्छ इति तदथर्वाऽभवत्॥' (१/४)

इसका अभिप्राय यह है कि इस **आत्मतत्त्व** को इस ओर, यहीं इन भाव प्रवाहों में, अपने कर्मों में ढूँढों। बाह्य जगत् में अस्तित्वार्थ संघर्ष प्रवर्तमान है। शान्ति तो भीतर है। अतः इसे अन्दर ही खोजों, यह कहने वाला **'अथर्वा'** कहलाता है, इसीलिए यह वेद **'अथर्ववेद'** की संज्ञा से विभूषित हो गया। **निरुक्तकार** ने अथर्वा को कुछ पृथक् ढंग से सिद्ध किया है। उसके अनुसार अ+थर्व। अथर्वाणः अथनवन्तः। थर्वतिश्चरति कर्मातत्प्रति सेधः (११/१८)। 'थर्व' धातु कौटिल्य तथा हिंसार्थक हैं, **अतः 'अथर्व' शब्द का अर्थ होता है- अकुटिलता तथा अहिंसा वृत्ति द्वारा मन को अविचल रखने वाला व्यक्ति** इस निर्वचन को सिद्ध करने वाले मंत्रों तथा प्रसंगों का वेद में बाहुल्य है, अतः **'अथर्ववेद'** नाम सार्थक है। प्रायः अधिकांश भाष्यकारों ने इस व्युत्पत्ति को स्वीकार किया है।

शाखाएँ :- पतञ्जलि ने अपने **'महाभाष्य'** के **'पस्पशाह्निक'** में **'नवधाऽथर्वणो वेदः'** कहकर अथर्ववेद की **नौ शाखाओं** का नामोल्लेख किया है। 'प्रपञ्च हृदय', 'चरणव्यूह' तथा 'सायणभाष्य' के उपोद्घात में भी नौ शाखाओं का उल्लेख किया गया है किन्तु उनके नामों में भिन्नता है। इनकी परस्पर तुलना करने पर नाम निम्नलिखित प्रकार से होंगे—

१. पिप्पलाद, २. स्तौद, ३. मौद, ४. शौनकीय, ५. जाजल, ६. जलद, ७. ब्रह्मवद, ८. देवदर्श, ९. चारण।

इन नौ शाखाओं में से **पिप्पलाद** तथा **शौनक** शाखाओं से सम्बन्धित कुछ ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। अन्य शाखाएँ तो नामावशेष ही हैं।

अथर्ववेद का विभाजन :- अथर्ववेद का विभाजन काण्डों, सूक्तों में किया गया है। सूक्त के अन्तर्गत मन्त्र संगृहीत है। **अथर्ववेद में २० काण्ड, ६३१ सूक्त और लगभग ६ हजार मन्त्र हैं।** प्रारम्भिक सात काण्ड अति लघु है। प्रथम काण्ड के हर एक सूक्त में नियमतः ४ मन्त्र, द्वितीय काण्ड के प्रत्येक सूक्त में ५ मन्त्र, तृतीय काण्ड के प्रत्येक सूक्त में ६ मन्त्र, चतुर्थ काण्ड के प्रत्येक सूक्त में ७ मन्त्र तथा पञ्चम काण्ड के प्रत्येक सूक्त में ८ मन्त्र प्राप्त होते हैं। षष्ठ काण्ड में कुल १४२ सूक्त हैं। इसके प्रत्येक सूक्त में लगभग तीन मन्त्र हैं। सप्तम काण्ड के ११८ सूक्तों में अधिकांश सूक्त एक या दो मन्त्रों वाले हैं। ८ से लेकर १२ तक के काण्डों में बृहत्काय सूक्त

संकलित हैं। इन सूक्तों में विषयों की विविधता दृष्टिगोचर होती हैं। तेरहवें काण्ड से लेकर अठारहवें काण्ड तक के सूक्तों के विषयों में एकरूपता के दर्शन होते हैं। चौदहवें काण्ड में केवल **दो बृहत्काय सूक्त** हैं। सोलहवें काण्ड में १०३ मन्त्र हैं। सत्राहवें काण्ड में केवल एक सूक्त है जिसमें कुल ३० मन्त्र हैं। १८वें काण्ड में भी बड़े-बड़े सूक्तों में विविध विषय वर्णित हैं। अन्तिम दो काण्ड '**खिल काण्ड**' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये अपेक्षाकृत नवीन माने जाते हैं। उन्नीसवें काण्ड में ७२ सूक्त हैं। अन्तिम काण्ड में ९५८ मन्त्र हैं जो ऋग्वेद से लिए गए हैं।

अथर्ववेद का पञ्चमांश अर्थात् १२०० मन्त्र **ऋग्वेद** से उद्धृत किये गए हैं। ये मन्त्र मुख्यत: प्रथम, अष्टम तथा दशम मण्डलों से लिए गए हैं। 'अथर्ववेद' के अन्तिम काण्ड में निहित **कुन्तापसूक्त** के मन्त्र ऋग्वेद में नहीं प्राप्त होते हैं। अत: संभवत: उन्हें ऋग्वेद की किसी अन्य शाखा से ग्रहण किया गया है।

विषय-विवेचन :- अथर्ववेद में दार्शनिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, आयुर्वेदिक, अभिचारिक आदि विषयों का विस्तृत विवेचन हुआ है। आचार्य सायण ने अपनी अथर्ववेदीय भाष्य-भूमि में अथर्ववेद प्रतिपाद्य विषयों को प्रस्तुत किया है। काण्डों के क्रम से अथर्ववेद का प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है—

१. प्रथम काण्ड में विभिन्न रोगों की निवृत्ति, पाशमोचन एवं शान्ति प्राप्ति प्रभृति विषय वर्णित हैं।

२. द्वितीय काण्ड में रोग, शत्रु एवं कृमि विनाशपरक तथा दीर्घायुष्यदायक मन्त्र संगृहीत हैं।

३. तृतीय काण्ड में शत्रु, सैन्य, सम्मोहन, राजनिर्वाचन, कृषि एवं पशुपालनादि वर्णित हैं।

४. चतुर्थ काण्ड में ब्रह्मविद्या एवं विषनाशन, राज्याभिषेक, वृष्टि आदि से सम्बन्धित मन्त्र हैं।

५. पञ्चम काण्ड में ब्रह्मविद्या एवं कृत्या परिहारपरक मन्त्र संकलित हैं।

६. षष्ठ काण्ड में दु:स्वप्न नाशक तथा अन्य प्रकार की समृद्धि सम्बन्धी मन्त्र एकत्रित हैं।

७. सप्तम काण्ड में वे मन्त्र संगृहीत हैं, जिनमें आत्मतत्त्व का चिन्तन एवं विवेचन परिलक्षित होता है।

८. अष्टम काण्ड में उपलब्ध मन्त्रों में विराट् ब्रह्म के स्वरूप की चर्चा की गई है।

९. नवम काण्ड में मधुविनाशकपरक मन्त्रों का संग्रह है।

१०. दशम काण्ड वें ब्रह्मविद्या, सर्पविषनाशन, ज्येष्ठ-ब्रह्म का महत्त्व वर्णित है।

११. ग्यारहवें काण्ड में ब्रह्मोदन, रुद्र आदि विषयों पर सामग्री प्रस्तुत की गई है।

१२. बारहवें काण्ड में पृथ्वी सूक्त है जिसमें मातृभूमि की उपासना की गई है।

१३. तेरहवाँ काण्ड अध्यात्म भावना से परिपूर्ण हैं, उसमें दार्शनिक विवेचन दृष्टिगत होता है।

१४. चौदहवें काण्ड में विवाह संस्कार का प्रमुख रूप से वर्णन किया गया है।

१५. पन्द्रहवाँ काण्ड व्रात्य काण्ड है, इसमें व्रात्यों का वर्णन हुआ है।

१६. सोलहवें काण्ड में दु:स्वप्न का नाश करने वाले मन्त्रों का संग्रह उपलब्ध होता है।

१७. सत्रहवें काण्ड में अपने अभ्युदय के लिए प्रार्थना विषयक मन्त्रों का संग्रह हुआ है।

१८ अठारहवें काण्ड में पितृमेध यज्ञ परक मन्त्र संगृहीत हुए हैं।

१९. उन्नीसवें काण्ड में यज्ञ, नक्षत्र, मणि तथा छन्दों के नाम आदि अनेक विषयों का विवेचन है।

२०. बीसवें काण्ड में सोमयाग सम्बन्धी तथा इन्द्रश्रुतिपरक मन्त्र प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अथर्ववेद की विषयवस्तु, वेदत्रयी की विषयवस्तु की तुलना में अत्यधिक विस्तृत तथा आश्चर्यजनक है। इसमें जिन विषयों की चर्चा की गई है उन्हें मुख्य रूप से तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

१. अध्यात्म, २. अधिभूत, ३. अधिदैवत

इनमें से **अध्यात्म प्रकरण** में ब्रह्म तथा चार आश्रमों का वर्णन किया गया है। **अधिभूत प्रकरण** में सम्राट, शासन-व्यवस्था, संघर्ष, शत्रुवाहनादि नाना विषयों का वर्णन मिलता है। **अधिदैवत प्रकरण** में अनेक देवताओं, यज्ञों तथा कालविषयक सामग्री का संकलन किया गया है। अब तक किए गये स्थूल विवेचन के पश्चात् सम्प्रति कतिपय महत्त्वपूर्ण सूक्तों तथा विषयों का विस्तारपूर्वक विवेचन प्रस्तुत है—

१. भैषज्य सूक्त :- अथर्ववेद के इस प्रकरण में ऐसे मन्त्रों का संग्रह है जो कि विभिन्न रोगों की चिकित्सा से सम्बद्ध है। भारतवासियों का एक वर्ग यह विश्वास करता है कि राक्षस परम्परा ही विभिन्न रोगों का मूल कारण है। ये राक्षस कदाचित् बाह्य या आन्तरिक रूप से शरीर को कष्ट पहुँचाते हैं। इस सूक्त के मन्त्रों में औषधि औषधिलता तथा जल की प्रशंसा की गई है। **कौशिक-सूक्त** में इन मन्त्रों की सहायता

से किए जाने वाले जादू-टोनों का वर्णन हुआ है। इसमें ज्वर, कास, गण्डमाला, यक्ष्मा, दंतपीड़ा तथा कुष्ठ आदि रोगों तथा उनकी औषधियों का भी वर्णन मिलता है। इन मन्त्रों में कुछ तो चिकित्सात्मक औषधियों के आवाहन के रूप में दिखाई देती हैं। निम्न मन्त्र में **कुष्ठ-निवारणार्थ** औषधि का आवाहन किया गया है—

नक्तंजातस्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्।।
किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत्।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय।।

(अथर्व १-२३-१-२)

अर्थात् हे उष्णता रखने वाली औषधि! तू रात्रि में उत्पन्न हुयी है, तो तू रमण करने वाली, चित्त को आकर्षित करने वाली तथा निर्बन्ध है। हे उत्तम रंग करने वाली! तू यह जो रूप का बिगाड़ने वाला कुष्ठ आदि शरीर का श्वेतपन रोग है, उसे रगड़ दे।

अर्थात् (हे औषधि) इस रूप बिगाड़ने वाले कुष्ठ आदि रोग को और शरीर के श्वेतपन और विकृत चिह्न का निरन्तर नाश कर दे। अपना रंग तुझमें प्रविष्ट हो जाये और (तू) श्वेतचिह्नों को गिरा दे।

यक्ष्मा-निवारण हेतु प्रार्थना इस प्रकार की गयी है—

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते।।
ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।
यक्ष्मं दोषण्यमंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते।।

अर्थात् तेरे दोनों नेत्रों से, दोनों नथुनों से, दोनों कर्णों से, ठोड़ी से, तेरे दिमाग से, जिह्वा से तथा शिर से क्षयी रोग को में उखाड़ता हूँ।

अर्थात् तेरे गले की नाड़ियों से, गुद्दी की नाड़ियों से, हँसली की हड्डियों से, रीढ़ से, तेरे दोनों कंधों से, तेरी दोनों भुजाओं से, मुड्ढे से क्षयी रोग को, मैं उखाड़े देता हूँ।

दूसरे प्रकार की प्रार्थनाएँ वे है, जो जलपरक है। इन स्तुतियों में चिकित्सा की विशिष्ट शक्ति का जल में विधान स्वीकार किया गया है। कतिपय प्रार्थनाएँ अग्निपरक है। यह अग्नि भारतीयों के मत में राक्षसों को सर्वाधिक पीड़ित करने वाली हैं। अनेक मन्त्र तक्मन् नामक ज्वर से सम्बन्धित हैं, जिसकी अथर्ववेद में राक्षस के रूप में

कल्पना की गई है। **अथर्ववेद** में अनेक वृक्षों से सम्बन्धित मन्त्र हैं। ये वृक्ष रोग शमनार्थ प्रभावशाली हैं। अथर्ववेद में विभिन्न प्रकार के मानवीय रोगों की कुल संख्या ९९ बतलाई गयी है। कतिपय मन्त्रों में रोग का प्रसार करने वाली कीटाणुओं का भी वर्णन उपलब्ध होता है।

अथर्ववेद में अनेक मन्त्रों में एक व्यक्ति को छोड़कर दूसरे व्यक्ति के पास रोग को पहुँचा देने या किसी दूसरे देश में भेज देने का भी वर्णन प्राप्त होता है निम्नलिखित मन्त्र में रोग को अन्य देश में भेजने की प्रार्थना है—

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत्।

एवा त्वं कासे प्र पत मनसोऽनु प्रवाय्यम्॥ (अथर्व ६/१०५/१)

जैसे मन, मन के विषयों के साथ शीघ्रता से आगे बढ़ता है, वैसे ही तू कास ज्ञान या उपाय के बीच मन के प्राप्ति योग्य देश की ओर आगे बढ़। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि इस वेद में **आर्युवेद** का विपुल महत्त्व वर्णित है।

आयुष्य सूक्त :- अथर्ववेद में ऐसे अनेक मन्त्र संगृहीत हैं जो स्वास्थ्य तथा दीर्घ जीवन से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार के मन्त्र **'आयुष्मानि सूक्तानि'** के नाम से पुकारे जाते हैं। इनका तात्पर्य स्पष्टतः दीर्घआयुदायक सूक्त है। **आयुष्य-सूक्त** में मिलने वाले मन्त्र मुख्यतः पारिवारिक उत्सवों के अवसर पर प्रयुक्त होते हैं। यथा— **बालक का मुण्डन, युवक का गोदान एवं उपनयन संस्कारादि**। इन मन्त्रों में शतायु तथा पूर्णतः नीरोग होने की परमात्मा से प्रार्थना की गई है। इन मन्त्रों में सौ प्रकार की मृत्युओं से स्वयं की रक्षा करने तथा लगभग सभी रोगों से बचने के लिए प्रार्थनाएँ ग्रथित हैं। इन रोगों के निवारणार्थ जिन औषधियों का आह्वान किया जाता है, इन औषधियों का प्रयोग एन्द्रजातिक चिकित्सक के द्वारा किया जाता है। इन प्रार्थना-मन्त्रों में आयु की वृद्धि हेतु कुछ ऐसे भी मन्त्र मिलते हैं, जिनमें इस विषय के निमित्त हाथ में **'रक्षासूत्र'** अथवा **'रक्षा-करण्ड'** को बाँधने का विधान बतलाया गया है। इस **रक्षा-करण्ड** को बाँधने वाला **जीवधारी** जीवन पर्यन्त उत्तम स्वास्थ्य का लाभ करता है। **अथर्ववेद का १७वाँ काण्ड** इसी प्रकार के सूक्तों से परिपूर्ण है। **इस काण्ड में मात्र एक-एक ऋचा वाले तीस मन्त्र उपलब्ध होते हैं।** निम्नलिखित मन्त्र में देवों तथा मानुषी दोनों प्रकार की शक्तियों से रक्षार्थ प्रार्थना निहित है—

परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।

मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा मानुषीरवसृष्टा वधाय॥

(अथर्व० १७/२८)

अर्थात् कश्यप के वेदज्ञान से, आश्रय से, ज्योति से और प्रताप से मैं ढका हूँ। जो दैवी वाण हैं, वे मुझको न पहुँचे और मानुषी छोड़े हुए (वाण) मारने के लिए न पहुँचे।

पौष्टिक सूक्त :- पौष्टिक सूक्तों में ऐसे मन्त्र उपलब्ध होते हैं जिनमें विभिन्न वर्गों के लोग अपनी समृद्धि के लिए परमात्मा से प्रार्थना करते हैं। इन सूक्तों में गृहस्थ जन गृह निर्माण के लिए, कृषक वर्ग हल जोतने के लिए, बीज बोने के लिए, शस्य की समृद्धि के लिए परमात्मा की उपासना करते हैं। इन्हीं मन्त्रों के द्वारा समाज, व्यवसायी तथा श्रमिक वर्ग अपनी-अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति की आशा करता है। इन्हें **आशीर्वचन** की संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है। वन्य पशुओं से गायों की रक्षा तथा चोरादि सामाजिक अपराधियों से धन-धान्य की रक्षा हेतु मन्त्र संकलित है। इन मन्त्रों में अनेक मन्त्र ऐसे भी मिलते हैं जिनमें उच्च कोटि का साहित्य उपलब्ध होता है। इन मन्त्रों में कल्पना की उर्वरता, विचारों की नवीनता, विन्यास की मञ्जुलता तथा अलंकारों की रमणीयता दर्शनीय है। निम्नलिखित मन्त्र **दृष्टि-सूक्त** से उद्धृत है। इसमें वृष्टि का अत्यन्त आकर्षक, सरस तथा स्वाभाविक वर्णन प्राप्त होता है—

अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदधिं भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्ग्धि।
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरेत्वस्तम्॥

(अथर्व० ४/१५/६)

अर्थात् हे मेघ। तू सभी ओर गर्जन कर, गड़गड़ा, समुद्र को हिला दे, भूमि को जल से भर दे। तेरे द्वारा भेजा हुआ वृष्टि जल आवें। अधिक पदार्थ लाने वाला, शरण चाहने वाला, दुर्बल गाय तथा बैलों वाला किसान स्वगृह की ओर प्रस्थान करे।

शृङ्गार सूक्त :- अथर्ववेद में ऐसे मन्त्रों का भी एक विशाल संग्रह प्राप्त हैं जिनमें जीवन की प्रसन्नता तथा भय से सुरक्षा आदि के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं, इन्हें **शृङ्गार सूक्त** के नाम से पुकारा जाता है। इन सूक्तों का एक नाम और भी है— **प्रसाद सूक्त**। इनमें भूतों इत्यादि से रक्षा के लिए मंत्र मिलते हैं। इस प्रकार के मन्त्रों का प्राप्तिस्थल प्रधानतः चौथे काण्ड के अन्तर्गत निहित २३वें सूक्त से २९वें सूक्त तक हैं। इस प्रकार ये कुल सात सूक्त हैं। इन समस्त सूक्तों में से हर एक सूक्त सात ऋचाओं वाला है। इन सूक्तों में जिनके प्रति सम्बोधन किया गया है, वे देव क्रमशः इस प्रकार हैं— **अग्नि, इन्द्र, वायु, सविता, स्वर्गमरुत, भव** तथा **शर्व, मित्र एवं वरुण**। इन सूक्तों का प्रत्येक मन्त्र कष्ट निवारणार्थ की जाने वाली प्रार्थना के रूप में है—

अपः समुद्राद् दिवमुद् वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति।
ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चत्वंहसः॥

अथर्व० (४/२७/४)

अर्थात् जो (वायुगण) जल को पृथ्वी (समुद्र) से उठाकर आकाश में पहुँचाते हैं और आकाश से पृथिवी पर त्याग देते हैं और जो समर्थ वायुगण जल के साथ चलते हैं, वे हमें कष्ट से छुड़ावें।

प्रायश्चित सूक्त :– अथर्ववेद में कतिपय सूक्त ऐसे भी प्राप्त होते हैं जिनमें किए गए पापों के प्रायश्चितपरक मन्त्र संगृहीत होते हैं, इस प्रकार के सूक्तों की संज्ञा **प्रायश्चित-सूक्त** है। इन सूक्तों में अपराधों की निवृत्ति के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। इनमें केवल पापों के निवारणार्थ ही नहीं बल्कि यज्ञादि में होने वाले स्खलनों के लिए भी प्रायश्चित का विधान है। इसके अतिरिक्त चरित्रहीनता, धार्मिक भावनाओं की शून्यता तथा दूसरे शास्त्र विरोधी कर्मों के करने से मनुष्य जितने प्रकार से भी पापग्रस्त हो जाता है, उन सभी से मुक्ति प्राप्त करने के लिए इनमें प्रायश्चितपरक मन्त्र हैं। इन सूक्तों में ऐसे भी मन्त्र मिल जाते हैं जिनसे मनुष्य अपना शारीरिक तथा मानसिक दौर्बल्य, बुरे स्वप्न तथा अपशकुनों का भी निराकरण कर सकता है। यहाँ उन पापों के निवारणार्थ भी मन्त्र प्राप्त होते हैं जो पाप माता, पिता, भाई तथा बहन द्वारा किए गए हों। अशुभ नक्षत्रों के कुप्रभावों को दूर करने के लिए भी मन्त्र हैं, ऐसा कतिपय विद्वानों का अभिमत है।

सामाजिक अपराध :– जैसे बड़े भाई के अविवाहित रहते हुए भी छोटे भाई द्वारा विवाह कर लेना, धर्मशास्त्र विरोधी विवाह कर लेना, ग्रहण किए गए ऋण का प्रतिदान न करना आदि के लिए भी प्रायश्चित सम्बन्धी मन्त्र दृष्टिगोचर होते हैं।

स्त्रीकर्माणि सूक्त :– अथर्ववेद में ऐसे मन्त्रों का भी विशाल समूह है जो कि विवाहादि का निर्देश करने वाले तथा पति-पत्नी में परस्पर अनुराग को बढ़ाने वाले हैं। इन्हें ही **स्त्री कर्माणि** अथवा **प्रेम सूक्त** कहा जाता है। इन मन्त्रों के द्वारा वधू और वर क्रमशः वर और वधू को प्राप्त करते हैं। कतिपय ऐसे भी मन्त्र हैं जो कि इन्द्र-जाल, अभिशाप तथा वशीकरण से सम्बन्धित हैं। विवाह, प्रेम तथा पुत्रोत्पत्ति आदि विषयों का विवेचन करने वाले मन्त्रों से उस समय समाज में प्रचलित विभिन्न रीति-रिवाजों तथा मान्यताओं का ज्ञान होता है। **स्त्री-कर्माणि सूक्तों** में उपलब्ध मन्त्रों में विषय की दृष्टि से **तीन वर्ग** परिलक्षित होते हैं, अतः वैषयिक दृष्टि से ये मन्त्र तीन प्रकार के कहे जा सकते हैं—

(अ) अभिचार मन्त्र

(ब) वशीकरण मन्त्र

(स) घृणास्पद मन्त्र

इन उपर्युक्त तीनों प्रकार के मन्त्रों का क्रमशः विवेचन निम्नलिखित है—

(अ) अभिचार मन्त्र :– यह 'अभिचार मन्त्र' ऐसे मन्त्रों का समूह है जिन मन्त्रों को वन्य भयानक जानवरों तथा भूत-प्रेत के निवारणार्थ प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के मन्त्रों में प्रेम में व्यभिचार तथा वैवाहिक जीवन के विघ्नों का प्रकटीकरण हुआ है। इन मन्त्रों के प्रयोग से पति द्वारा तिरस्कृत पत्नी पुनः पति-प्रिय बन सकती है। इस प्रकार अथर्ववेद की एक ऋचा में प्रेमी द्वारा अपनी प्रेमिका को चुराने की कामना की गई है—

स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः।
स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः॥ (अथर्व० ४/५/६)

अर्थात् इसके लिए माता सोवे, पिता सोवे, कुत्ता सोवे, गृह के सभी ज्येष्ठ लोग सो जाय, प्रेमिका के सम्बन्धी सोवें तथा यह सब जन चारों ओर सोवें।

कतिपय विद्वानों का विचार है कि इस प्रकार के मन्त्र वस्तुतः गहन निद्रा में मग्न होने की कामना से कहे जाते हैं, क्योंकि इनमें सभी के सोने तथा सुलाने की बात कही गयी है—

प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीर्या वह्यशीवरीः।
स्त्रियो याः पुण्यगन्धयस्ताः सर्वाः स्वापयामसि॥ (अथर्व० ४/५/३)

अर्थात् बड़े आँगन में सोने वाली, खाटों पर सोने वाली और हिंडौला आदि में सोने वाली जो नारियाँ हैं और जो पुण्य गन्ध वाली स्त्रियाँ हैं, उन सबको हम सुलाते हैं।

इस प्रकार के मन्त्रों में कुछ ऐसे भी हैं जिनमें कोई प्रेमी अपनी प्रियतमा के न चाहने पर भी उसे अपने प्रति कामासक्त कर सकता है। ये मन्त्र दूसरों के लिए हानिकारक नहीं होते।

(ब) वशीकरण मन्त्र :– इसके अन्तर्गत वे मन्त्र आते हैं जिनके पाठ के द्वारा कोई भी युवक गर्व के मद में चूर स्त्री को भी अपने वश में कर सकता है। इस क्रिया में सर्वप्रथम प्रेमी अपनी इच्छित प्रेमिका की एक मिट्टी की मूर्ति बनाता है, उसके बाद सन की डोरी वाले धनुष को ग्रहण कर एक विशिष्ट बाण के द्वारा प्रेमिका की

मूर्ति के हृदय को बेधता है। साथ ही साथ कामदेव के तीर द्वारा प्रेमिका का हृदय बिद्ध हो जाय, यह याचना करता हुआ अथर्ववेद के तीसरे काण्ड के २५वें सूक्त के चौथे मन्त्र का पाठ भी करता है। यथा—

शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा।
मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता।। (अथर्व० ३/२५/४)

अर्थात् विशेष दाह करने वाली, पीड़ा से बिधी हुई, सूखे मुख वाली, मृदु स्वभाव वाली, निरभिमान (होकर), सेवनीया, प्रियम्वदा तथा अनुकूल आचरण वाली (पतिव्रता के समान) मेरी ओर चली आ।

इसके साथ ही कुछ ऐसे भी मन्त्र प्राप्त होते हैं, जो नायिकाओं द्वारा सपत्नी को हटाकर अपने पति के वशीकरण हेतु प्रयुक्त किए जाते हैं। इनके द्वारा स्त्री, किसी भी मनचाहे पुरुष को अपनी ओर आकृष्ट कर सकती है। पूर्वोक्त क्रिया के समान ही इस क्रिया में भी नायिका अपने इच्छित प्रेमी की एक मिट्टी की मूर्ति बनाती है, तत्पश्चात् अग्नि से दग्ध बाण के अग्रभाग से उसके मस्तक पर प्रहार भी करती है। इस क्रिया में इस गीत का उच्चारण भी किया जाता है—

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु।। (अथर्व० ६/१३०/४)

अर्थात् हे मरुत! उसको (पति को) तुम उन्मादित करो। हे अन्तरिक्ष! तथा हे अग्नि! उसे उन्मादित करो, जिससे वह मेरा ही विचार किया करे।

इन सभी प्रकार की वशीकरण अभिक्रियाओं में बाण की रचना विशिष्ट होती है। बाण के पंखों के लिए उल्लू के पंख प्रयोग में लाए जाते हैं तथा काण्ड एक काली लकड़ी से बनाया जाता है। इस बाण के अग्र भाग पर एक नुकीला काँटा लगा होता है।

इसी प्रकार रूठकर दूर गए पति को मन्त्रों की शक्ति से वापस बुलाने का भी उपक्रम किया जाता था। इसमें निम्नलिखित मन्त्र का पाठ किया जाना चाहिए—

यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम्।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता।। (अथर्व० ६/१३१/३)

अर्थात् (मेरे प्रियतम) जो तू तीन योजन, पाँच योजन या अश्ववार से चलने योग्य देश को भागकर जाता है, उसते तू पुनः (लौटकर) आ तथा हमारे पुत्रों का पिता हो जा।

आजकल वैज्ञानिक युग में भी इस प्रकार के टोनों-टुटकों के सम्बन्ध में भारतवासियों का गहरा विश्वास है। अनेक तान्त्रिक इस प्रकार के प्रयोगों को सत्य बताते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर, प्रयोग किए जाने पर ये सफल होते हुए देखे गए हैं। इन क्रियाओं में कोई त्रुटि हो जाने पर या मन्त्रोच्चारण में त्रुटि मात्र से अनुष्ठान विपरीत परिणामदायक भी होते देखे गए हैं।

(स) घृणास्पदमन्त्र– जब मनुष्य या स्त्री किसी विपरीत लिंगी के प्रति पागलपन की सीमा तक कामासक्त हो जाता है, तो वह उसको येन केन प्रकारेण प्राप्त करना चाहता है। इस सिद्धि के लिए बहुत लोग नीचता के निम्नतम स्तर तक उतर जाते हैं। जब घृणित विधियों द्वारा उन्हें इच्छित फल की प्राप्ति नहीं होती है तो कभी अपने फल प्राप्ति के मार्ग में बाधक के प्रति तथा कभी उस इच्छित व्यक्ति या स्त्री के प्रति अहित का चिन्तन कर कर्मों में संलग्न हो जाते हैं, जिससे प्रतिस्पर्द्धा अथवा इच्छित व्यक्ति या स्त्री को पीड़ा पहुँचे। इन समस्त क्रियाओं की सिद्धी के लिए भी अथर्ववेद में अनेक मन्त्र मिलते हैं। इन गीतों की भाषा अनियन्त्रित तथ वन्यता से परिपूर्ण है। ऐसा ही एक मन्त्र उदाहरणार्थ प्रस्तुत है जिसका प्रयोग एक स्त्री द्वारा सपत्नी को परास्त तथा बहिष्कृत करने के लिए किया जाता है—

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम्।। (अथर्व० १/१४/१)

इसी प्रकार कतिपय मन्त्र प्रतिपस्पर्द्धिनी स्त्री को वन्ध्या करने के उद्देश्य से ही प्रयोग किए जाते हैं। सर्वाधिक भयानक तो वह मन्त्र हैं जिनमें किसी पुरुष को पुरुषत्व से हीन करके, उसे संतानोत्पत्ति की शक्ति से च्युत करने के लिए प्रार्थना निहित है। यथा—

अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितम्।
ओजो दासस्य दम्भय।। (अथर्व० ७/९०/१)

अर्थात् पुराण (प्राचीन) नियमानुसार दुःख देने वाले पुरुष के बल को बेल के गाँठ के सदृश निश्चय करके काट दें तथा हटा दें।

इन उपर्युक्त तीनों प्रकार के मन्त्रों का अभिधान **आभिचारिक** है क्योंकि इनका प्रयोग बहुधा किसी के मरण, मोहन अथवा उच्चाटन के लिए किया जाता है।

राजकर्माणि सूक्त– ये सूक्त राजाओं के व्यवहार से सम्बन्धित है। कुछ मन्त्र ऐसे हैं जिनमें शत्रु विजय के लिए प्रार्थना की गयी है। क्वचित् अस्त्रशस्त्रों के वर्णन के भी दर्शन होते हैं। सम्भवतः इसी कारण इस वेद को **क्षत्रवेद** के नाम से भी पुकारते

है। अनेक मन्त्रों में राजा के चुनाव की बात कही गयी है। **अथर्ववेद** में कतिपयस्थलों पर प्राप्त मन्त्रों में युद्धादि के लिए अति उपयोगी साधनों की भी चर्चा की गई है। यथा— **रथ, दुन्दुभि** तथा **शंखादि**। वीरों को युद्धों के लिए उत्साहित करने वाले मन्त्र कितने साहित्यिक तथा वीर रस एवं ओजगुण सम्पन्न हैं। यह कारुणिक दृश्य कितना द्रवित करने वाला है—

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम्॥

(अथर्व० ५/२०/५)

अर्थात् दुन्दुभि की नियमयुक्त गड़गड़ाहट को सुनती हुई, गर्जन से जाग्रत, अधीन की हुई, वधनीय शस्त्रों के युद्ध में भयभीत शत्रु की स्त्री पुत्र को हाथ में पकड़कर भाग जाये।

यह युद्धस्थल के मध्य फंसी हुई पुत्रवती नारी की प्रार्थना है।

अथर्ववेद में वीर रस का उद्रेक कराने वाला काव्य भी समाविष्ट है। वीर रस की भावना कराने में **अथर्ववेद** पर्याप्त सामर्थ्य रखता है। इस विषय में **दुन्दुभि सूक्त** उल्लेखनीय है। निम्नलिखित मन्त्र में दुन्दुभि द्वारा शत्रुओं को डराने की प्रार्थना की गई है। यह मन्त्र **मालोपमा** का अति उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है—

यथा श्येनात् पतत्रिणः संविजन्ते
अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द
प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय॥६॥ (अथर्व० ५/२१/६)

अर्थात् जिस प्रकार श्येन (बाज) से पक्षीगण भयभीत होकर भागते हैं तथा जिस प्रकार सिंह के गर्जना से प्राणिवर्ग (डरता है), उसी प्रकार हे दुन्दुभि! तू शत्रुओं पर गरज तथा डरा दे और उनके चित्त को मोहित कर दे।

इस प्रकार अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का विशद् परिचय प्राप्त होता है।

भूमि सूक्त– अथर्ववेद के **काण्ड बारह** का **प्रथमसूक्त भूमिसूक्त** के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें ६३ मन्त्र हैं। मातृभूमि की इतनी उत्कृष्ट प्रशंसा वैदिक साहित्य तो क्या अन्यत्र भी दुर्लभ ही है। इस सूक्त में **'माता भूमिः पुत्रोऽहं प्रथिव्याः'** अर्थात् पृथ्वी मेरी माता है तथा मैं मातृभूमि का पुत्र हूँ, इस तत्त्व का सविस्तार प्रतिपादन है।

इस सूक्त में पृथ्वी का चारुतम चित्रण किया गया है। पृथ्वी के **आधिदैविक** तथा **आधभौतिक**, इन दोनों ही रूपों की स्तुति करते हुए यह स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया गया है कि **यह सम्पूर्ण पृथ्वी मातृस्वरूप** है। इस सूक्त के सम्बन्ध में **प० बलदेव उपाध्याय जी** ने अपने शब्दों में इस प्रकार लिखा है—

'भाषा तथा भाव की दृष्टि से नितान्त उदात्त, भाव-प्रवण तथा सरस है। पृथ्वी की महिमा का यह वर्णन स्वातन्त्र्य के प्रेमी तथा स्वच्छन्दता के रसिक आर्थवण ऋषि का हृदयोद्‌गार है। इस शैली का प्रौढ़ काव्य, उच्च कल्पना तथा भव्य भावुकता वैदिक साहित्य में भी अन्यत्र दुर्लभ है। इस सूक्त में आर्थवण ऋषि ने ६३ मन्त्रों में मातृत्वरूपिणी भूमि की समग्र पार्थिव पदार्थों की जननी तथा पोषिका के रूप में महिमा उद्‌घोषित की है तथा प्रजा को समस्त बुराइयों, क्लेशों तथा अनर्थों से बचाने तथा सुख समृद्धि की वृद्धि के लिए प्रार्थना की है। इस सूक्त में मातृभूमि की बड़ी ही मनोरम कल्पना की गई है। मातृभूमि का रुचिर वर्णन देशभक्ति की प्रेरणा का मधुर विलास है।'

इस सूक्त में अनेक प्रकार से **पृथ्वी** की **भव्य स्तुति** की गई है। अपने कल्याण के लिए की गई प्रार्थनाओं में निम्नलिखित मन्त्र का आशय कितना श्रेष्ठ है—

यस्ते सुर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहा शये।
क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि तन्नः
सर्पन्मोप सृपद् यच्छिवं तेन नो मृड॥४६॥

(अथर्व० १२/१/४६)

अर्थात् हे मातृभूमि! तुम्हारे गह्वरों में सर्प, बिच्छू आदि अनेक ऐसे जीव जन्तु निवास करते हैं जो कि काटने से संपात उत्पन्न करते हैं। हे मातृभूमि! वे विषैले जीव हमें कदापि हानि न पहुँचायें और जो पदार्थ हमारे लिए कल्याणकारी तथा सुखदायी हो, वे हमें प्राप्त होवें।

अत: **भूमि-सूक्त** अत्यन्त **मनोरम** तथा **आदर्शमण्डित** है।

याज्ञिक सूक्त– अथर्ववेद में अनेक मन्त्र यज्ञ से भी सम्बन्धित हैं। इसमें तरह-तरह के **यज्ञों के विधान** बतलाए गए हैं। यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रों का संग्रह अथर्ववेद में **उत्तरांश** में हुआ है। **अथर्ववेद** में भी अन्य वेदों के विषयवस्तु में यज्ञों की प्रधानता के सदृश **यज्ञीय नियमों** तथा **अनुष्ठानों** का समावेश किया गया है। इस प्रकार के मन्त्रों का संग्रह मुख्यरूप से १६वें तथा १८वें काण्ड में हुआ है। काण्ड १८ के चारों सूक्त **पितृमेध** से सम्बन्ध रखते हैं। इन मन्त्रों का सम्बन्ध **अन्त्येष्टि-क्रिया** से है। इसी प्रकार

मन्त्रों का समूह हमें **ऋग्वेद के दशम काण्ड** में भी दृष्टिगोचर होता है। दर्शनीय विषय तो यह है कि **अन्त्येष्टि-क्रिया** सम्बन्धी अथर्ववेद मन्त्र अक्षरशः ऋग्वेद से उद्धृत किए गए हैं। उनमें पूर्णतः समानता है। १६वें तथा १७वें काण्ड के अतिरिक्त २०वें काण्ड में भी यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र उपलब्ध होते हैं। ये मन्त्र **सोम-यज्ञ** विषयक हैं।

कुन्ताप सूक्त– अथर्ववेद के **२०वें काण्ड** में कतिपय विचित्र सूक्त उपलब्ध होते हैं। इन विचित्र सूक्तों के मन्त्र अथवा गीत एक विशेष चमत्कारिक प्रणाली में ग्रथित हैं। इन मन्त्रों का संयोजन करने वाले सूक्त **कुन्ताप-सूक्त** के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका विस्तार **अथर्ववेद के २०वें काण्ड के १२७वें सूक्त से लेकर १३६वें सूक्त तक हैं।** इन सूक्तों की विषयवस्तु का जहाँ तक प्रश्न है, इनमें **यज्ञ से सम्बन्धित दान-स्तुति, कतिपय परिगणित राजकुमारों की औदार्य-प्रशस्ति तथा कतिपय प्रहेलिकाएँ तथा उनके समाधान भी वर्णित हैं। इन गीतों में कहीं तो अश्लीलता की दुर्गन्ध है और कहीं शिष्ट हास-परिहास की सुवास।** इनमें अल्पदिवसीय तथा बहुदिवसीय दोनों प्रकार के यज्ञों का विवेचन किया गया है। ये सूक्त पुरोहितों के वार्तालाप के आधार पर प्रणीत हुए। **कुन्ताप** का अर्थ इस प्रकार किया गया है– **'कुँ नाम कुत्सितं भवति यत् तत् तपति तस्मात् कुंतापः'** अर्थात् **जो पाप या दोष को जलाने वाला है, वह कुन्ताप है।**

दार्शनिक सूक्त– **अथर्ववेद** में अनेक मन्त्रों में दर्शन से सम्बन्धित विषयों का प्रतिपादन है। इनमें **ईश्वर प्रजापति, ब्रह्म, मन, प्राण आदि का वर्णन हुआ है।** इन मन्त्रों में हमें **गम्भीर दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन** दृष्टिगोचर होता है। दार्शनिक सूक्तों में **तीन प्रकार के सूक्त** उपलब्ध होते हैं–

(अ) ब्रह्मण्यानि सूक्त

(ब) उच्छिष्ट सूक्त

(स) व्रात्य काण्ड

ब्रह्मण्यानि सूक्तों में परमेश्वर तथा परब्रह्म के स्वरूप तथा कार्यों के विषय पर प्रकाश डाला गया है। परब्रह्मपरमात्मा को अनेक नामों द्वारा विभूषित किया गया है। इन नामों में एक नाम **काल** भी है। **अथर्ववेदानुसार काल ही विश्व का उत्पादक, पोषक तथा संहारक है। वह प्रजापति का भी अभिभावक है। अतः काल को ही परमतत्त्व कहा गया है–**

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः॥८॥

(अथर्व० १९/५३/८)

अर्थात् काल में तप, काल श्रेष्ठ कर्म, काल में वेदज्ञान संगृहीत किया गया है। **काल ही सबका स्वामी है**, जो (काल) प्रजापति का पिता (सदृश) हुआ है।

सम्भवतः **इन्हीं सूक्तों के कारण ही अथर्ववेद का 'ब्रह्मवेद' नाम भी पड़ा।**

अथर्ववेद में परब्रह्मपरमात्मा को जिन अनेक नामों से पुकारा गया है, उनमें 'स्कम्भ' तथा 'उच्छिष्ट' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'ब्रह्म' का भी हेतु होने के कारण **'स्कम्भ'** ही **'ज्येष्ठ ब्रह्म'** के नाम से पुकारा जाता है। इसमें सम्पूर्ण जगत् समाविष्ट है—

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १२॥

(अथर्व० १०/७/१२)

अर्थात् जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष तथा आकाश दृढ़ स्थापित है। जिसमें अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु भलीभाँति स्थिर होकर रहते हैं, वह कौन सा निश्चय करते हैं, उसको तू 'स्कम्भ' कहा।

परमेश्वर का एक अन्य नाम 'उच्छिष्ट' भी है। यह अभिधान अथर्ववेद के सातवें सूक्त में उल्लिखित है। उच्छिष्ट का शाब्दिक अर्थ है– शेष, जूठन आदि। माया जगत् के अतिरिक्त शेष पदार्थ 'उच्छिष्ट' है। 'काल' तथा 'स्कम्भ' की भाँति **उच्छिष्ट से भी समस्त प्रपञ्च की उत्पत्ति बताई गई है–**

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ २३॥

(अथर्व० ११/९/२३)

अर्थात् और जो कुछ प्राण के साथ जीता है, और जो कुछ आँख से देखता है, आकाश में, सूर्य में स्थित समस्त गतिशील लोक 'शेष' (उच्छिष्ट) से उत्पन्न हुए।

अथर्ववेद का **१५वाँ काण्ड 'व्रात्य काण्ड'** के नाम से प्रसिद्ध है। इस 'व्रात्य काण्ड' में भी **'ब्रह्मण्यानि'** तथा **'उच्छिष्ट सूक्त'** की भाँति आध्यात्मिक विषयों का विवेचन हुआ है। **पैप्पलाद** शाखा के अनुसार— **'व्रात्यो वा इदम् अग्रआसीत्'** अर्थात् **यह व्रात्य ही आदि में वर्तमान था।** अतः इससे यह ध्वनित होता है कि **'व्रात्य'** भी **'ब्रह्म'** का दूसरा अभिधान कहा गया है। **व्रात्य** से ही **भूमि, अग्नि** तथा **औषधियों** का आगमन हुआ—

तं भूमिश्चाग्निश्चौषधयश्च वनस्पतयश्च
वानस्पत्याश्च वीरुधश्चानुव्य चलन्॥ २॥ (अथर्व० १५/६/२)

अर्थात् भूमि तथा अग्नि तथा औषधियों तथा वनस्पतियों से उत्पन्न पदार्थ और लताएँ **उसके** पीछे-पीछे चलने लगे। **'उसके' से यहाँ तात्पर्य 'व्रात्य के' से है।**

अत: अथर्ववेद में दार्शनिक विषयों का सुन्दर निरूपण हुआ है। इसके विपरीत पाश्चात्य वेदज्ञों ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि अथर्ववेद में हमें विशिष्ट दार्शनिकता के दर्शन नहीं होते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेदकालीन दार्शनिक परम्परा का पूर्ण विकास हमें उपनिषदों में ही मिलता है। इस सम्बन्ध में **विन्टरनिट्ज** ने इस प्रकार कहा है— It is not the yearning and searching for truth, for the solution of dark riddles of the universe, which inspire the authors of these hymns, but they, too, are only conjurers who pose as philosophers by misusing the well-known philosophical expressions in an ingenious, or rather artificial well of foolish and non-sensible plays of fancy, in order to create an impression of the mystical, the mysterious, what at the first glance appears to be as profundity, is often in reality nothing but empty monger behind which there is more nonsense that profound sense.

विन्टरनिट्ज के इस विचार से हम सहमत नहीं हैं। कुछ भी हो किसी न किसी रूप में **अथर्ववेद में हमें आध्यात्मिक विचारों के दर्शन होते ही हैं।**

रोहित सूक्त- अथर्ववेद में कतिपय ऐसे सूक्त हैं, जिनमें स्फुटविषयों का प्रतिपादन हुआ है। इन सूक्तों को '**रोहित सूक्त**' कहा जाता है। अनेक विद्वानों ने इन सूक्तों में भी दार्शनिक तत्त्वों का समावेश स्वीकार किया है। ये सूक्त **अथर्ववेद के १३वें काण्ड में संगृहीत हैं।** इसमें जिस 'रोहित' का वर्णन हुआ है, वह संसार के समस्त कार्यों का नियन्ता है, सबका उत्पादक है—

उदेहि वाजिन् यो अप्स्व१न्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत्।
यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु॥ १॥

(अथर्व० १३/१/१)

अर्थात् हे बलवान्! उन्नत हो, सुनीति से युक्त हो व इस राज्य में प्रवेश करा जो रोहित सबका उत्पादक है, प्रजाओं के भीतर है तथा जिस (परमात्मा) ने यह विश्व उत्पन्न किया है, वह बड़े-बड़े पोषणकर्त्ता तुझको राज्य करने के लिए धारण करें।

अथर्ववेद में विज्ञान

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि **अथर्ववेद में आयुर्विज्ञान से सम्बन्धित** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। विभिन्न रोगों तथा उनके निदानों का तो वर्णन हुआ ही है, **साथ ही शल्य-चिकित्सा का भी** आश्चर्यजनक संकेत मिलता है। इनमें मूत्राघात हेतु शरशालका द्वारा मूत्र का निष्कासन तथा सुखपूर्वक प्रसव के लिए योनि-भेदन का निर्देश प्राप्त होता है। **'विषस्य विषमौषधम्'** का मेडिकल साइंस का अचूक सिद्धान्त वस्तुतः **अथर्ववेद का ही उद्घोष है**। अतः **आयुर्विज्ञान की दृष्टि से अथर्ववेद संग्रहणीय, पठनीय तथा मननीय शास्त्र है**।

भौतिकशास्त्र के महत्त्वपूर्ण विषयों का भी अथर्ववेद में आधुनिक विज्ञान से समानता रखने वाला विवेचन उपलब्ध होता है। **अथर्ववेद के पाँचवें काण्ड के पाँचवें सूक्त में लाक्षा** (लाख) **का प्रामाणिक वर्णन** वैज्ञानिकों के मत में उपादेय है—

यद् दुण्डेन यदिष्वा यद् वारुर्हरसा कृतम्।
तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम्॥ ४॥

(अथर्व० ५/५/४)

अर्थात् जो कुछ दण्ड से, जो कुछ तीर से, अथवा जो कुछ घाव बल द्वारा किया गया है, उसको तू (लाख) ठीक करने वाली है, वह तू इस पुरुष को ठीक कर दे।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार लाख की उत्पत्ति विशेषतः वर्षाकाल की अन्धकारपूर्ण रातों में होती है। इस वैज्ञानिक तथ्य की सूचना हमें निम्नलिखित अथर्ववेदीय मन्त्र में होती है—

रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः।
सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा॥ १॥

(अथर्व० ५/५/१)

अर्थात् (हे परमात्मा!) तेरी निर्माणशक्ति विश्रामदायक रात के समान, पालने वाला गुण आकाश या मेघ के समान और पितामह हमारे पालने वाले का पालक तेरा गुण विघ्नों को रोकने वाले सूर्य के समान है। सिलाची नामक अवश्य ही तू है, सो तू दिव्य गुणों को अच्छे प्रकार से प्रकाश करने वाली शक्ति है। इस प्रकार अथर्ववेद वैज्ञानिक दृष्टि से भी मानव समाज के लिए कल्याणकारी है।

अथर्ववेद परवर्ती है या नहीं— **पाश्चात्य वैदिक विद्वानों** ने **अथर्ववेद** को **अन्य तीनों वेदों का समकालिक नहीं माना है**। इसका कारण केवल **वेदत्रयी** शब्द की अत्यधिक प्रसिद्धि है। उन लोगों के अनुसार पहले तीन वेदों का ही अस्तित्व था। वह

तीन वेद थे– ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद। अथर्ववेद तो अवान्तरकालीन रचना है। उन लोगों ने अपने विचार की पुष्टि में यह तर्क दिया है कि ऋग्वेद में अथर्ववेद का उल्लेख तक नहीं है। **अतः अथर्ववेद परवर्ती है।**

किन्तु अधिक सूक्ष्मता से मनन करने पर विदित होता है कि पाश्चात्य वेदज्ञों के तर्कों में बल नहीं है। वस्तुतः अथर्ववेद की रचना भी अन्य तीनों वेदों की रचना के समय ही हुई है। इस विषय में **भारतीय वेदज्ञ** जो तर्क प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(१) वस्तुतः पाश्चात्य वेदज्ञों में 'वेदत्रयी' शब्द के अर्थ के विषय में भ्रम व्याप्त है। 'वेदत्रयी' से तात्पर्य— ऋक् संहिता, यजुः संहिता तथा साम संहिता नहीं है बल्कि इसका वाच्य विद्यापरक है। जैमिनी के अनुसार इनके अर्थ इस प्रकार हैं—

(क) तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था (ख) गीतिषु सामाख्या (ग) शेषे यजुः शब्दः।

अर्थात् पादव्यवस्थायुक्त छन्दों में उपनिबद्ध मन्त्र '**ऋक्**' पदवाच्य है, स्थूल दृष्टि से इन्हें 'पद्य' भी कह सकते हैं। साम का तात्पर्य गीति तथा गान होता है। ऋक् तथा साम के अतिरिक्त शेष मन्त्र 'यजुष्' कहलाते हैं। 'यजुष् मन्त्र' गद्यात्मक स्वीकार किए गए हैं। ऋचाओं की अधिकता होने के कारण उनका संग्रह 'ऋग्वेद' कहलाया। 'सामवेद' को यह अभिधान सामों की मुख्यता होने के कारण मिला। 'यजुर्वेद' के नामकरण का आधार यजुषों का प्राधान्य होना है किन्तु अथर्ववेद में किसी एक विषय का एक प्रकार की प्रधानता नहीं है। **उसमें तीनों ही वस्तुएँ समान रूप से समाविष्ट है।** अतः उसका नामकरण किसी एक इकाई के आधार पर नहीं किया गया। अतः उसका नाम **उसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि 'अथर्वा' के नाम पर रख दिया गया।** (२) ऋग्वेद में ऋषि अथर्वा का कईं बार नामोल्लेख हुआ है— '**यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते**' तथा '**अग्निर्जातो अथर्वणां।**' केवल इतना ही नहीं, **ऋग्वेद में अथर्ववेदीय ऋषि भृगु तथा अङ्गिरा के परिवार में क्रमशः** १२ तथा ४५ अर्थात् कुल ५७ ऋषि हैं जो ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों के साक्षात्कर्त्ता हैं। इससे ज्ञात होता है कि **ऋग्वेद ही अथर्ववेद का ऋणी हैं।** ऋग्वेद में 'छन्दासि' के नाम से आथर्वण ऋषि का उल्लेख है। अतः अथर्ववेद को परवर्तीकालीन कहना सत्यता को न मानना है।

उपसंहार–

अथर्ववेद का महत्त्व– अथर्ववेद में चित्रित संस्कृति मानव समाज के प्रारम्भिक युग से अपना सम्बन्ध रखती है। अथर्ववेद में तत्कालीन समाज में प्रचलित रीति–

रिवाज, प्रथाएँ, मान्यताएँ, अन्धविश्वास, रूढ़ियों, जादू-टोने, कृत्या प्रयोग, अभिसार कर्म, सम्मोहन, वशीकरण, जड़ी-बूटियों आदि का व्यापक निरूपण है। **यह अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा लोक सांस्कृतिक सामग्री का विश्वकोश है। इसीलिए मैक्डॉनल का कथन है कि 'सभ्यता के इतिवृत्त' के अध्ययन के लिए ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में उपलभ्यमान सामग्री कहीं अधिक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण हैं।**

अन्य विषय :- अब तक किये गये विषयों के विवेचन के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी अथर्ववेद में न्यूनाधिक्य जानकारी दी गयी है। इसमें ऋग्वेद के सदृश सामाजिक विषयों तथा व्यवस्थाओं पर भी कुछ मन्त्र प्राप्त होते हैं। इसमें समाज के समस्त वर्गों में परस्पर मृदु सम्बन्धों की आवश्यकता पर बल दिया गया है—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥१॥ (अथर्व० ११)

तृतीय खण्ड – परिशीलन

तृतीय अध्याय

ऋग्वेद में राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता का अनुशीलन

१. ऋग्वेद में निरूपित राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता के आधारतत्त्व :

वेद, सत्य ज्ञान की अप्रतिम-राशि एवं विश्व के पुस्तकालय में **प्राचीनतम ग्रंथ** है। इसमें वर्णित सब कुछ जो भूत में वर्णित माना जाय तो वही आज के सन्दर्भ में भी नवीनतम ही दिखलाई देता है। उसमें समस्त **त्रिकाल-सत्य** सिद्धान्तों का समावेश है। अर्थात् उनमें जो कुछ लिखा है– वह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल में शाश्वत सत्य समझा जा सकता है। मानव जीवन का आदर्श रूप में निर्वाह करने के लिये उनमें समस्त सिद्धान्तों का बीज रूप में समावेश है।

सृष्टि के आरम्भिक युग में ही मानव समाज ने एक सुसंगठित समाज की आवश्यकता अनुभव की थी और जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही समाजों में भी वृद्धि हुई और कालान्तर में मानव स्वभाव में विद्यमान स्वभावविभिन्नता ने उन्हें पृथक्-पृथक् समूहों में रहने पर विवश कर दिया और यहीं से आरम्भ हुई पृथक्-पृथक् राष्ट्रों के निर्माण की प्रक्रिया। इन राष्ट्रों की अपनी अलग-अलग सभ्यता और संस्कृति होती है। **ऋग्वेद** में राजनीति से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों को सम्यक् रूप से उद्घाटित किया गया है। इस वेद में राजनीति के मानवीय मूल्यों एवं राष्ट्रीयचेतना के सार्वभौम स्वरूप का सम्यक् विश्लेषण किया गया है। सम्पूर्ण मानवजाति को एक ही ईश्वर की सन्तान के रूप में परिभाषित किया गया है और उससे अपने सन्तानों की अच्छी प्रकार से पालन-पोषण की याचना की गई है–

स नः॑ पि॒तेव॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व। सच॑स्वा नः स्व॒स्तये॑।।[१]

अर्थात् मनुष्यों को ईश्वर से याचना करते हुए अपने अर्थात् मानवजाति के लिए इस प्रकार कहना चाहिए– **हे ईश्वर! जैसे पिता अपने पुत्रों को श्रेष्ठ मानव का स्वरूप देने के लिए उत्तम शिक्षा देकर और समुचित प्रकार के संस्कार देकर उनको सद्गुणों से युक्त बनाकर श्रेष्ठ कार्यों को सम्पन्न करने योग्य बना देता है, वैसे ही आप हम लोगों को शुभ गुणों से युक्त, शुभ कर्मों को करने की प्रेरणा दीजिये।**

---

१. ऋग्वेद १/१/९

इस मंत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमेश्वर को पिता और सम्पूर्ण मानव जाति को सन्तान मानकर विश्व को एक परिवार का स्वरूप प्रदान किया गया है। राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में यह एक सकारात्मक दृष्टिकोण है क्योंकि एक पिता की सन्तान मानकर सम्पूर्ण राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधने की बात कही गई है। और इस तरह की भावना से पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं। द्वेषहीन मानवसमाज से ही एकता और अखण्डता की बात सोची जा सकती है।

ऋग्वेद की राजनीति में मानवतावाद और जनकल्याण की भावना सर्वत्र परिलक्षित हो रही है। मानवजाति की सुख, शान्ति और उसे वैभवपूर्ण बनाये रखने की भावना निहित है।

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा॥[१]

अर्थात् ईश्वर ने मनुष्य को उसकी शक्तियों एवं सुख सुविधा की ओर इंगित किया है कि एक उत्तम राज्य और उसको धन, आवागमन के आधुनिक साधनों से सम्पन्न करने के लिये उसे पृथ्वी, जल और वायु आदि के गुण व ज्ञान से अवगत होकर उनसे लाभ उठाना होगा।

राष्ट्र की एकता एवम् अखण्डता को सुरक्षित बनाने के लिये उसका विकास एवं समृद्धि आवश्यक है ताकि बाह्य व आन्तरिक सुरक्षा को खतरा न रहे। हम किसी भी क्षेत्र में पराश्रित न हों। शत्रुओं से टक्कर लेने में हम अपने आप में पूर्णतया सक्षम हों, तभी हमारा राष्ट्र सुरक्षित रहेगा।

महाँ इन्द्रः परश्च नु महित्वमस्तु वज्रिणे। द्यौर्न प्रथिना शवः॥[२]

अर्थात् 'धार्मिक युद्ध करने वाले मनुष्यों को उचित है कि जो शूरवीर युद्ध में अति धीर मनुष्यों के साथ होकर दुष्ट शत्रुओं पर अपनी विजय प्राप्त की है, इस विजय के लिए हमें परमेश्वर को धन्यवाद करना चाहिये ताकि निरभिमान होकर राष्ट्र की सदैव उन्नति होती रहे।'

राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में ऋग्वेद में स्वराज्य की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। '**स्वराज्य से यहाँ अभिप्राय स्वयं पर शासन करने से है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने पर नियंत्रण रखेगा। अपनी समस्त बुराइयों और दुर्गुणों पर नियंत्रण रखकर अपने साथ-साथ सम्पूर्ण राष्ट्र की उन्नति में प्रयत्नशील रहता है, यही स्वराज्य का प्रतीक है।** उत्तम स्वराज्य-शासन सूर्य के समान है एवं प्रलय

---

१. ऋग्वेद १/६/२
२. ऋग्वेद १/८/५

पर्यन्त अविचल रहने वाला बतलाया गया है।

यस्य॑ ते॒ नू चि॑दादि॒शं॒ न मि॒नन्ति॒ स्व॒राज्य॑म्। न दे॒वो नाध्रि॑गु॒र्जन॑:।।[१]

इस मंत्र में **स्वराज्य** को सर्वोत्तम राज्य व्यवस्था स्वीकार किया गया है और इसकी दृढ़ता को स्वीकार किया गया है। इसका संचालन यदि आदर्श रूप में किया जाये तो इसके अस्तित्व को कभी कोई खतरा नहीं हो सकता। ऐसे राष्ट्र युगों-युगों तक सूर्य के समान अटल बनकर अपने अस्तित्व को बनाये रखते हैं।

अस्य॒ हि स्वय॑शस्तरं सवि॒तुः कच्च॒न प्रि॒यम्।
न मि॒नन्ति॒ स्व॒राज्य॑म्।।[२]

अर्थात् **उत्तम-आदर्श-स्वराज्य-शासन के तेज की अनन्य-राशि सूर्य के प्रकाश अथवा जगदुत्पादक परमेश्वर से तुलना की गई है। जिस प्रकार पूर्ण रूप से व्यवस्थित होने के कारण सूर्य या ईश्वर की सत्ता का कभी विनाश सम्भव नहीं है, उसी प्रकार उत्तम गुण से युक्त एवं आदर्श राज्य शासन एवं अधिकारियों की छत्रछाया में स्वराज्य-शासन का भी कभी विनाश नहीं हो सकता।**

प्रत्येक राष्ट्र के लिये यह आवश्यक है कि वहाँ के नागरिकों में **राष्ट्रभक्ति की भावना** का संचार होना चाहिये। **मातृभूमि को अपनी जन्मदात्री माँ के सदृश मानने वाले राष्ट्रभक्त ही राष्ट्र के वास्तविक भक्त होते हैं।** उनमें आपस में बन्धुत्व की भावना सदा जागृत रहनी चाहिये। जो राष्ट्र का संचालन करते हैं उन्हें भी विद्वान् होना आवश्यक है। सारे राष्ट्र की निष्ठा एवं विश्वास उनमें निहित होना चाहिये और उन्हें भी पितासदृश संरक्षण देकर सुरक्षा प्रदान करनी चाहिये।

नागरिकों में इस प्रकार की उदात्त भावना उस दशा में ही संभव है जबकि प्रत्येक व्यक्ति में परस्पर समभाव हो और कोई किसी को ज्येष्ठ या कनिष्ठ न समझे। यह भाव जाति या धर्म या किसी वर्ग आदि के आधार पर भी नहीं होना चाहिये।

ते अ॑ज्येष्ठा अक॑निष्ठास उ॒द्भिदोऽम॑ध्यमासो॒ मह॑सा॒ वि वा॑वृधुः।
सु॒जा॒तासो॑ ज॒नुषा॒ पृश्नि॑मातरो दि॒वो मर्या॒ आ नो॒ अच्छा॑ जिगातन।।[३]

अर्थात् राष्ट्र भक्तों में किसी प्रकार की ज्येष्ठता एवं कनिष्ठता की भावना नहीं होनी चाहिये। सभी को अपने सद्प्रयत्नों से राष्ट्र की उन्नति के लिये प्रयत्नशील होना

---

१. ऋगवेद ८/९३/११
२. वही ५/८२/२
३. ऋग्वेद ५/५९/६

चाहिये। विचारशील एवं उच्च महत्त्वाकांक्षा वाले राष्ट्रवासियों से ही राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता को बल प्राप्त होता है। सामूहिक हित की भावना से ही सबकी उन्नति सम्भव है और सभी की उन्नति से ही राष्ट्र की दृढ़ता बढ़ती है। उसकी एकता और अखण्डता और मजबूत होती है।

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।।[१]

अर्थात् राष्ट्रभक्तों में समानता की भावना आवश्यक बताते हुए इस तथ्य को निरूपित किया गया है कि प्रत्येक राष्ट्र की **भाषा, संस्कृति** एवं **भूमि** ही सुखप्रदाता एवं श्रेयस्कर देवता है। इनकी ही उन्नति करने से वास्तविक राष्ट्रीयउन्नति सम्भव हो सकती है और राष्ट्रीयउन्नति से ही सामूहिक सुख प्राप्त हो सकता है। **भाषा** एवं **संस्कृति** सुरक्षित रहे तो **मातृभूमि** या **राष्ट्र** पर कोई भी बाह्यशक्ति या शत्रु प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सकता है। यही कारण है कि ये पदार्थ राष्ट्र के सर्वाधिक उपयोगी होने के साथ-साथ महान् सुखप्रदाता देवता माने गये हैं।

शत्रु से राष्ट्र की रक्षा सबसे अहम् बात है क्योंकि शत्रु ही सदैव एक संगठित राष्ट्र के टुकड़े करने के लिये, उसकी अखण्डता पर प्रहार करने के लिये अवसर खोजा करते हैं। इन राष्ट्र के शत्रुओं से प्रहरियों को सदैव सावधान रहना चाहिये क्योंकि ये राष्ट्र के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में ऋग्वेद में उल्लिखित है—

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्।।[२]

अर्थात् स्वराज्य शासन की प्रतिष्ठा अविचल रखने के लिये आवश्यक है कि शत्रु का विनाश किया जावे। **जिस प्रकार सूर्य को मेघ के हनन में कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, अपितु सहज रूप से ही उसका हनन हो जाता है। इसी प्रकार राष्ट्रप्रेमी भक्तों की इस प्रकार सुव्यवस्था हो कि शत्रुओं का बिना किसी चेष्टा के ही नाश हो जावे।** यदा कदा परिस्थितिवश शत्रु पर पुनः पुनः आक्रमण करना पड़ता है और अत्यन्त धैर्य के साथ विपत्ति का सामना करना पड़ता है। उसमें जो वीर सफल होते हैं, उनसे ही यह आशा की जा सकती है कि वे स्वराज्य शासन की गरिमा एवं महिमा का विस्तार कर सकेंगे।

सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत्। विश्वायुर्धेह्यक्षितम्।।[३]

---

१. ऋग्वेद १/१३/९
२. ऋग्वेद १/८०/३
३. ऋग्वेद १/९/७

अर्थात् पुरुषार्थ ही व्यक्ति के मनोरथों को सफल कर सकता है, सिर्फ कामना से कुछ भी नहीं हो सकता है। **जीवन में ब्रह्मचर्य का धारण, विषयों के अतिक्रमण का त्याग, भोजनादि में श्रेष्ठ नियमों का पालन कर चक्रवर्ती राज्य की लक्ष्मी की सिद्धि मात्र पुरुषार्थ के द्वारा ही सम्भव है। ईश्वर की प्रार्थना मात्र से मनोरथ सिद्ध नहीं होते। इन सबकी प्राप्ति के लिए पूर्ण पुरुषार्थ करना ही उचित है।**

प्रत्येक कार्य की सफलता तभी सम्भव है जबकि मनुष्य स्वयं ही उसमें प्राण पण से संलग्न रहे। सिर्फ मनोरथ से कार्य सिद्ध होना संभव नहीं है।

सुविवृतं सुनिरजमिन्द्र त्वादातमिद्यशः। गवामप व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः।।[१]

अर्थात् हे ईश्वर जैसे विश्व की सृष्टि में सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि की उत्पत्ति करके, उसे अपना यश व आशीष प्रदान करके प्रसिद्धि दिलाई है वैसे ही आप मुझ मानवजाति पर कृपा करके अपनी इन्द्रियों आदि की शुद्धि के साथ **विद्या, ज्ञान और धर्म के प्रकाश** से युक्त **कीर्ति, विद्या, धन** और **वैभवशाली राज्य** प्रदान करके सब मनुष्यों को निरन्तर आनन्दित एवं कीर्तिमान बनायें।

राष्ट्र में किसी के प्रति भेदभाव और ईर्ष्या द्वेष उचित नहीं है। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा सदैव लोकोपकार में निरत हैं, **उसी प्रकार सम्राट को भी सदैव प्रजाजनों के हित के बारे में ही विचार करना चाहिए–**

इन्द्रावरुणयोरहं सम्राजोरव आ वृणे। ता नो मृळात ईदृशे।।[२]

अर्थात् जैसे प्रकाशमान, संसार के उपकार करने, सब सुखों के देने, व्यवहारों के हेतु और चक्रवर्ती राजा के समान सब की रक्षा करने वाले **सूर्य तथा चन्द्रमा हैं, वैसे ही हम लोगों को होना चाहिये।**

जब राष्ट्र में सभी लोग सुख समृद्धि से पूर्ण होते हैं और अपने आपको सुरक्षित महसूस करते हैं तब उन्हें अपने राष्ट्र की सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रहता है। सारी चिन्ताओं से मुक्त नागरिक राष्ट्र के प्रति समर्पित होते हैं। उन्हें एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या नहीं होती, राष्ट्र व राष्ट्र के शासन के प्रति संतुष्टि उन्हें राष्ट्र के प्रति समर्पित बनाती है।

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर अखण्डसाम्राज्य की भावना अभिव्यक्त की गई है। यह अखण्ड साम्राज्य आज की राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता का ही प्रतीक है।

---

१. ऋग्वेद १/१०/७
२. ऋग्वेद १/१७/१

सार्वभौमअखण्डराष्ट्र की संस्थिति तभी संभव है जबकि राष्ट्रवासियों में पारस्परिक प्रेम, सद्भाव एवं बंधुत्व की भावना का विकास हो। राष्ट्र के लोगों को उद्यमी कर्मण्य, परिश्रम से न घबराने वालें और सत्य व धर्म का अनुकरण करने वाले होने चाहियें। वैज्ञानिक गतिविधियों को उस काल में ही बहुत महत्त्व दिया गया था, वायुयान, जलयान और रथों आदि का निर्माण उनके लिये बहुत ही सरल कार्य था। राष्ट्र की सुरक्षा के लिये आवश्यक था कि राष्ट्र में इन सब चीजों की प्रचुरता हो ताकि शत्रु का सामना पूर्ण शान्ति के साथ करके विजयश्री प्राप्त की जा सके।

सं वो मदासो अग्मतेन्द्रेण च मरुत्वता। आदित्येभिश्च राजभिः।।[१]

अर्थात् राष्ट्र के विद्वान्पुरुष वायु और विद्युत की शक्ति का उपयोग करके सूर्य की किरणों के समान आग्नेयादि अस्त्र, असि आदि शस्त्र और विमान आदि यानों को सिद्ध करते हैं तभी वे शत्रुओं का वीरतापूर्वक सामना करके अपने राष्ट्र को सुख एवं शान्ति से पूर्ण बनाने में सफल होते हैं।

राष्ट्र में शिक्षा का पूर्ण प्रसार होना चाहिये, शिक्षा व्यक्ति को वैचारिक संकीर्णता से मुक्त कराती है। वह छोटी-छोटी बातों को लेकर मन में न वैमनस्य पालते हैं और न ही आपस में शत्रुता का भाव रखते है। शिक्षा से उनका ज्ञान विस्तृत होता है। राष्ट्र के आपातकाल में भी वे सदैव राष्ट्र के प्रति जागरूक रहते हैं। सभी उनके कार्यों के अनुरूप शिक्षा देने से वे अपने कार्य में विशेषज्ञ बन जाते हैं। अपने-अपने कार्यों की विशिष्टता से परिचित होते हैं। उन कार्यों का सुचारुपूर्वक सम्पादन करते हैं। राष्ट्र का शासन कार्य भी सुशिक्षित एवं प्रशिक्षित लोगों से अच्छी तरह सम्पन्न होता है।

जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय। स्तोमं रुद्राय दृशीकम्।।[२]

अर्थात् युद्ध विद्या के ज्ञाता लोगों के गुणों का श्रवण किये बिना इस बात का ज्ञान नहीं होता कि कहाँ किस प्रकार युद्ध में अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करना चाहिये। जो प्रजा के सुख के लिए शत्रुओं का सामना करने के उद्देश्य से सैनिकों को प्रशिक्षित करते हैं, वही प्रजापालन के कर्तव्यों को पूर्ण कर पाते हैं।

समग्र रूप से यदि ऋग्वेद में वर्णित प्रसंगों को देखा जाय तो निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के आधारतत्त्व पूर्ण रूप से विद्यमान है और आज की विपरीत परिस्थितियों के अनुरूप उसमें समाधान भी प्रस्तुत किये गये हैं और यही कारण है कि वेद सदैव वर्तमान रहते हैं। उनके प्रसंग

---

१. ऋग्वेद १/२०/५
२. ऋग्वेद १/२७/१०

कभी भूतकालिक हो ही नहीं सकते हैं।

२. राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में ऋग्वेद के समाज दर्शन का अनुशीलन

वैदिकवाङ्मय में तत्कालीन भारतीयसमाज का जो चित्र अंकित है, उसके विश्लेषण से ज्ञात होता है कि वह अत्यन्त सुख सौमनस्यपूर्ण, समता एवं समरसता मूलक और स्वस्थ मानसिक विकास की आधारशिला पर प्रतिष्ठित अवधारणा थी। समाज का वर्गीकरण विभिन्न व्यावसायिक पृष्ठभूमि के आधार पर किया गया था। **परिवार संयुक्त होते हुए भी उनमें प्रत्येक व्यक्ति के सर्वतोमुखी विकास के अवसर प्रदान किये जाते थे। हर क्षेत्र में कार्य करने का उन्हें अधिकार था। स्त्री और पुरुष के मध्य कोई भी भेद नहीं किया जाता था। पारिवारिक पृष्ठभूमि यदि संयुक्त थी तब भी उनके मध्य खींचतान की प्रवृत्ति न होकर पारस्परिक दायित्व की ग्रहणशीलता और सहयोग की दृष्टि निहित थी। समाज के सभी वर्गों में परस्पर प्रेम की भावना थी।**

(क) वर्ण व्यवस्था :– ऋग्वैदिक समाज, श्रम विभाजन के सिद्धान्त के अनुरूप चार वर्गों में विभक्त दिखलाई देता है। सुप्रसिद्ध 'पुरुष-सूक्त' में समाज की परिकल्पना पुरुष के रूप में विभिन्न वर्णों की योजना उसके विविध अवयवों के रूप में की गई है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।[१]

अर्थात् समाज में बने चार वर्णों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में **ब्राह्मण** का जन्म ब्रह्मा जी के मुख से, बाहुओं से **क्षत्रिय** जाति की, जंघाओं से **वैश्य** की और पैरों से **शूद्र** का जन्म माना गया है। इसी के अनुरूप ही **समाजशास्त्रियों** ने भी **समाज को जीवित शरीर माना है।[२] इससे मिलकर ही समाज का निर्माण हुआ है।** समाजशास्त्रियों ने सामाजिक वर्गीकरण का आधार इसी को स्वीकार किया है। **वैदिक युग में यह वर्ण विभाजन जन्मानुसार न होकर कर्मानुसार ही होता था** और **जैसे मानव शरीर के सभी अंग एक दूसरे से सम्बद्ध है, शरीर के किसी एक अंग के रोग से पीड़ित होने पर पूरे शरीर को कष्ट होता है, ठीक उसी प्रकार एक वर्ण के कष्ट की अनुभूति दूसरे वर्ण को होना भी स्वाभाविक था।**

---

१. ऋग्वेद १०/९०/१२
२. हर्वर्ट स्पेन्सर आदि।

ब्राह्मणों के लिए वेदों का **अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन** प्रमुख कार्य थे, किन्तु कृषि प्रभृति कार्यों से भी वे उस समय विरत न थे। राज्यसंचालन और युद्धों में भाग लेना भी उनको अस्वाभाविक न था। **क्षत्रिय-वर्ण** के लिये तो शासन, सुव्यवस्था आदि कार्य निश्चित थे फिर भी अन्य कार्यों को करने के लिये उन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। यही बात **वैश्यों** पर भी लागू होती थी। उनके लिये प्रमुख कार्य पशु-पालन, कृषि और वाणिज्य आदि थे। **शूद्रों** का कर्म समाज की सेवा सुश्रुषा करना कहा गया है **किन्तु उस समय इस वर्ग के प्रति कोई तिरस्कार या उपेक्षा का भाव नहीं दिखलाई देता था।**

(ख) आश्रम व्यवस्था :- वैदिकयुग में मानवजीवन को कर्म, धर्म, नियम आदि की दृष्टि से उसकी पूर्ण आयु को १०० वर्ष का अनुमान करके २५-२५ वर्ष की आयु के चार वर्ग बनाकर उन्हें अलग-अलग चार आश्रमों के नाम देकर उसके कार्य, धर्म आदि निश्चित कर दिये गये थे। इनका अनुकरण करता हुआ मनुष्य अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य, मोक्ष तक पहुँच ही जाता है। **जीवन के आरम्भ से २५ वर्ष** की आयु तक का काल '**ब्रह्मचर्य-आश्रम**' का काल कहा जाता है। इसमें व्यक्ति विद्या ग्रहण करने का कार्य अपनी सम्पूर्ण निष्ठा से करता है। **अध्ययनकाल पूर्ण करने के बाद ही वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है।**

स प्रत्नथा सहसा जायमानः सद्यः काव्यानि बळधत्त विश्वा।
आपश्च मित्रं धिषणा च साधन्देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्।।[१]

अर्थात् मनुष्य ब्रह्मचर्य और विद्या की प्राप्ति के बिना कवि नहीं हो सकता और न कविता के बिना परमेश्वर एवं बिजुली को जानकर कार्यों को कर सकता है। इससे उक्त ब्रह्मचर्य आदि नियम का अनुष्ठान नित्य करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य के जीवन के बाद व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और आयु के ५० वर्ष तक का काल वह इसमें व्यतीत करता है। **इसमें रहकर ही वह जीवन के तीनों ऋण- देवऋण, ऋषिऋण एवं पितृऋण से मुक्ति हेतु सत्कर्म करता है। जीवन के धर्म के कार्य वह सपत्नीक पूर्ण करता है। धार्मिक अनुष्ठानों को भी वह सपत्नीक ही पूर्ण करता है।** सन्तान के जन्म से वह वंश की परम्परा को आगे बढ़ाता है।

यदद्य भागं विभजासि नृभ्य उषो देवि मर्त्यत्रा सुजाते।
देवो नो अत्र सविता दमूना अनागसो वोचति सूर्याय।।[२]

---

१. ऋग्वेद १/९६/१
२. ऋग्वेद १/१२३/३

अर्थात् जब दो स्त्री-पुरुष विद्यावान्, धर्म का आचरण और विद्या का प्रचार करने वाले सदा परस्पर प्रसन्न हों तब गृहस्थाश्रम में अत्यन्त सुख का सेवन करने वाले व्यक्ति हों।

गृहस्थाश्रम की आयु पूर्ण करने पर व्यक्ति को 'वानप्रस्थ आश्रम' में प्रवेश करने का आदेश है। ५० से ७५ वर्ष की आयु तक वह वानप्रस्थ आश्रम में रहता है। इस काल में वह घर में सपत्नीक रहते हुए अपना सम्पूर्ण समय पूजा-पाठ, जप-तप में व्यतीत करने लगता है। सांसारिक मायामोह से मुक्त होकर वह संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने की तैयारी करता है।

७५ वर्ष की आयु के बाद व्यक्ति '**संन्यास आश्रम**' में प्रवेश करता है। इसमें वह गृह त्याग कर वन में जाकर तपस्या करता है और **जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिये ही तन और मन से समर्पित हो जाता है।**

पृक्षो वपुः पितुमान्नित्य आ शये द्वितीयमा सप्तशिवासु मातृषु।
तृतीयमस्य वृषभस्य दोहसे दशप्रमतिं जनयन्त योषणः।।[१]

अर्थात् जो मनुष्य इस जगत् में सात प्रकार के लोकों में ब्रह्मचर्य से प्रथम, गृहस्थाश्रम से द्वितीय और वानप्रस्थ एवं संन्यास से तृतीय कर्म तथा उपासना के विज्ञान को प्राप्त होते हैं, वे दस इन्द्रियों, दस प्राणों के विषयक मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और जीव के ज्ञान को प्राप्त होते हैं।

(ग) पुरुषार्थ :- मानव जीवन में **पुरुषार्थ** का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि जीवन के कार्यों, धर्मों और नियमों के निर्माण का आधार यह **पुरुषार्थ** ही है। **इन पुरुषार्थों की पूर्ति में ही वह सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देता है।** नैतिक नियमों का भी उल्लेखनीय योगदान है।

एतायामोप गव्यन्त इन्द्रमस्माकं सु प्रमतिं वावृधाति।
अनामृणः कुविदादस्य रायो गवां केतं परमावर्जते नः।।[२]

अर्थात् ''मनुष्यों को योग्य है कि संसार में अविद्या का नाश तथा विद्या का दान करने से उच्च कोटि के धन सम्पत्ति को बढ़ावें तथा **उस परमेश्वर की आज्ञा का पालन और उपासना करके उसी से शरीर तथा आत्मा का बल नित्य बढ़ायें। उनकी सहायता के बिना कोई भी मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी फल को प्राप्त**

---

१. ऋग्वेद १/१४१/३
२. ऋग्वेद १/३३/१

करने में कभी भी समर्थ एवं सफल नहीं हो सकता है।''

जीवन में निश्चित इन **चार पुरुषार्थों** के सम्बन्ध व्यक्ति के इहलोक और परलोक दोनों से भी जुड़ा हुआ है। सर्वप्रथम **धर्म** का सम्बन्ध तो व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक जुड़ा रहता है। उसका हर कार्य **धर्मानुरूप** होना चाहिये तभी उसे **सार्थक** कहा जा सकता है। इस कार्य के लिये सम्पूर्ण जीवन काल ही निश्चित किया गया है। इसके पश्चात् दूसरे स्तर पर **अर्थ** आता है। इस अर्थ के द्वारा ही सारे कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। अतः इसकी महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस **धन** (अर्थ) के द्वारा ही वह अपने धार्मिक, पारिवारिक एवं सामाजिक कार्यों को पूर्ण करता है। यह **अर्थ धर्मपूर्ण तरीके से कमाया हुआ होना चाहिये तभी उसका उपयोग सफल होगा**। चोरी, डकैती या बेइमानी से कमाया हुआ धन का स्रोत न्यायपूर्ण एवं धार्मिक न होने के कारण वह **धर्मसंगत अर्थ** नहीं कहा जा सकता है। पूजा, यज्ञ, अनुष्ठान, दान आदि में प्रयुक्त धन धर्मपूर्ण ढंग से अर्जित किया हुआ होना चाहिये।

गृहस्थाश्रम का आधार 'काम' की इच्छा है। जीवन की अनिवार्यता होने के कारण ही उसे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। इसके द्वारा ही मानव अपनी इच्छाओं की पूर्ति करते हुए प्रजा की उत्पत्ति में संलग्न होता है। पत्नी के साथ मिलकर ही धार्मिक अनुष्ठान पूर्ण किये जाते हैं। **'काम' को शारीरिक सुख की दृष्टि से ही नहीं देखा जाता। इस भावना को गौण मानकर ही गृहस्थाश्रम के दायित्वों की पूर्ति का 'साधनमात्र' माना जा सकता है।** इसी सन्दर्भ में निम्न मंत्र उल्लेखनीय है—

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः।।[१]

अर्थात् मनुष्य के लिए यही उचित है कि वह वेद के नियमों को सुन्दर अर्थ में ग्रहण करके, युवावस्था में स्वयंवर विवाह कर, धर्म से सन्तानों की उत्पत्ति और रक्षा कर अपने 'कामधर्म' का पालन करते हुए उन्हें भी यथावत् ब्रह्मचर्य की सुन्दर शिक्षा प्रदान करते हुए उन्हें विद्वान् बनाकर अपना और विश्व का सुख बढ़ाये।

जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष का सम्बन्ध सम्पूर्ण क्रियाकलापों से जुड़ा हुआ है। जीवन में धर्म, अर्थ, काम– तीनों की यथोचित पूर्ति के पश्चात् उसका मन इन सबसे विरक्त होकर ईश्वरोन्मुख हो जाता है और वह ईश्वर की उपासना में अपने आपको समर्पित कर देता है और इसी **जप, तप, पूजा, अर्चना से उसको मोक्ष प्राप्त होता है।**

---

१. ऋग्वेद २/२४/१६

नारी की स्थिति :– वैदिक ऋषियों ने स्त्री और पुरुष को समकक्ष स्थान पर रखा था। जीवनरूपी वाहन के ये दोनों दो चक्र हैं। इनमें से एक के बिना भी इसके चलने की कोई संभावना नहीं रहती है और **इसी कारण जन्म से ही बालक एवं बालिका दोनों के लालन-पालन में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया गया है।** पारिवारिक जीवन में स्त्री को गृहिणी, जननी और सहचरी तीनों रूपों से परिचित कराया जाता है। **ऋग्वेद** के **सूर्या सूक्त** (१०/८५) में स्त्री के गृहिणी स्वरूप की सम्यक् रीति से समीक्षा की गई है। नववविवाहित वधू को अपने घर में प्रवेश करने और सब पर शासन करने के लिए आमंत्रित करने का उल्लेख निम्नांकित मंत्र में स्पष्ट परिलक्षित है—

गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि।[१]

गृहस्थी के दायित्वों के प्रति गृहिणी को 'गार्हपत्याय जागृति' (ऋ०सं० १०/२५/२७) कहकर जागरूक रखा गया है। सास, ससुर, नन्दों एवं देवरों सहित **वह सम्पूर्ण परिवार के 'साम्राज्ञी' के गौरवास्पद पद पर प्रतिष्ठित की गई है–**

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।।[२]

नारी को साम्राज्ञी के पद से विभूषित किया गया है और उससे सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य निर्वाह की आशा की जाती थी और उसे सम्मानीय स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है।

व्युच्छन्ती हि रश्मिभिर्विश्वमाभासि रोचनम्। तां त्वामुषर्वसूयवो गीर्भिः कण्वा अहूषत।।[३]

अर्थात् विद्वानों को समझना चाहिये कि स्त्री के गुण अवर्णनीय होते हैं। उसकी तुलना उषा के गुणों के तुल्य समझे जाने चाहिये और उन्हें इस बात को समझते हुए सबको उपदेश देना चाहिये।

उस युग में अपने वैदुष्य के कारण कितनी ही स्त्रियों को विशिष्ट सम्मान प्राप्त हुआ। इनमें से अनेक को मंत्र साक्षात्कार करने में भी प्रतिष्ठा मिली है। सम्पूर्ण रूप से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि नारी को ऋग्वेद काल में सम्माननीय स्थान प्राप्त था।

विवाह :– वैदिक युग में बालविवाह की प्रथा नहीं थी। विवाह वर और कन्या

---

१. ऋग्वेद १०/८५/२६

२. ऋग्वेद १०/८५/४६

३. ऋग्वेद १/४९/४

के द्वारा पूर्ण यौवन प्राप्ति के पश्चात् ही होता था। ऋग्वेद में **सूर्या और सोम** के विवाह का वर्णन (१०/८५) से सम्बद्ध मंत्रों से यह तथ्य सुप्रमाणित है। सगोत्रीय विवाह निषिद्ध थे। **कन्या को पति चयन की स्वतंत्रता प्राप्त थी। विवाह में मध्यवर्ग कभी बाधा नहीं बना। वर्ण का कोई बन्धन नहीं था। प्रेम विवाहों का भी ऋग्वेद में उदाहरण दिया गया है। ऋग्वेद में चर्चित** (ऋ०सं० ९/६७/१०-१२) **राजा रथवीत्ति की राजकुमारी** के प्रति **ऋषिश्यावाश्य के हृदय में प्रणय-भावना की उत्पत्ति और बाद में विवाह का उल्लेख किया गया है। उस समय 'एक पत्नी-विवाह' का ही उल्लेख मिलता है।** बहुपत्नी का अपवाद के रूप में कहीं-कहीं उल्लेख प्राप्त होता है।

विवाह को स्वयंवर स्वरूप ही मान्यता प्राप्त थी। दोनों को ही गुण व ज्ञान के आधार पर पति एवं पत्नी के चुनाव का अधिकार प्राप्त था।

अभि नो देवीरवसा महः शर्मणा नृपत्नीः।
अच्छिन्नपत्राः सचन्ताम्।।[१]

अर्थात् जैसी विद्या, गुण, कर्म और स्वभाव वाले पुरुष हों, उनकी स्त्री भी वैसी ही होनी ठीक है, क्योंकि जैसा तुल्य रूप, विद्या, गुण, कर्म, स्वभाव वालों को सुख सम्भव होता है, वैसा अन्य को कभी नहीं हो सकता है। **इससे स्त्री अपने समान पुरुष एवं पुरुष अपने तुल्य स्त्री के साथ आपस में प्रसन्न होकर स्वयंवर विधान से विवाह करके सब कर्मों को सिद्ध करें।**

त्वमग्ने वसूँरिह रुद्राँ आदित्याँ उत। यजा स्वध्वरं जनं मनुजातं घृतप्रुषम्।।[२]

अर्थात् मनुष्यों को चाहिए कि अपने पुत्रों को कम से कम चौबीस और अधिक से अधिक अड़तालीस वर्ष तक और कन्याओं को कम से कम सोलह और अधिक से अधिक चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य करावें **जिससे सम्पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को पाकर परीक्षा और स्वयंवर विधि से विवाह करें, जिससे सब सुखी रहें।**

विवाह एक धार्मिक संस्कार माना जाता था और उसी के अन्तर्गत मनुष्य को सभी दायित्वों को पूरा करना पड़ता था।

राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में समाजदर्शन, जिन आदर्शों को प्रस्तुत कर रहा है, वह है— **व्यक्ति का नियमबद्ध जीवन**, जहाँ कोई मानसिक अस्वस्थता

---

१. ऋग्वेद १/२२/११
२. ऋग्वेद १/४५/१

होने का भय ही नहीं रहता है। सभी वर्णों और वर्गों को समानता का अधिकार प्राप्त होना, स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार एवं दायित्वों को पूरा करना, सवर्ण एवं सर्व वर्ण विवाह की पद्धति से वर्णों के मध्य भेद होने का प्रश्न वहीं समाप्त हो जाना, प्रजा को शिक्षा द्वारा गुणों को समुचित विकसित होने का अवसर प्राप्त होना आदि तथ्यों की महत्त्वपूर्ण भूमिका ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होती है।

(३) राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में ऋग्वेद के राजदर्शन का अनुशीलन :

राष्ट्र की शासनव्यवस्था का राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि राष्ट्र की शासन प्रणाली ही उसको सुख, शान्ति पूर्ण वातावरण प्रस्तुत कर सकती है और राष्ट्र के विकास एवं सुरक्षा को दृढ़ता प्रदान करने का कार्य भी करती है।

ऋग्वेद काल में शासन का कार्य राजा या सभाध्यक्ष के द्वारा संभाला जाता था। राजा का चयन भी उसके गुणों के अनुसार ही किया जाना चाहिये। राजा के चयन का अधिकार प्रजा के पास था। ऋग्वेद में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

यं त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठं हव्यवाहन।
यं कण्वो मेध्यातिथिर्धनस्पृतं यं वृषा यमुपस्तुतः।।[१]

अर्थात् इस सृष्टि में सब मनुष्यों को चाहिए कि विद्वान् और सर्वश्रेष्ठ, चतुर पुरुष मिलकर के जिस विचारशील ग्रहण योग्य वस्तुओं को प्राप्त कराने वाले, शुभ गुणों से भूषित, विद्या सुवर्णादिधनयुक्त, सभा के योग्य पुरुष को राज्य शासन के लिए नियुक्त करें वही पिता के तुल्य पालन करने वाला जन राजा होने योग्य होता है।

जनसामान्य द्वारा गुणों पर आधारित चुना गया शासक सदैव राष्ट्र के लिये हितकारी ही होता है क्योंकि श्रेष्ठ गुणों से युक्त राजा अपनी प्रजा को सन्तान की तरह मानता है और उनके सुख सुविधा के लिए वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर व्यवस्था करता है।

ऋग्वेद में राष्ट्राध्यक्ष के कार्यकलापों, व्यवहारों एवं नीति संविदाओं को अत्यन्त सावधानीपूर्वक वर्णित किया गया है। जिस प्रकार से सन्तानों के द्वारा पिता श्रद्धा एवं सम्मान योग्य होता है, उसी प्रकार राष्ट्राध्यक्ष का सम्मान और सत्कार राष्ट्रवासियों द्वारा किया जाना चाहिये। यदि पुत्र पिता को श्रद्धा और आदर की दृष्टि

---

१. ऋग्वेद १/३६/१०

से सम्मान प्रदान करता है तो पिता भी अपने बच्चों को स्नेह की दृष्टि से अपार वात्सल्य प्रदान करता है।

त्वाम॑ग्ने प्रथ॒मम॒ायुम॒ायवे॑ दे॒वा अ॑कृण्व॒न्नहु॑षस्य वि॒श्पति॑म्।
इळा॑मकृण्व॒न्मनु॑षस्य॒ शास॑नीं पि॒तुर्यत्पु॒त्रो मम॑कस्य॒ जाय॑ते।।[१]

अर्थात् ईश्वरोक्त व्यवस्था करने वाले वेदशास्त्र और राजनीति के बिना प्रजापालक राजा कभी भी अपने राष्ट्र की प्रजा का पालन नहीं कर सकता है और प्रजा राजा के लिये सन्तान के तुल्य होती है। इसमें सभापति राजा पुत्र के समान प्रजा को शिक्षा अवश्य दे। राजा और प्रजा के बीच का सम्बन्ध तभी मधुर और त्याग की भावना से पूर्ण होता है। राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा के सुख के लिए वह सभी संसाधन जुटाने का प्रयास करें जो कि प्रजा के जीवन को सम्पूर्ण सुख, सुरक्षा एवं शान्तिपूर्ण जीवन देने वाले हों।

इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री।
अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभि॒नत्पर्व॑तानाम्।।[२]

"अर्थात् ईश्वर का उत्पन्न किया हुआ यह अग्निमय सूर्यलोक जैसे अपने स्वाभाविक गुणों से युक्त अन्नादि, प्रकाश, आकर्षण, दाह, छेदन और वर्षा की उत्पत्ति के लिए कामों को दिन-रात सम्पन्न करता है, ठीक उसी प्रकार प्रजा के पालन में तत्पर राजपुरुषों को भी प्रयास करना चाहिये।"

राजसेवकों का कार्य राष्ट्र के निवासियों के हित में सदैव कार्यरत रहना है। वे राष्ट्रहित एवं जनहित के लिए राष्ट्रघाती शत्रुओं के छल-बल को नष्ट करके, उन पर विजय प्राप्त करके, उन्हें अपने राष्ट्र के लिए न्याय, सुख और समृद्धि का संचार करने का प्रयास करते रहना चाहिए। शत्रुरहित राष्ट्र ही समृद्धिपूर्ण एवं ऋद्धि-सिद्धि में पूर्ण हो सकता है।

यदि॒न्द्राह॑न्प्रथम॒जामही॑ना॒मान्मा॒यिना॒ममि॑ना॒ः प्रोत मा॒याः।
आत्सूर्यं॑ ज॒नय॒न्द्यामु॒षासं॑ ता॒दीत्ना॒ शत्रुं॒ न किला॑ विवित्से।।[३]

अर्थात् जैसे कोई राजपुरुष अपने वैरियों के बल और छल का निवारण कर उनको जीत कर अपने राज्य में सुख तथा न्याय का प्रकाश करता है, वैसे ही सूर्य भी

---

१. ऋग्वेद १/३१/११
२. ऋग्वेद १/३२/१
३. ऋग्वेद १/३२/४

मेघ की घटाओं की सघनता और अपने प्रकाश को ढँकने वाले बादलों का निवारण कर, अपनी किरणों को फैलाकर, मेघों को छिन्न-भिन्न और अन्धकार को दूर कर अपनी दीप्ति को प्रसिद्ध करता है।

ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो नि केतुना विश्वं समत्रिणं दह।
कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः।।[१]

अर्थात् अच्छे गुण, कर्म और स्वभाव वाले सभाध्यक्ष राजा का यह कर्तव्य है कि राज्य की रक्षा, नीति और दण्ड के भय से सब मनुष्यों को पाप से हटा सब शत्रुओं को मारकर और विद्वानों की सब प्रकार सेवा करके, प्रजा में ज्ञान, सुख और जीवन बढ़ाने के लिए सब प्राणियों को शुभगुणयुक्त सदा किया करें।

सिर्फ राजा का ही राष्ट्र के प्रति कर्तव्यों का दायित्व नहीं है अपितु प्रजाजनों का भी यह कर्तव्य होता है कि वे राजा के कार्यों में सहयोग करें और राष्ट्र की उन्नति, समृद्धि, सुख, शान्ति के लिए अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करें। शत्रुओं के दमन करने का दायित्व सिर्फ शासन का ही नहीं होता है अपितु प्रजा का भी यह दायित्व है कि राष्ट्र में शत्रुओं का एकजुट होकर सामना करें, उनके बुरे विचारों को कभी सफल न होने दें।

त्वेषासो अग्नेरमवन्तो अर्चयो भीमासो न प्रतीतये।
रक्षस्विनः सदमिद्यातुमावतो विश्वं समत्रिणं दह।।[२]

अर्थात् 'सभाध्यक्ष आदि राजपुरुषों और प्रजा के मनुष्यों को चाहिए कि जिस प्रकार अग्नि आदि पदार्थ वनों को भस्म कर देते हैं उसी प्रकार कष्ट देने वाले शत्रुओं का भी विनाश करने के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये। इससे सदैव ही प्रजा की रक्षा होती है।'

इस मंत्र के द्वारा यह भी प्रदर्शित किया गया है कि राष्ट्र की रक्षा का दायित्व सिर्फ राजपुरुषों, राजा पर ही नहीं होता है, अपितु स्वयं प्रजा को राष्ट्र रक्षा, शत्रुओं से आत्म रक्षा के प्रति सजग रहना चाहिये। सभी के हित के लिए सदैव ही सबको प्रयत्नशील होना चाहिये। जिस तरह राष्ट्र का निर्माण सभी प्रजाजनों से होता है उसी प्रकार उसकी रक्षा के लिए भी सभी को प्रयत्नशील होना चाहिये। राष्ट्र की संगठन शक्ति के समक्ष बड़े से बड़ा शत्रु भी अपनी पराजय स्वीकार कर लेता है। शत्रु रहित राष्ट्र ही अखण्ड बना रह सकता है।

---

१. ऋग्वेद १/३६/१४
२. ऋग्वेद १/३६/२०

ऋग्वेद में निम्नलिखित मंत्र में 'स्वराज' पद का प्रयोग हुआ है—

तं घेमित्था नमस्विन उप स्वराजमासते।
होत्राभिरग्निं मनुषः समिन्धते तितिर्वांसो अति स्त्रिधः।।[१]

इस मंत्र में प्रयुक्त 'स्वराज' पद विशिष्ट अर्थ का द्योतक है। देश में स्वराज अर्थात् अपना राजा होना चाहिये। इसका अभिप्राय है कि राष्ट्र का शासक किसी दूसरे राष्ट्र का नहीं होना चाहिये। अपने देश का गुणी, उत्साही एवं कर्मठ व्यक्तित्व को राजा के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहिये जो कि राज्य की सम्यक् व्यवस्था करें। दूसरे राष्ट्र के व्यक्ति के राजा बन जाने से वह हृदय से कभी भी राष्ट्र का हित नहीं कर सकता है। अतः अपने राष्ट्र में (स्वराज्य में) सम्यक् विकास होना अनिवार्य है। अपनी मातृभूमि से जुड़े राजा को जो सम्मान प्रजा द्वारा होता है, वह बाह्य राष्ट्र के निवासी राजा को प्राप्त नहीं हो सकता है। श्रेष्ठ गुणों से युक्त तेजस्वी एवं प्रतापी राजा, सभासद एवं राजसेवक ही राष्ट्र का कल्याण कर सकते हैं।'

मन्द्रो होता गृहपतिरग्ने दूतो विशामसि।
त्वे विश्वा संगतानि व्रता ध्रुवा यानि देवा अकृण्वत।।[२]

अर्थात् जो प्रशस्त राजा, दूत और सभासद् होते हैं, वे ही राज्य का पालन कर सकते हैं। उनसे विपरीत मनुष्य नहीं कर सकते हैं।

इसके पश्चात् राष्ट्राध्यक्ष के प्रमुख कर्तव्यों को भी इंगित किया गया है। राष्ट्राध्यक्ष एवं राजपुरुषों को चाहिए के वे राष्ट्र में इस प्रकार की व्यवस्था करें जिससे वहाँ के विद्वान् और वैज्ञानिक आध्यात्मिक और आधिभौतिक विषयों पर सम्यक् अनुसंधान कर राष्ट्र के हित साधन में लग सकें। राष्ट्र में विद्वानों का उचित सम्मान हो तथा सदैव राष्ट्रीय संसाधन विकसित किये जा सकें। इसके निमित्त समय-समय पर राष्ट्राध्यक्ष राष्ट्र की रक्षा एवं दण्ड नीति के निर्धारण के लिए विद्वानों के साथ मंत्रणा करें और निष्कर्ष के रूप में राष्ट्रीय नीति का निर्धारण करें।

ऋग्वेद में प्रजाजनों के लिए निर्देश है कि वे राष्ट्राध्यक्ष की आज्ञा का पालन करें क्योंकि राष्ट्राध्यक्ष की आज्ञा के पालन के बिना राष्ट्र में सम्पूर्ण उत्कर्ष संभव नहीं। राज्यसभा का गठन इस प्रकार का होना चाहिये कि वह सदैव ही प्रजा के हित में कार्य कर सके।

---

१. ऋग्वेद १/३६/७
२. ऋग्वेद १/३६/५

यथा॑ नो॒ अदि॑ति॒: कर॒त्पश्वे॒ नृभ्यो॒ यथा॒ गवे॑। यथा॑ तो॒काय॑ रु॒द्रिय॑म्।।[१]

अर्थात् जैसे माता-पिता अपने पुत्र के लिए, ग्वाले अपने पशुओं के लिए और राजसभा प्रजा के लिए सुखकारी होते हैं, उनके हितार्थ ही सोचते हैं और प्रयत्न करते हैं, वैसे ही मानव सुख के लिए करने और कराने वाले परमेश्वर और पवन भी हैं। विद्या और पुरुषार्थ के बिना सुख सम्भव ही नहीं है।

ऋग्वेद में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रजा को राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता की रक्षा के लिए सूर्य के समान तेजस्वी, प्रजापालन हेतु तत्पर, शत्रु विनाशक एवं परम ऐश्वर्ययुक्त व्यक्ति को ही सभाध्यक्ष बनाना चाहिये। जो प्रजा की रक्षा न कर सके, उसे कदापि राष्ट्राध्यक्ष नहीं बनना चाहिये।

स हि द्व॒रो द्व॒रिषु॑ व॒व्र ऊध॑नि च॒न्द्रबु॑ध्नो॒ मद॑वृद्धो मनी॒षिभि॑:।
इन्द्रं॒ तम॑ह्वे स्वप॒स्यया॑ धि॒या मंहि॑ष्ठराति॒ं स हि पप्रि॒रन्ध॑स:।।[२]

अर्थात् **'मनुष्यों को चाहिये कि जो मेघ के तुल्य प्रजापालक और सूर्यवत् सुखों की वर्षा करता है उस परमेश्वर्य युक्त पुरुष को ही राष्ट्राध्यक्ष का अधिकार प्रदान किया जाये तभी राष्ट्र व राष्ट्रवासियों का हित संभव है।'**

राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में ऊपर दिये गये विवरण के अनुसार ऋग्वेद में पूर्ण रूप से इसका वर्णन विद्यमान है। अन्त में ऋग्वेद का निम्न मंत्र इस बात का द्योतक है कि वर्तमान लोकतंत्र का पूर्ण भाव उस समय के शासन में भी विद्यमान था।

उप॑ ते॒ स्तोमा॑न्पशु॒पा इ॒वाक॑रं॒ रास्वा॑ पितर्मरुतां सु॒म्नम॒स्मे।
भ॒द्रा हि ते॑ सुम॒तिर्मृ॑ळयत्त॒माथा॑ व॒यमव॒ इत्ते॑ वृणीमहे।।[३]

अर्थात् प्रजापुरुष राजपुरुषों से राजनीति और राजपुरुष प्रजापुरुषों से प्रजा व्यवहार को जानने योग्य को जानकर सनातन धर्म का पालन करें।

४. राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में ऋग्वेद के धर्म दर्शन का अनुशीलन :

धर्म का स्थान राजनीति से सदैव ही जुड़ा रहता है। आचार संहिता का निर्माण

---

१. ऋग्वेद १/५३/२
२. ऋग्वेद १/५२/३
३. ऋग्वेद १/११४/९

धर्म के आधार पर ही होता है। **धर्मरहित राजनीति का कोई अर्थ नहीं होता है।** ऋग्वेद में राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में धर्म दर्शन का वर्णन प्राप्त होता है। **धर्म से जब मानव जीवन संचालित होता है तो जीवन का कोई भी क्षेत्र चाहे वह पारिवारिक जीवन हो, राजनीतिक या सामाजिक हो, धार्मिक पृष्ठभूमि या नौतिक पृष्ठभूमि से अलग हो ही नहीं सकता है।**

एतेनाग्ने ब्रह्मणा वावृधस्व शक्ती वा यत्ते चकृमा विदा वा।
उत प्र णेष्यभि वस्यो अस्मान्त्सं नः सृज सुमत्या वाजवत्या।।[१]

अर्थात् 'जो मनुष्य वेद की रीति से **धर्मयुक्त** व्यवहार करते हैं वे ज्ञानवान् और श्रेष्ठमति वाले होकर जिस उत्तम विद्वान् की सेवा करते हैं, वह उनको श्रेष्ठ सामर्थ्य और उत्तम विद्या संयुक्त करता है।'

जो धर्मपूर्ण व्यवहार करते है उनकी विचाराधारा, क्रियाकलाप सभी धर्मपूर्ण होते हैं। इससे समाज, राज्य और स्वयं व्यक्ति का बहुमुखी विकास होता है। व्यक्ति श्रेष्ठता को प्राप्त होता है। अतः सदैव ही उसे धर्मानुकरण ही करना चाहिये।

त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन्नघायतः। न रिष्येत्त्वावतः सखा।।[२]

अर्थात् मनुष्यों को इस प्रकार ईश्वर की प्रार्थना करके उत्तम यत्न करना चाहिये कि जिससे धर्म के छोड़ने और अधर्म के ग्रहण करने की इच्छा मन में जागृत ही न हो सके। धर्म और अधर्म की प्रवृत्ति में मन की इच्छा ही कारण है, उसकी प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने के लिए मनुष्य को आत्मनियंत्रण की आवश्यकता होती है, जिससे धर्म के त्याग एवं अधर्म के ग्रहण की सम्भावना ही न रहे।

मानव मन चंचल होता है और उसको अपने मत पर धर्माचरण द्वारा ही नियंत्रण रखना होता है। सद्संगति और सद्विचारों से ही उसकी विचारधारा धर्मपूर्ण रहती है जो कि स्वयं उसके लिए और राष्ट्र के लिए उत्तम होती है।

तत्ते भद्रं यत्समिद्धः स्वे दमे सोमाहुतो जरसे मृळयत्तमः।
दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुषेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव।।[३]

अर्थात् 'मनुष्यों को चाहिए कि अपने आचरण एवं विचारों को धर्मपूर्ण बनाये रखने के लिए वेद प्रमाण और सृष्टिक्रम के प्रमाण तथा सद्पुरुषों, ईश्वर और विद्वान्

---

१. ऋग्वेद १/३१/१८
२. ऋग्वेद १/९१/८
३. ऋग्वेद १/९४/१४

के काम और स्वभाव को मन में धारण करके सब प्राणियों के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करके सदा धर्म की उन्नति में अपना सहयोग प्रदान करना चाहिए।'

मानव को स्वयं धर्म का आचरण करना चाहिये और दूसरे लोगों को भी इस कार्य के लिये प्रेरित करना चाहिये, ताकि उस समाज का वातावरण धर्ममय हो। **धर्म से पृथक् कुछ सोचा ही नहीं जा सकता है। इससे पृथक् कुछ होना भी नहीं चाहिए क्योंकि जीवन का आरम्भ ही धर्ममय वातावरण से होता है।**

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥[१]

अर्थात् **''मनुष्यों का यह कर्तव्य है** कि वे पाप की छाया से भी दूर रहें और **धर्म का आचरण करते हुए परमपिता परमेश्वर की उपासना करें और उसी के अनुरूप जीवन व्यतीत करते हुए अपने पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की परिपूर्ण सिद्धि करें।''**

वि यदस्थाद्यजतो वातचोदितो ह्वारो न वक्वा जरणा अनाकृतः।
तस्य पत्मन्दक्षुषः कृष्णजंहसः शुचिजन्मनो रज आ व्यध्वनः॥[२]

अर्थात् धर्म जीवन की वह धुरी है जिस पर परिक्रमा करता हुआ मानव जीवन इस तरह प्रसिद्ध एवं यज्ञपूर्ण होता है **जैसे कि सूर्य का यश सम्पूर्ण पृथ्वी को आलोकित करता है। उसी प्रकार व्यक्ति की कीर्ति चारों दिशाओं में फैलती रहती है।**

अस्ताव्यग्निः शिमीवद्भिरर्कैः साम्राज्याय प्रतरं दधानः।
अमी च ये मघवानो वयं च मिहं न सूरो अति निष्टतन्युः॥[३]

अर्थात् जो मनुष्य धार्मिक विद्वानों से अच्छी शिक्षा को पाये हुए धर्म से राज्य का विस्तार करते हुए प्रयत्न करते हैं वे ही राज्य, विद्या और धर्म के उपदेशों का अच्छी प्रकार स्थापन करने के योग्य होते हैं।

धर्म के मार्ग पर चलने वाले मनुष्य सदैव धर्म का प्रचार ही करते हैं और धर्म का विकास मानवीय प्रयासों का ही परिणाम होता है। जिस प्रकार अधर्म को छोड़कर धर्म अपनाकर ईश्वरीय अनुष्ठान करने से ईश्वर की प्राप्ति होती है उसी प्रकार उन्हें अपने जीवन में अतिरमणीय आनन्द की प्राप्ति होती है।

---

१. ऋग्वेद १/११५/६
२. ऋग्वेद १/१४१/७
३. ऋग्वेद १/१४१/१३

एष वः स्तोमो मरुत इयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्।।[१]

अर्थात् जो आप्त, शास्त्रज्ञ, धर्मात्मा विद्वान् पुरुषों की उत्तेजना से विद्या और शिक्षा को प्राप्त होकर धर्मयुक्त व्यवहार का आचरण करते हैं, उनके जन्म की सफलता है यह जानना चाहिये।

इस तरह मानव जीवन की सफलता का श्रेय सदैव ही धर्म एवं विवेकपूर्ण आचरण को दिया गया है।

यस्यावधीत्पितरं यस्य मातरं यस्य शक्रो भ्रातरं नात ईषते।
वेतीद्वस्य प्रयता यतंकरो न किल्बिषादीषते वस्व आकरः।।[२]

अर्थात् "माता, पिता और भ्रातृ आदि का पालन करें तथा उनके पुत्र आदि को चाहिए कि वे निरन्तर सत्कार करें और पापाचरण का त्याग करके धर्म का पालन करते हुए इस प्रकार का आचरण करें कि वे सभी काल में सुखी होवें।"

व्यक्ति अपने जीवन में धर्माचार्यों से धर्म की शिक्षा, वेद-शिक्षा, शास्त्रों की शिक्षा ग्रहण करते हुए धर्म की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करता है और उसका अनुकरण करते हुए अभीष्ट को प्राप्त करता है। **इस अभीष्ट की प्राप्ति में ही मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन सफल होता है।**

ते हि सत्या ऋतस्पृश ऋतावानो जनेजने।
सुनीथासः सुदानवोऽहोश्चिदुरुचक्रयः।।[३]

अर्थात् "जो स्वयं धर्मयुक्त, गुण, कर्म और स्वभाव वाले होते हैं, दुष्ट आचरण से पृथक् व्यवहार करके अन्य मनुष्यों को तादृश अर्थात् अपने समान मानते हैं, वे धन्यवाद के योग्य हैं।"

इस प्रकार यह स्पष्ट दृष्टिगोचर है कि ऋग्वेद में दी गई शिक्षा से यह प्राप्त होता है कि धर्मानुरूप आचरण, शिक्षा एवं ज्ञान के द्वारा इस तरह का वातावरण प्रस्तुत होता है कि राष्ट्र एक आदर्श राज्य बन जाता है और वह अपनी राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के प्रति ही निष्ठावान् नहीं रहता है अपितु वह दूसरे राष्ट्रों के लिए भी अपने

---

१. ऋग्वेद १/१६५/१५
२. ऋग्वेद ५/३४/४
३. ऋग्वेद ५/६७/४

मन में सम्मान की भावना रखता है—

आ यद्वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये।।[१]

अर्थात् मनुष्यों को चाहिए कि वह मित्रता करके सभी राज्यों के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार रखें तथा अपने और दूसरे राज्य के न्याय की रक्षा करते हुए धर्म की उन्नति करें।

५. राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में ऋग्वेद के आचारदर्शन, शिक्षा दर्शन एवं अर्थदर्शन का अनुशीलन :

राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में ऋग्वेद में जो आचारदर्शन प्रस्तुत किया गया है उससे एक अच्छी समष्टि प्रस्तुत करने के लिए आचार संहिता प्रस्तुत की गई है। **अच्छे संस्कारों से ही व्यक्ति का अच्छा व्यक्तित्व बनता है और सद्चरित्र एवं सुंसस्कारों वाले नागरिकों से ही राष्ट्र का अखण्ड स्वरूप बनता है।**

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः। स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि।।[२]

अर्थात् "जब समाज में सभी व्यक्ति विरोध को छोड़कर दूसरों पर उपकार करने का प्रयत्न करते हैं तब शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, जिससे सब मनुष्यों को ईश्वर की कृपा से निरन्तर उत्तम आनन्द प्राप्त होता है।"

मानव मात्र के साथ बंधुत्व की भावना का विकास करके जब सबके साथ प्रेम, सहयोग और अपनत्व की भावना से पूर्ण होकर जीवन व्यतीत करते हैं तब एक सुगठित समाज और राष्ट्र का निर्माण होता है। इसके मध्य निजी हित कभी नहीं आता है। **किसी के प्रति द्वेष की भावना रखना भी धर्म और आचार की दृष्टि से गलत है:-**

मा नो मर्ता अभि द्रुहन् तनूनामिन्द्र गिर्वणः। ईशानो यवया वधम्।।[३]

अर्थात् कोई भी मनुष्य अन्यायपूर्ण ढंग से किसी का अहित करने की कभी न सोचे क्योंकि अन्याय का समर्थन न तो धर्म करता है और न ही आचार संहिता। इससे अच्छा यह है कि व्यक्ति परस्पर सबके साथ मित्र भाव बनाये रखें, क्योंकि बिना अपराध के ईश्वर भी किसी का तिरस्कार नहीं करता है। ठीक उसी प्रकार

१. ऋग्वेद ५/६६/६
२. ऋग्वेद १/४/६
३. ऋग्वेद १/५/१०

मानव को भी आपस में सभी के साथ न्यायसंगत व्यवहार करना चाहिये।

जो व्यक्ति विद्या-सम्पादन आदि कार्यों में संलग्न होते हैं वे सदा दूसरों को ज्ञान या विद्या प्रदान करने का कार्य करते हैं और उनके प्रयत्न सदा दूसरों का हित करने का ही होता है। **ईश्वर ऐसे मनुष्यों को सदैव आशीर्वाद देता है जो मनुष्य विद्वान् होकर सबके प्रति परोपकार की भावना से हित पहुँचाने का प्रयास करते हैं और दूसरों को सुखी देखकर ही वे स्वयं अपने आपको सुखी अनुभव करते हैं।**

युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम्। भूयाम वाजदाव्नाम्।।[१]

अर्थात् मनुष्यों को सदा आलस्य छोड़कर अच्छे कामों का सेवन तथा विद्वानों का समागम नित्य करना चाहिये, जिससे अविद्या और दरिद्रता जड़ मूल से नष्ट हों।

नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः।
यजाम देवान्यदि शन्कवाम मा ज्यायसः शंसमा वृक्षि देवाः।।[२]

अर्थात् "ईश्वर का यह उपदेश है कि मनुष्यों को चाहिये कि अभिशाप छोड़कर अन्नादि से सब उत्तम जनों का सत्कार करें अर्थात् जितना पदार्थ आदि उत्तम बातों से अपना सामर्थ्य हो उतना उनका संग करके विद्या प्राप्त करें किन्तु उनकी कभी निन्दा न करें।"

परनिन्दा मानव के लिये शोभा नहीं देता है, यह सब आचार संगत नहीं है। सम्पूर्ण गुणों से युक्त व्यक्ति ही सर्वश्रेष्ठ मानव समझा जाता है।

विद्वांसाविदुरः पृच्छेदविद्वानित्थापरो अचेताः। नू चिन्नु मर्ते अक्रौ।।[३]

अर्थात् "विद्वान् व्यक्तियों द्वारा दिये गये परामर्श के अनुसार ही दूसरों के साथ व्यवहार करें। सदैव विद्वानों को पूछकर सत्य और असत्य का निर्णय कर आचरण करें और झूँठ का सदैव ही त्याग करें। इस बात में किसी को कभी आलस्य नहीं करना चाहिये क्योंकि बिना पूछे कोई नहीं जानता है, इससे किसी को मूर्खों के उपदेश पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये।"

बळित्था तद्वपुषे धायि दर्शतं देवस्य भर्गः सहसो यतो जनि।
यदीमुप ह्वरते साधते मतिर्ऋतस्य धेना अनयन्त सस्रुतः।।[१]

---

१. ऋग्वेद १/१७/४
२. ऋग्वेद १/२७/१३
३. ऋग्वेद १/१२०/२

अर्थात् हे मनुष्यों! जिस उत्तम बुद्धि और सत्य आचरण से विद्यावानों का देखने योग्य स्वरूप धारण किया जाता है और उनका कार्य भी सिद्ध किया जाता है, उस वाणी और उस सत्य आचार को तुम नित्य स्वीकार करों।

शिक्षा दर्शन :- ऋग्वेद में शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को वास्तविक अर्थ में शिक्षित करके ज्ञान प्रदान करना है। जन्म के पश्चात् वह शिक्षा ग्रहण करने का अधिकारी हो जाता है। विद्या ग्रहण करने के लिए विद्यार्थी का ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य बतलाया गया है। क्योंकि वेद शास्त्रों का ज्ञान आज जैसी पुस्तकें रटने और परीक्षा पास कर लेने मात्र का नाम नहीं था। इस शिक्षा का अर्थ उसे ग्रहण करके उसको अपने जीवन में ही लागू करना होता था।

सं नु वोचावहै पुनर्यतो मे मध्वाभृतम्। होतेव क्षदसे प्रियम्।।[२]

अर्थात् जैसे यज्ञ करने वाले एवं कराने वाले प्रीति के साथ मिलकर यज्ञ को सिद्ध कर पूर्ण करते हैं वैसे ही गुरु-शिष्य मिलकर सब विद्याओं का प्रकाश करें। सब मनुष्यों को इस बात की इच्छा निरन्तर रखनी चाहिए कि जिससे हमारी विद्या की वृद्धि प्रतिदिन होती रहे।

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।।[३]

अर्थात् हे पढ़ाने वाले विद्वानों! शिक्षकों! तुम और हम मिलकर ऐसा यत्न करें कि जिससे सृष्टि के पदार्थों से समग्र आनन्द के लिये विद्या से उपकारों को ग्रहण कर सकें।

मनुष्यों का सदैव यह प्रयास होना चाहिये कि वे अच्छी वैज्ञानिक पद्धति से शिक्षा ग्रहण करके देश व राष्ट्र की उन्नति के लिये अत्याधुनिक विमानों और अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करने में सफलता प्राप्त करें जिससे कि शत्रुओं का सामना कुशलतापूर्वक किया जा सके।

एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तोऽभि ष्याम वृजने सर्ववीराः।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः।।१९।।[४]

अर्थात् "मनुष्यों को चाहिए कि जिसके पढ़ाने से विद्या और अच्छी शिक्षा बढ़ें,

---

१. ऋग्वेद १/१४१/१
२. ऋग्वेद १/२५/१७
३. ऋग्वेद १/९०/६
४. ऋग्वेद १/१०५/१९

उसके संग से समस्त विद्याओं का सर्वथा निश्चय करें। वे विद्यायें अधिक उचित होती है जिनसे कि व्यक्ति के आन्तरिक गुणों का विकास हो सके और वह गुणवान् होकर स्वयं भी वैसी ही शिक्षा प्रदान करने में समर्थ हो सके।''

विद्या देने वालों के लिए भी ऋग्वेद में निर्देश दिया गया है कि शिक्षा का स्वरूप एवं उद्देश्य क्या हो? किस प्रकार की शिक्षा सर्वजनहिताय सिद्ध हो सकती है, उस बारे में ऋग्वेद में कहा गया है कि अध्यापकों और उपदेष्टाओं के लिए यह योग्य है कि विद्या और धर्म के उपदेश से सब जनों को विद्वान् धार्मिक करके पुरुषार्थयुक्त निरन्तर किया करें।[१]

ऋग्वेद में स्त्री-शिक्षा के प्रति भी पूर्ण ध्यान दिया गया है। उस समय स्त्री एवं पुरुष में कोई भेद नहीं किया गया था, अतः कुमारी कन्याओं की शिक्षा के लिए निर्देश है कि वे विदुषियों से शिक्षा ग्रहण करें और वे सभी कुमारी ब्रह्मचारिणी विदुषियों से प्रार्थना करें कि आप हम सबको विद्या और सुशिक्षा से युक्त करें।[२]

पुरुष विद्वानों को यदि ब्रह्मचारी कुमारों को शिक्षा प्रदान करनी चाहिये तो विदुषी स्त्रियों को ब्रह्मचारिणी कुमारियों को शिक्षा प्रदान करनी चाहिये। उन्हें अच्छी प्रकार शिक्षा प्रदान करनी चाहिये। सूर्य और भूमि जिस प्रकार सबको उन्नति देते हैं, उसी प्रकार विद्वानों को शिक्षार्थियों को ज्ञान प्रदान करना चाहिये।[३]

इस प्रकार शिक्षा से ही राष्ट्र का विकास होता है, उनमें ज्ञान आता है और राष्ट्र की महत्ता का उन्हें ज्ञान होता है। राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों का भान होता है।

अर्थदर्शन :- वैदिक युग में आर्थिक व्यवस्था अत्यन्त सुविकसित प्रतीत होती है। किसी भी देश की अर्थव्यवस्था को सुचारु गति देने के लिए उस देश की कृषि और खनिज सम्पदा का विशेष महत्त्व होता है। आर्थिक दृष्टि से अर्थ का सबसे बड़ा स्रोत पृथिवी ही होती है। इसी पृथिवी के गर्भ से फसलें पैदा होती हैं, इसके गर्भ में खनिजों की खानें सुप्त होती हैं। जल के स्रोत भी पृथिवी के गर्भ में ही रहते हैं और यह सब मानव जीवन के आधार होते हैं। यदि पृथ्वी को माँ कहा जाता है तो इसी दृष्टि से वह मातृभूमि होती है। अपनी सभी सन्तानों के लिए अन्न, फल-फूल आदि देने वाली वही होती है।

ऋग्वेद में कृषि-कर्म और उसके उपकृत्यों का कई स्थानों पर वर्णन प्राप्त होता

१. ऋग्वेद १/११२/१६
२. ऋग्वेद २/४१/१६
३. ऋग्वेद २/४१/१७-२०

है। वर्षा कृषि का आधार है जिसका अधिष्ठाता देवता इन्द्र है और उनकी स्तुति ऋग्वेद में सर्वाधिक की गई है। ऋग्वेद के अनुसार[1] आश्विन युग्म ने मनु को बीज बोने की कला सिखाई तथा आर्यों को हल की सहायता से कृषि-कर्म सिखलाया। पशुपालन के बारे में ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है।

व्यापार के बारे में भी ऋग्वेद में उल्लेख प्राप्त होता है–

याभिः सुदानू औशिजाय वणिजे दीर्घश्रवसे मधु कोशो अक्षरत्।
कक्षीवन्तं स्तोतारं याभिरावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥[2]

अर्थात् ''राजपुरुषों से योग्य है कि जो द्वीप द्वीपान्तर और देश देशान्तर में व्यापार करने के लिये आवे-जावें, उनकी रक्षा का प्रयत्न करें।''

इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मधुर सम्बन्ध बनाने का एक साधन व्यापार भी था और इसके अर्थ आगमन के साथ-साथ सम्बन्धों की मधुरता में भी वृद्धि होती थी।

७. राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता को ऋग्वेद का प्रदेय :

सम्पूर्ण ऋग्वेद में मानव, शिक्षा, राष्ट्र, राष्ट्राध्यक्ष एवं प्रजा सभी को पृथक्-पृथक् मंत्रों के द्वारा निर्देश प्रदान किये गये हैं। आज राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता ऐसा विषय बना हुआ है कि यह सबसे विचारणीय-विषय और समस्या दोनों ही कहा जा सकता है। इसका समाधान यदि वैदिक वाङ्मय में खोजा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि इस समस्या से जो आज अनुभव किया जा रहा है, **उसमें एकता एवं अखण्डता के बारे में पृष्ठभूमि पहले से ही सुनिश्चित की जा चुकी है। यदि आज भी उस पर दृष्टिपात करें तो वे हमें एकता के सूत्र को और मजबूत करने का अवसर प्रदान करते हैं।**

आदर्श रूप में मातृभूमि या स्वतंत्र राष्ट्र के विकास के लिए सात गुणों को बतलाकर उस मंत्र में एक अत्युपयोगी शिक्षा का समावेश किया गया है। प्रत्येक समाज, राष्ट्र या देश में कुछ न कुछ ऊँच-नीच के भाव रहते हैं। यह सहज अनुभव से आता है कि प्रत्येक परिवार के कुछ सदस्य आयु, शारीरिक बल, विद्या और बुद्धि में एक दूसरे से न्यूनाधिक हो सकते हैं। पुनः जब राष्ट्र बहुत बड़ा होता है तो इस प्रकार के भेद दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है।

आदर्श रूप में उनके मध्य में इस प्रकार का ऐक्य होना चाहिये जिससे उनमें

---

१. ऋग्वेद १/११२/१६
२. ऋग्वेद १/११२/११

किसी प्रकार का वैर न हो और मातृभूमि की प्रगति में सब समान रूप से भाग ले सकें। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए बताया गया है–

यस्याः मानवानां मध्यतः बहु असम्बाधम्।

जिस राष्ट्र या मातृभूमि के विभिन्न सम्प्रदायों में सहज भेद होते हुए निर्वैरभाव एवं सामूहिक उन्नति में परस्पर सौहार्द, सद्भावना एवं सहयोग करने की भावना होती है वही यथार्थ रूप में एकता और अखण्डता को कायम रख सकता है।

राष्ट्र की प्रतिष्ठा अविचल रखने के लिए आवश्यक है कि शत्रु का विनाश किया जावे। जिस प्रकार सूर्य को मेघ के हनन में कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है अपितु सहज रूप से ही उसका हनन हो जाता है। राष्ट्रप्रेमियों को इस प्रकार की सुव्यवस्था हो कि शत्रुओं का बिना किसी विशेष चेष्टा के ही नाश हो जावें। कभी-कभी राष्ट्र की महिमा और गरिमा का विस्तार करने के लिये प्रयास करना पड़ता है।

निरिन्द्र भूम्या अधि वृत्रं जघन्थ निर्दिवः।
सृजा मरुत्वतीरव जीवधन्या इमा अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्।।[१]

अर्थात् जो राज्य करने की इच्छा करे वह विद्या, धर्म और विशेष नीति का प्रचार करके **स्वयं धर्मात्मा होकर पूरे राष्ट्र के पिता के समान व्यवहार करे।**

इन्द्रो वृत्रस्य दोधतः सानुं वज्रेण हीळितः।
अभिक्रम्याव जिघ्नतेऽपः सर्माय चोदयन्नर्चन्ननु स्वराज्यम्।।[२]

अर्थात् **'राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता के रक्षक शूरवीर, पराक्रमी अधिकारियों का परम कर्तव्य है कि वे राष्ट्र को शत्रुओं से सर्वथा मुक्त रखें।** शत्रुओं के नाश का कार्य सहज गति से होना चाहिये। राष्ट्र के शासन व्यवस्था आदर्श होनी चाहिये ताकि शत्रु यदि उत्पन्न हो तो स्वतः ही नष्ट हो जावें। इसके लिये राज्याधिकारियों को समुचित व्यवस्था करनी चाहियें।'

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्र की सुव्यवस्था का पूर्ण वर्णन करते हुए उसकी एकता और अखण्डता के लिये ऋग्वेद में विभिन्न मंत्रों और सूक्तों में न्याय प्रणाली, चुनाव पद्धति, समस्त शत्रुओं से मातृभूमि की रक्षा एवं सूर्य के आदर्श आदि का अध्ययन किया गया है। **इसके लिये यदि ऋग्वेद में वर्णित आदेशों का पालन किया जाय तो हम अपनी वर्तमान समस्या से मुक्त हो सकते हैं।**

---

१. ऋग्वेद १/८०/४
२. ऋग्वेद १/८०/५

चतुर्थ अध्याय

यजुर्वेद में राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता का अनुशीलन

१. यजुर्वेद में प्रतिबिम्बित राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता का आधारतत्त्व :

राष्ट्र का अस्तित्व पृथ्वी पर सदैव ही विद्यमान रहा है। राष्ट्र के बारे में वैदिककालीन साहित्य में प्रमाण उपलब्ध हैं और मात्र प्रमाण ही नहीं अपितु उसका विस्तृत विवरण भी प्राप्त होता है।

''राष्ट्रे जागृयाम् वयम्''

अर्थात् **हम राष्ट्र में जागें।** इसका आशय यही हो सकता है कि राष्ट्र की एकता और अखण्डता के प्रति सजगता का भाव मानवमात्र में सदैव से ही रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपने राष्ट्र के प्रति कर्तव्य बोध से परिचित होता था और वेदों में उसको अपने राजा के चयन में गुणों की परीक्षा करने का अधिकार भी प्रदान किया गया है। उस समय मात्र राजा में ही गुणों की अपेक्षा नहीं की गई थी अपितु नागरिकों के भी राष्ट्र के प्रति दायित्व निश्चित किये गये थे। **राष्ट्र की रक्षा का दायित्व मात्र राजा का ही नहीं होता है अपितु उसके लिये प्रजाजनों के प्रयास भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं–**

मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्।[१]

अर्थात् **राष्ट्र या जनसमूह तुमसे गिरे नहीं।** इस राष्ट्र के न गिरने का अभिप्राय इसकी एकता और अखण्डता से ही है। जब राष्ट्र का दायित्व राजा को सौंपा जाता है तो यही विचार किया जाता है कि राजा प्रजा को पुत्रवत् मानकर उसका लालन-पालन कर उसे समृद्धशाली एवं दृढ़ बनायेगा। उसमें वैमनस्य या वैचारिक कटुता आने का कोई अवसर प्रदान नहीं करेगा। तभी राष्ट्र एक सूत्र में आबद्ध होकर अपने अस्तित्व की रक्षा करेगा।

राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता का दृढ़ सूत्र है– राष्ट्र में परस्पर प्रेम एवं सद्भाव। इसके लिये यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में इस प्रकार का उल्लेख है–

पाहियज्ञं पाहि यज्ञपतिं विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाह्यभि सवनानि पाहि।।[२]

---

१. वा०स० १२/११

२. यजुर्वेद अध्याय ७ मन्त्र २०

इसका अभिप्राय है "**राजा एवं विद्वानों को योग्य है कि वे राज्य की निरन्तर उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहें।** वे आदेश और विद्या के प्रचार द्वारा ही प्रजा को अभिभूत कर सकते हैं। राजा, प्रजा और उत्तम विद्वानों की परस्पर प्रीति से ही ऐश्वर्य की उन्नति और आनन्द में वृद्धि होना संभव है।"

राष्ट्र में जब पर्याप्त उन्नति के साधन विद्यमान होंगे और सभी को उसमें संलग्न रहने का अवसर प्राप्त होगा तो वे स्वयं ही अपने परिवार एवं राष्ट्र के निर्माण के प्रति सजग रहेंगे तथा आपसी मेल-जोल एवं प्रेम ही इस बात का प्रतीक है कि राष्ट्र में एकता की भावना दृढ़ रूप से विद्यमान है। वे आपस में मिल-जुल कर रहेंगे तो राष्ट्र में खुशहाली तथा उन्नति के द्वार सदैव ही खुलें रहेंगे।

सजूरब्दो अयवोभिः सजूरुषा अरुणीभिः।
सजोषसावश्विना दꣳसोभिः सजूः सूर एतशेन सजूर्वैश्वानर इडया घृतेन स्वाहा।।[१]

अर्थात् मनुष्यों में जितनी परस्पर मित्रता हो उतना ही सुख और जितना विरोध उतना ही दुःख होता है। इसीलिए सभी लोग (स्त्री-पुरुष) परस्पर उपकार ही सदा वरतें।

किसी भी राष्ट्र की एकता एवम् अखण्डता के लिए उस राष्ट्र के निवासियों के मध्य परस्पर परोपकार, सहयोग एवं प्रेम की भावना की विद्यमानता अत्यन्त आवश्यक है। इनकी उपस्थिति से ही राष्ट्र की सुख-समृद्धि में वृद्धि होती है। एक सुखी और समृद्ध व्यक्ति राष्ट्र की एकता पर प्रहार करने का प्रयास नहीं कर सकता है। सब आपस में मिलकर उसका सामना करने में पूर्ण सक्षम होते हैं। **जहाँ लोगों में एकता की भावना रहती है, वहाँ पर राष्ट्र में भी एकता होती है।**

गायत्री त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्पङ्क्त्या सह।
बृहत्युष्णिहा ककुप्सूचीभिः शम्यन्तु त्वा।।[२]

इस मंत्र के भावानुसार **जो विद्वान् गायत्री आदि छन्दों के अर्थ को बताने से मनुष्यों को विद्वान् करते हैं, वे सुई से फटे वस्त्र को सीते हैं,** वे अलग-अलग मत वालों को सत्य में मिलाप कर देते हैं और उनको एक मत में स्थापित करते हैं, वे जगत् का कल्याण करने वाले होते हैं।

---

१. यजुर्वेद अध्याय १२ मन्त्र ७३
२. यजुर्वेद २३/३३

सम्पूर्ण राष्ट्र में विभिन्न बातों का एक मत होना अनिवार्य होता है, मतैक्य से भावात्मक एकता में वृद्धि होती है। इसीलिए बुद्धिजीवियों, शिक्षक वर्ग एवं राजनेताओं का यह प्रयास होना चाहिए कि सम्पूर्ण देश में निजी स्वार्थों को त्याग कर **यदि मानव के मन में किसी तरह का भेद हो तो भी उन्हें मिलाने का प्रयत्न करना चाहिये। उन्हें इस तरह की शिक्षा दी जानी चाहिये कि अनेकता में एकता का भाव उत्पन्न कर सकें।**

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः।
आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासत्।।[१]

अर्थात् जिस देश में पूर्ण विद्या वाले राजकर्मचारी हों वहाँ सब की एकमति होकर अत्यन्त सुख बढ़ें।

एक समृद्धशाली देश के लिये सभी को सुशिक्षित होना चाहिए। इस आवश्यकता को वैदिक काल में ही अनुभव कर लिया गया था। शिक्षित नागरिक देश के लिए गौरवशाली प्राणी हो सकते हैं। देश की शासन प्रणाली को सुचारु रूप से चलाने के लिए भी शिक्षा अनिवार्य है। जिस राष्ट्र में शिक्षित एवं प्रबुद्ध नागरिक होंगे, वहाँ पर सभी व्यक्ति एक मत होंगे और राष्ट्र सुख समृद्धि की ओर अग्रसर होगा। **देश की एकता एवं अखण्डता के लिए उनमें मतैक्य एवम् आपसी समझदारी बहुत ही आवश्यक होती है।**

देवासो हि ष्मा मनवे समन्यवो विश्वे साकꣳ सरातयः।[२]

देश की एकता एवं अखण्डता पर आघात करने वाले दुर्बुद्धिजनों की भी कमी नहीं रहती हैं। अतः सद्विचारों से पूर्ण व्यक्तियों को सदैव अपने परिवेश में सुख शान्ति की स्थापना का प्रयास करना चाहिये तथा ऐसे व्यक्तियों, जो इसमें विघ्न डालें, का अन्त करके ही शान्ति स्थापना का प्रयास करना चाहिये। **मानव की मानसिक प्रवृत्तियों की शुद्धता पर हमेशा ही ध्यान दिया जाता है क्योंकि वह ही राष्ट्र की आधारशिला है और सद्विचारों, सद्प्रवृत्तियों की उपस्थिति से ही राष्ट्र की समृद्धि का निर्धारण होता है।**

२. राष्ट्रीयएकता एवम् अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में यजुर्वेद के समाजदर्शन का अनुशीलन

राष्ट्रीयएकता एवम् अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में समाजदर्शन की भी भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। वैदिक वाङ्मय में तत्कालीन भारतीयसमाज का जो चित्र

---

१. यजुर्वेद ३३/६८
२. यजुर्वेद ३३/९४

परिलक्षित होता है, उसके विश्लेषण से ज्ञात होता है कि वह अत्यन्त सुख-सौमनस्यपूर्ण, एकता और समरसतामूलक तथा स्वस्थ विकास की आधारशिला पर बनाया हुआ वह भवन था जिस पर एक अडिग विशाल गृहयोजना स्थापित थी। समाज का वर्गीकरण जाति या धर्म के आधार पर न होकर व्यवसाय पर आधारित था। पारिवारिक पृष्ठभूमि संयुक्त होते हुए भी सबके विकास की भावना से अनुस्यूत थे। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों में किसी प्रकार की खींचतान की प्रवृत्ति न होकर पारस्परिक दायित्व की ग्रहणशीलता और सहयोग की दृष्टि समाहित थी। स्त्रियों का स्थान अत्यत्न सम्मानपूर्ण था। बालकों एवं किशोरों के प्रति वात्सल्य एवं सद्भाव विद्यमान था। समाज के सभी वर्गों में परस्पर प्रेम की भावना थी।

क) वर्ण व्यवस्था :- वैदिककालीन वर्ण व्यवस्था श्रम विभाजन के आधार पर आधारित थी। **कोई भी कार्य निकृष्ट नहीं समझा जाता था और कोई भी जाति हीनता की दृष्टि से नहीं देखी जाती थी। यह व्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा थी।** इसमें सभी वर्णों में एक दूसरे के प्रति सम्मान की भावना विद्यमान थी। वेदों के अध्ययन, अध्यापन, यजन-याजन ब्राह्मणों के प्रमुख कार्य थे लेकिन कृषि कार्य से भी वे विरत न थे। विद्याध्ययन का अधिकार सभी वर्णों को प्राप्त था। यजुर्वेद में इस आशय को इस मंत्र द्वारा स्पष्ट किया गया है—

यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु।।[१]

समाज के सभी वर्णों को वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त था। क्षत्रिय वर्ण का कार्य सुशासन स्थापना का तो था ही, साथ ही वे अन्य कार्य भी करते थे। यही स्थिति वैश्यों की भी थी। पशुपालन, कृषि और वाणिज्य इस वर्ण के प्रमुख कार्य थे, परन्तु अन्य कार्यों को भी करना उन्हें सौंपा गया था। शूद्रों का कार्य समाज की सेवा-शुश्रूषा करना कहा गया है, परन्तु उनके प्रति समाज के दृष्टिकोण में किसी तरह की उपेक्षा, घृणा या तिरस्कार की भावना परिलक्षित नहीं होती थी। सभी वर्णों में समानता की भावना ही राष्ट्र की एकता को सम्बल प्रदान करने वाला रहा है।

ख) आश्रम व्यवस्था :- वैदिक काल में आश्रम व्यवस्था का प्राविधान था जिसमें मनुष्य की आयु को चार वर्गों में विभाजित करके उसके आचरण एवं दायित्वों

१. यजुर्वेद २६/२

को निश्चित कर दिया गया था। उन्हीं के अनुरूप व्यक्ति को अपना जीवन व्यतीत करना होता था।

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः।।[१]

इस मंत्र का भाव इस बात की पुष्टि करता है कि मनुष्यों को चाहिये की **वे प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम के सहित विद्या तथा शिक्षा को ग्रहण कर, दूसरे गृहस्थाश्रम से धन का संचय, तीसरे वानप्रस्थ आश्रम से तप का आचरण और चौथे में संन्यास लेकर वेद विधा और धर्म का नित्य प्रकाश करें।**

मनुष्य की पूर्ण **आयु १०० वर्ष की मानी गई थी और २५-२५ वर्ष के चार भागों में विभाजित करके ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम का नाम दिया गया था।** ब्रह्मचर्य आश्रम की अवस्था में २५ वर्षों का काल विद्याध्ययन, शिक्षा ग्रहण एवं सभी कलाओं में पारंगत होने के लिए निश्चित किया गया था। ब्रह्मचर्य की आयु एवं शिक्षा पूर्ण होने पर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने की अनुमति दी गई थी।

अभीमं महिमा दिवं विप्रो बभूव सप्रथाः।
उत श्रवसा पृथिवीꣳ सꣳ सीदस्व महाँ२ असि रोचस्व देववीतमः।
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्।।[२]

अर्थात् ''यही मनुष्यों की महिमा है। जो ब्रह्मचर्य के साथ विद्या को प्राप्त हो, सर्वत्र फैलाकर, शुभ गुणों का प्रचार करके सृष्टि विद्या की उन्नति करते हैं।''

गृहस्थाश्रम में प्रवेश, उसके विचारानुरूप कन्या या वर के साथ विवाह के पश्चात् किया जाता था और इस आश्रम के नियमों के अनुसार ही आचरण अपेक्षित था। पारिवारिक दायित्वों की पूर्ति के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश किया जाता था। सम्पूर्ण ध्यान जप-तप में लगाया जाता था, इस आश्रम में घर में ही रहने की अनुमति प्राप्त थी। वानप्रस्थ की आयु ७५ वर्ष पूर्ण होने पर संन्यास आश्रम में प्रविष्ट कर, गृह त्याग कर, वनों में निवास कर, समग्र ध्यान पूजा-पाठ में लगाकर, मोक्ष प्राप्ति का लक्ष्य बना दिया जाता था।

ग) पुरुषार्थ चतुष्टय :- वैदिककालीन समाजदर्शन का एक अभिन्न अंग **पुरुषार्थ चतुष्टय** भी था। जीवन के चार लक्ष्यों को भी निश्चित कर दिया गया था। इनका

१. यजुर्वेद १२/१८
२. यजुर्वेद ३८/१७

समन्वय आश्रम व्यवस्था के साथ पूरी तरह से था। **धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष- ये चार पुरुषार्थ** थे जो जीवन की कार्यशैली को अपने अनुरूप ढालने का आदेश देते हैं। धर्म तो व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का ही आधार था, बिना धर्माचरण के तो मुख से वचन निकालने का भी आदेश न था। सम्पूर्ण जीवन में सारे पुरुषार्थों की पूर्ति धर्मानुसार आचरण करते हुए थी। **अर्थ** पुरुषार्थ की पूर्ति भी धर्म के साथ ही होनी चाहिये। अधर्म से कमाया हुआ **अर्थ** अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता, अतः इसकी अनुमति प्रदान नहीं की गई। **अर्थ प्राप्ति** का उद्देश्य अपने निहित दायित्वों की पूर्ति के लिये तथा धार्मिक-कृत्यों की पूर्ति हेतु है। **काम** पुरुषार्थ का संबंध गृहस्थाश्रम में प्रवेश के साथ जुड़ा हुआ है। इसकी पूर्ति मात्र वासनाओं की तृप्ति के लिए नहीं अपितु ऋणों से मुक्ति, धार्मिक कृत्यों की पूर्ति हेतु करने का आदेश दिया गया है। मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है और इसकी प्राप्ति के लिए सभी एषणाओं का त्याग वांछित है।

नारी की स्थिति :- वैदिक काल में **नारी की स्थिति** पुरुष की तुलना में कहीं भी कम न थी। उसकी जीवन-शैली भी पुरुषों की भाँति ही चला करती थी। उसे भी २५ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य का पालन करके सभी शिक्षाओं को अर्जित करने का पूरा अधिकार था तथा पति के चुनाव की भी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी—

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढिनः।।[१]

अर्थात् हे कुमारियों, तुम ब्रह्मचर्य आश्रम के साथ समस्त विद्याओं को प्राप्त कर, युवती होकर अपने को स्वयं परीक्षा करके, वरणयोग्य अभीष्ट पतियों को आप वरो। उन पतियों के साथ आनन्द कर प्रजा-पुत्रादि को उत्पन्न किया करो।

परस्या अधि संवतोऽवराँ२ अभ्यातर। यत्राहमस्मि ताँ२ अव।।[२]

अर्थात् **कन्या को चाहिए कि अपने से अधिक बल और विद्या वाले एवं बराबर के पुरुष को पति स्वीकार करे, किन्तु छोटे एवं न्यून विद्या वाले को नहीं। जिसके साथ विवाह करे, उसके सम्बन्धी और मित्रों को सब काल में प्रसन्न रक्खें।**

इन मंत्रों से नारी के जीवन के पक्ष उजागर होते हैं। नारी की स्वतंत्रता एवं उसकी इच्छाओं का सम्मान इस बात का प्रतीक है कि वह राष्ट्र एकता के सूत्र में बद्ध

---

१. यजुर्वेद ३४/१०
२. यजुर्वेद ११/७१

होगा तथा वहाँ का जीवन नैतिक एवं आध्यात्मिक नियमों के आधार पर चल रहा होगा।

विवाह :- उस समय विवाह आयु के बन्धन में नहीं बँधा था और न ही स्त्री और पुरुष के लिए यह अनिवार्य बन्धन था। वे चुनाव के लिए स्वतंत्र थे और इसके द्वारा वे **गृहस्थाश्रम** एवं कामपुरुषार्थ की पूर्ति करने का कृत्य ही करते थे।

इड एह्य दित एहि सरस्वत्येहि। असावेह्यसावेह्यसावेहि।।[१]

अर्थात् जब स्त्री अथवा पुरुष विवाह की इच्छा करें तब ब्रह्मचर्य और शिक्षा से स्त्री और पुरुष के धर्म और आचरण को जानकर ही करें।

जब गुणों एवं शिक्षा में समता होती है, तभी इनमें आपस में एक दूसरे के प्रति सम्मान तथा आदर के भाव की भी उपस्थिति होती है जो कि परिवार के सुख, समृद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

विवाह के लिए जाति एवं कुल का बन्धन नहीं था। गुणों, शिक्षा की तुलना एवं अपनी प्रीति से भी विवाह का उल्लेख प्राप्त होता है। विशाल राष्ट्र में विभिन्न कुल तथा जातियाँ होती हैं और मानव-मानव के मध्य कोई अन्तर न करते हुए आपस में विवाह इस बात का प्रतीक है कि वे उच्च विचारों के थे। प्रेम-विवाह, अंतर्जातीय विवाह जैसे वर्तमान प्रश्नों को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। इस बारे में एक स्थान पर इस प्रकार का उल्लेख हुआ है—

इन्द्रं दुरः कवष्यो धावमाना वृषाणं यन्तु जनयः सुपत्नीः।
द्वारो देवीरभितो वि श्रयन्ताᳬं सुवीरा वीरं प्रथमाना महोभिः।।[२]

अर्थात् **जिस कुल एवं देश में परस्पर प्रीति से स्वयंवर विवाह करते हैं 'वहाँ मनुष्य सदा आनन्द में रहते हैं।'**

इस मंत्र से प्रेम विवाह की ओर संकेत प्राप्त होता है। वे आपस में गुणों की परीक्षा करके ही एक दूसरे को जीवनसाथी बनाने का निर्णय लें।

वैदिककालीन समाजदर्शन इस ओर इंगित करता है कि उसे रूढ़िवादी कानूनों और नियमों की श्रृंखलाओं से जकड़ा नहीं गया था। सम्पूर्ण राष्ट्र एक है, यह भाव था। देश और जाति के बन्धन से रहित समाज, एक सुखद एवं उन्नतिकारक समाज से ही एकता एवं अखण्डता का सन्देश प्राप्त होता है।

---

१. यजुर्वेद ३८/२
२. यजुर्वेद २०/४०

३. राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में यजुर्वेद में राजदर्शन का अनुशीलन–

राजनीति मानवसमाज की अपरिहार्यता है। वैदिक युग में एक सुव्यवस्थित कल्याणकेन्द्रित और सर्वाभिमुखी राजनैतिक व्यवस्था दिखलाई देती है। इस राजनीतिक व्यवस्था के लिए प्रयुक्त राजदर्शन आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत समाज एवं जनकल्याण के लिए सम्मानदायक एवं अधिकारयुक्त था। राज्य एवं राष्ट्र की अवधारणा उस काल में एक समान ही मान ली गई थी और उत्तम राष्ट्र के लिए देश में क्या हो, इसका विचार यजुर्वेद में किया गया है–

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः।
आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासत्।।[१]

अर्थात् जिस देश में पूर्ण विद्या वाले राजकर्मचारी हों वहाँ सबकी एक मति (वैचारिक एकता) होकर अत्यन्त सुख बढ़े। यजुर्वेद में राष्ट्र की सुख और समृद्धि के लिए पूर्ण शिक्षा का प्रावधान माना गया था क्योंकि शिक्षित जनसंख्या ही राष्ट्र के प्रति एवं अपने हितों के प्रति सजग रहती है और इसी में व्यष्टि तथा समष्टि की उन्नति निहित रहती है।

राज्य की वृद्धि एवं समृद्धि के लिए भी उल्लेख किया गया है–

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा।।[२]

अर्थात् **परमेश्वर** से **प्रीति** और **सत्याचरण** के बिना कोई भी मनुष्य **ईश्वर के गुण, कर्म** और **स्वभाव** को देखने के योग्य नहीं हो सकता, न वैसे हुए बिना राज्यकर्मों को यथार्थ न्याय से सेवन कर सकता है, न सत्य एवं धर्माचार से रहित जन राज्य बढ़ाने में कभी समर्थ हो सकता है।

एक उत्तम राष्ट्र क्या हो सकता है, उस बारे में यजुर्वेद में स्पष्ट रूप से वर्णित है। एक आदर्श राज्य की कुछ अपेक्षाएँ होती हैं जिनके पूर्ण होने पर ही उसे उत्तम राज्य स्वीकार किया जा सकता है।

मो षू ण इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः।
महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः।।[३]

---

१. यजुर्वेद ३३/६८
२. यजुर्वेद ६/४
३. यजुर्वेद ३/४६

अर्थात् जब मनुष्य लोग परमेश्वर की आराधना कर, अच्छी प्रकार से सब सामग्री को संग्रह करके, युद्ध में शत्रुओं को जीतकर, चक्रवर्ती राज्य को प्राप्त कर, प्रजा का अच्छी तरह से पालन करके, बड़े आनन्द का सेवन करते हैं, तब उत्तम राज्य होता है।

एक योग्य राजा के चयन का कार्य भी प्रजाजनों को करने का स्पष्ट निर्देश यजुर्वेद में प्राप्त है और इसका यह स्वरूप **वर्तमान लोकतंत्र की ओर संकेत करता है जहाँ पर शासक का चुनाव जनसाधारण द्वारा होता है।** योग्य शासक ही एक राष्ट्र का अच्छी तरह पालन-पोषण और रक्षा करने में सक्षम होता है।

विश्वे॑षा॒मदि॑तिर्य॒ज्ञिया॑नां॒ विश्वे॑षा॒मति॑थि॒र्मानु॑षाणाम्।

अ॒ग्निर्दे॒वाना॒मव॑ आवृणा॒नः सु॑मृडी॒को भ॑वतु जा॒तवे॑दाः।।[१]

अर्थात् मनुष्यों को चाहिए कि जो सब विद्वानों में गम्भीर बुद्धि वाला, सब मनुष्यों में माननीयप्रजा की रक्षा आदि राजकार्य को स्वीकार करता हो, सब सुखों का दाता और वेदादि शास्त्रों को जानने वाला शूरवीर हो, **उसी को राजा बनायें।**

योग्य राजा के चयन से ही उत्तम राज्य का निर्माण हो जाता है। इसके अतिरिक्त राजा राज्य के सम्पूर्ण कार्यों को अपने अकेले बल पर सम्पन्न नहीं कर सकता है। उसके लिए उसको योग्य मंत्रियों एवं सलाहकारों का चयन करना चाहिये ताकि वे उसके कार्यों में न्यायपूर्ण सलाह दे सकें और न्याय का परिपालन हो सके।

श्रु॒धि श्रु॑त्कर्ण॒ वह्नि॑भिर्दे॒वैर॑ग्ने स॒याव॑भिः।

आ सी॑दन्तु ब॒र्हिषि॑ मि॒त्रो अ॑र्य॒मा प्रा॑त॒र्यावा॑णो अध्व॒रम्।।[२]

अर्थात् सभापति राजा को चाहिये कि अच्छे परीक्षित मंत्रियों को स्वीकार कर, उनके साथ सभा मैं बैठकर, विवाद करने वालों के वचन सुनकर, उस पर विचार कर यथार्थ न्याय करें।

राजा को स्वयं भी कुछ विशिष्ट गुणों से युक्त होना चाहिये ताकि वह इतने बड़े राष्ट्र की व्यवस्था और जीवन का कुशलतापूर्वक भार उठा सके।

देव॑ सवितः प्र सु॑व य॒ज्ञं प्र सु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य।

दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॑त॒पूः केत॑ नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाच॑ नः स्वदतु।।[३]

---

१. यजुर्वेद ३३/१६

२. यजुर्वेद ३३/१५

३. यजुर्वेद ३०/१

अर्थात् जो विद्या की शिक्षा को बढ़ाने वाला, शुद्ध, गुण-कर्म स्वभावयुक्त, राज्य की रक्षा तथा ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला, धर्मात्माओं का रक्षक, परमेश्वर का उपासक और समस्त शुभ गुणों से युक्त हो, वही राजा होने के योग्य होता है।

इमां ते धियं प्र भरे महो महीमस्य स्तोत्रे धिषणा यत्त आनजे।
तमुत्सवे च प्रसवे च सासहिमिन्द्रं देवासः शवसामदन्ननु।।[१]

अर्थात् जो राजा विद्वानों से उत्तम बुद्धि व वाणी को ग्रहण करते हैं वे सत्य के अनुकूल होते हुए आप आनन्दित होकर औरों को प्रसन्न करते हैं।

यजुर्वेद में राजधर्म के बारे में कुछ बातों को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है। राजधर्म भी काल एवं देश के अनुसार ही परिवर्तित होता रहता है। उन्हीं के अनुरूप ही राजधर्म निश्चित होता है। काल के साथ सभी में परिवर्तन होता है।

अषाढं युत्सु पृतनासु पप्रिꣳ स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपाम्।
भरेषुजाꣳ सुक्षितिꣳ सुश्रवसं जयन्तं त्वामनु मदेम सोम।।[२]

अर्थात् **"जिस राजा एवं सेनापति के उत्तम स्वभाव से राजपुरुष सेवाजन और प्रजापुरुष प्रसन्न रहें और जिनकी प्रसन्नता में राजा प्रसन्न हो, वहाँ दृढ़ विजय, उत्तम, निश्छल, ऐश्वर्य और अच्छी प्रतिष्ठा होती है।"**

इस प्रकार राजा के अपने राज्य के प्रति धर्म को स्पष्ट किया गया है। चूँकि राजकर्म केवल एक व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित नहीं किया जा सकता है इसलिए अन्य विद्वद्जनों का सहयोग भी इस कार्य में अपेक्षित है। तभी राजकार्य पूर्ण क्षमता से सम्पन्न होना संभव हो सकता है।

इन्द्राग्नीऽआ गतꣳ सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम्। अस्य पातं धियेषिता।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वैष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा।।[३]

अर्थात् अकेला पुरुष यथोक्त राजशासन कर्म नहीं कर सकता है। इस कारण और श्रेष्ठ पुरुषों का सत्कार करके राजकार्यों में युक्त करें, वे भी यथायोग्य व्यवहार से इस राजा का सत्कार करें।

राजधर्म में सभी दायित्व मात्र राजपुरुषों के लिए ही निर्मित नहीं है, अपितु इसमें

---

१. यजुर्वेद ३३/२९
२. यजुर्वेद ३४/२०
३. यजुर्वेद ७/३१

राज्य में निवास करने वाले सभी प्राणी-प्रजाजनों में समाहित किये जाते हैं। सभी के लिए यह नियम लागू होता है कि वे राज्य के उत्थान में अपना सहयोग प्रदान करें।

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳪं सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।
नर्य प्रजां मे पाहि शᳪंस्य पशून्मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि।।[१]

अर्थात् ''मनुष्यों को ईश्वर की उपासना व उसकी आज्ञा के पालन का आश्रय लेकर, उत्तम नियमों से व उत्तम प्रजा, शूरता, पुष्टि आदि कारणों से प्रजा-पालन करके निरन्तर सुखों को सिद्ध करना चाहिये।''

राज्य के न्याय-कार्य में स्त्री की सहभागिता को पूर्ण रूप से स्वीकार किया गया है। स्त्री और पुरुष होने का भेद वैदिक काल में कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ है। राजा राजकर्म में अपनी रानी से पूर्ण सहयोग प्राप्त कर सकता है। **स्त्री व पुरुष दोनों में ही समान शिक्षा और विद्वता प्राप्त होती थी।** राज्य सभा में होने वाले न्याय में भी **यजुर्वेद के अनुसार** स्त्री की सहभागिता होना अनिवार्य माना गया है।

ध्रुवाऽसि धरुणाऽऽस्तृता विश्वकर्मणा।
मा त्वा समुद्र उद्वधीन्मा सुपर्णोऽव्यथमाना पृथिवीं दृᳪंह।।[२]

अर्थात् ''जैसी राजनीति-विद्या को राजा ने पढ़ा हो, वैसी ही उसकी रानी भी पढ़ी होनी चाहिये। सदैव दोनों परस्पर पतिव्रता-स्त्रीव्रत होकर न्याय से पालन करें। व्यभिचार और काम की व्यथा से रहित होकर धर्मानुकूल पुत्रों को उत्पन्न करके स्त्रियों को स्त्री-रानी और पुरुषों को पुरुष-राजा न्याय करें।''

प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्।
व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यसि।।[३]

अर्थात् राजपुरुष को चाहिए कि वे जिस-जिस राजकार्य में प्रवृत्त हों, उस-उस कार्य में अपनी-अपनी स्त्रियों को भी स्थापित करें, जो राजपुरुष जिन पुरुषों का न्याय करें उसकी स्त्री का न्याय रानी किया करें।

यजुर्वेद के सम्पूर्ण राजधर्म एवं दर्शन पर दृष्टिपात करें तो यह ज्ञात होता है कि राज्य या राष्ट्र के आदर्श होने की संकल्पना तो आरम्भ से ही प्रस्तुत हो गई थी। कहीं

१. यजुर्वेद ३/३७
२. यजुर्वेद १३/१६
३. यजुर्वेद १३/१७

भी राज्य में विघटनकारी तत्त्वों की उपस्थिति की संभावना होने पर उनका दमन करने का प्राविधान रखा गया है। आदर्श राष्ट्र की भाँति स्त्री व पुरुष दोनों की ही शासन कार्य में सहभागिता स्वीकार की गई है। राज्य की अखण्डता के उद्देश्य से शत्रुओं के दमन के बारे में पूर्ण विवरण प्राप्त होता है। **राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में यजुर्वेद से पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है।**

४. राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में यजुर्वेद के धर्मदर्शन का अनुशीलन :

वैदिक काल में प्रयोग किये गये सभी कार्यों का सम्बन्ध एक दूसरे के साथ रहा है। उसी प्रकार धर्म को जीवन के हर पक्ष के साथ संयुक्त करके प्रस्तुत किया गया है। **धर्म ही जीवन के प्रत्येक पक्ष का संचालन करता था।** राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के दिए धर्म से जुड़ा हुआ आधार भी स्वीकार किया जा सकता है।

धर्माचरण और सत्याचरण ही जीवन को संचालित करता रहा है।

अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधी दमहं य एवास्मि सोऽस्मि।।[१]

अर्थात् ''मनुष्य को यही निश्चय करना चाहिए कि मैं जैसा कर्म करता हूँ वैसा ही परमेश्वर की व्यवस्था से फल भोगता हूँ और भोगूँगा। सब प्राणी अपने कर्म से विरुद्ध फल को कभी प्राप्त नहीं करतें। **इसलिए सुख भोगने के लिए धर्मयुक्त कर्म ही करना चाहिये जिससे कभी दुःख न हो।''**

मानव जीवन का सीधा सम्बन्ध समाज एवं देश के साथ जुड़ा होता है। इसके लिए हर क्रियाकलाप ऐसा संतुलित होना चाहिये जिससे कि स्वयं से किसी अन्य व्यक्ति को भी कष्ट न हो।

आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्यं दृशे।।[२]

अर्थात् ''मनुष्य उत्तम कर्मों के अनुष्ठान के लिए चित्त की शुद्धि एवं जन्म-जन्म में उत्तम चित्त की प्राप्ति की ही इच्छा करें जिससे मनुष्यजन्म को प्राप्त होकर ईश्वर की उपासना का साधन करके उत्तम-उत्तम धर्मों का सेवन कर सकें।''

विचार एवं कर्म की शुद्धता ही व्यक्ति के आचरण को शुद्ध रखती है। जीवन के व्यवहार एवं कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए भी उसे धर्मानुसार चलना होता है। वैदिक काल में **धर्म पुरुषार्थ** ऐसा है जो कि जीवन के सम्पूर्ण दर्शन को प्रभावित करता रहता

---

१. यजुर्वेद २/२८
२. यजुर्वेद ३/५४

था और इससे विलग कोई क्रिया सम्पादित हो ही नहीं सकती थी। **अर्थ की प्राप्ति** भी धर्मानुसार आचरण के पश्चात् ही हो सकती थी। **वेदों का हर मंत्र ही धर्म की व्याख्या करता है और जीवन-दर्शन को धर्ममय करके प्रस्तुत करता है।**

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः।।[१]

अर्थात् मनुष्यों को चाहिए कि सर्वथा आलस्य को छोड़कर **पुरुषार्थ** में ही निरन्तर रह कर, अज्ञान को छोड़कर, वेद विद्या से शुद्ध की हुई वाणी के साथ सदा वर्तन करें और परस्पर प्रीति करके एक दूसरे का सहारा बनें। जो इस प्रकार के मनुष्य हैं, वे ही इस लोक के सुखों को प्राप्त होकर आनन्दित होते हैं। अन्य अर्थात् आलसी पुरुष आनन्द को कभी नहीं प्राप्त होते हैं।

वैदिककालीन धर्म-दर्शन मानवहित, देशहित के लिए ही निर्मित था और यही कारण है कि आज भी जनसाधारण धर्म की भावना से विमुक्त नहीं हो होता है। जन्म से मृत्यु तक के सारे कार्य धर्मानुसार ही पूर्ण होते हैं।

५. राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के परिपेक्ष्य में यजुर्वेद में आचार-दर्शन, शिक्षा-दर्शन एवं अर्थ-दर्शन का अनुशीलन :

यजुर्वेद में वर्णित मंत्रों के द्वारा आध्यात्मिक, भौतिक, नैतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है। इन्हीं के आधार पर जीवन मूल्यों का निर्धारण हुआ है। **यजुर्वेद** में यदि **आचार-दर्शन** पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि इन्हीं रास्तों पर चलकर मानव को जीवन के अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

मा नः शꣳसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य। रक्षा णो ब्रह्मणस्पते।।[२]

अर्थात् "मनुष्यों को सदा उत्तम काम करना चाहिए और बुरे-बुरे काम छोड़ देने चाहिए तथा किसी के साथ द्रोह व दुष्टों का संग भी न करना और धर्म की रक्षा व परमेश्वर की उपासना स्तुति और प्रार्थना निरन्तर करनी चाहिए।"

जीवन में मनुष्यों को उत्तम कर्म करने का निर्देश दिया गया है। किन्तु जिससे अपना हित होता हो और किसी अन्य का अहित, उस कार्य को करना भी न्याय एवं धर्मसंगत नहीं माना जाता है। उसी तरह बुरे और दुष्ट मनोभाव वाले जीवों की संगति भी उचित नहीं मानी गई है। सदैव ही मनुष्य का यह प्रयास होना चाहिये कि

---

१. यजुर्वेद ३/४७
२. यजुर्वेद ३/३०

वह ईश्वर की भक्ति एवं उपासना में लीन रहकर अपने दायित्वों की पूर्ति करता रहे।

मनुष्यों को उचित है कि जिस वेद के जानने तथा पालन करने वाले परमेश्वर ने वेदविद्या, पृथिवी, जल, वायु और सूर्य आदि शुद्धि करने वाले पदार्थ प्रकाशित किये हैं, उसकी उपासना तथा पवित्र कर्मों के अनुष्ठान मनुष्यों को पूर्ण कामना और पवित्रता के साथ सम्पादित अवश्य करने चाहियें।

परमपिता परमेश्वर, जिसने पञ्च-तत्त्वों से निर्मित मनुष्य के लिए सभी पदार्थ इस धरा पर उपलब्ध कराकर जीवन प्रदान किया है, उसके प्रति कृतज्ञ होते हुए और उसकी कृपा अपने ऊपर चाहने की कामना लेकर उसकी उपासना नित्य करनी चाहिये। उन्हें अपने जीवन में अपनाते हुए सत्य के मार्ग का सदैव ही अनुकरण करना चाहिये। **विद्या ग्रहण कर उसके प्रचार हेतु प्रयत्नशील रहना भी एक मंगल कार्य है।** परन्तु शिक्षादान के काल में स्वयं भी अध्ययन से विरत नहीं होना चाहिये **क्योंकि ज्ञान अनन्त है और उसको ग्रहण करने के लिये एक जीवन बहुत छोटा है।**

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ।
मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः।।[१]

अर्थात् मनुष्य को उचित है कि विद्याप्रचार के लिए पढ़ना, पढ़ाना तथा मंगलाचरण को न छोड़े क्योंकि यही सर्वोत्तम कर्म है।

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः।
श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदाः।।[२]

अर्थात् सब मनुष्यों को उचित है कि ईश्वर और विद्वान् का सत्कार कर्म कभी न छोड़ें क्योंकि अन्य किसी से विद्या और सुख का लाभ नहीं हो सकता है। इसलिए इनको जानें।

अत्यन्याँ२ अगां नान्याँ२ उपागामर्वाक् त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्यः।
तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै
देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्तां विष्णवे त्वा।
ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः।।[३]

---

१. यजुर्वेद ५/३
२. यजुर्वेद ५/३१
३. यजुर्वेद ५/४२

अर्थात् "मनुष्यों को चाहिए कि नीच व्यवहार और नीच पुरुषों को छोड़ के अच्छे-अच्छे व्यवहार तथा उत्तम विद्वानों को नित्य चाहें और उत्तमों से उत्तम तथा न्यूनों से न्यून शिक्षा ग्रहण करें। यज्ञ के पदार्थों का तिरस्कार कभी न करें तथा सबको चाहिये कि एक-दूसरे के मेल से सुखी हों।"

समाज एवं परिवार में मेलजोल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस मेलजोल की भावना से आपसी वैमनस्य की उत्पत्ति नहीं होती है। सम्पूर्ण समाज एक परिवार के भाँति बना रहता है। "**वसुधैव कुटुम्बकम्**" की अवधारणा इसी का प्रतीक है और कुटुम्ब की तरह समझने वाले विद्वान्व्यक्ति सर्वहित की कामना करते हैं। इससे पारस्परिक सम्बन्धों में दृढ़ता उत्पन्न होती है।

इष्कर्त्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तꣳ राधसो महः।
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिꣳ रयिम्।।[१]

अर्थात् **जो मनुष्य जैसे अपने लिए सुख की इच्छा करे वैसे ही दूसरों के लिए करे**, वही आप्तसत्कार के योग्य होता है।

वह व्यवहार जो दूसरों के द्वारा अपने साथ होने पर मनुष्य को उचित न लगे, उसे स्वयं वैसा व्यवहार कदापि नहीं करना चाहिये। सबको यथोचित सम्मान एवं श्रद्धा देने से व्यक्ति के आत्मिक सन्तोष में वृद्धि होती है।

यजुर्वेद का **आचारदर्शन** एक दिशा प्रदान करता है क्योंकि इसमें मनुष्य को किसी से वैर रखने या हिंसा भाव रखने की अनुमति दी ही नहीं गई है। सबके प्रति समान भाव का दृष्टिकोण हो, ऐसा व्यवहार उसे मानवता की ओर ले जाता है। **इस तरह का आचार-व्यवहार राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जाय तो यही स्पष्ट होता है कि यहाँ देश को जोड़ने और जोड़े ही रखने का सन्देश प्राप्त होता है।**

शिक्षा दर्शन :- मानव के जीवन में शिक्षा का क्रम जन्म से लेकर मृत्यु तक निरन्तर चलता रहा है। कभी यह प्रत्यक्ष शिक्षा के रूप में और कभी अप्रत्यक्ष शिक्षा के रूप में चलता रहता है। बालक ग्रहण करने के लिए होता है और शिक्षक उसको प्रदान करने के लिए। शिक्षक का दायित्व भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है।

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्।।[२]

---

१. यजुर्वेद १२/११०
२. यजुर्वेद २/३३

अर्थात् ईश्वर आज्ञा देता है कि विद्वान् पुरुष एवं स्त्रियों को चाहिए कि विद्यार्थी कुमार या कुमारी को विद्या देने के लिए गर्भ के समान धारण करें। जैसे क्रमशः गर्भ के बीच देह बढ़ता है वैसे अध्यापक लोगों को चाहिये कि अच्छी शिक्षा से ब्रह्मचारी, कुमार या कुमारी को श्रेष्ठ विद्या में वृद्धियुक्त करें तथा (उनका) पालन करें। वे विद्या के योग से धर्मात्मा और पुरुषार्थयुक्त होकर सदा सुखी हों, **यह अनुष्ठान सदैव करना चाहिये।**

रेवती रमध्वं बृहस्पते धारया वसूनि।
ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रति मुञ्चामि धर्षा मानुषः।।[१]

अर्थात् विद्वानों को अपनी शिक्षा से कुमार ब्रह्मचारी और कुमारी ब्रह्मचारिणियों को परमेश्वर से लेकर पृथ्वीपर्यन्त पदार्थों का बोध कराना चाहिए, जिससे वे अज्ञानरूपी बन्धन को छोड़कर सदा सुखी रहें।

यजुर्वेद में शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता है क्योंकि जीवन में ज्ञान की कोई सीमा नहीं है, परमेश्वर से लेकर पृथ्वी तक के किसी भी वस्तु के गूढ़ज्ञान हेतु प्रयत्न करना और जिज्ञासा की प्रवृत्ति उनमें उत्पन्न होना ही ग्रहण करने की क्षमता का द्योतक है। **शिक्षा ग्रहण काल में ब्रह्मचर्य का पालन अत्यन्त अनिवार्य है। इस आयु में ही उन्हें सत्याचरण, धर्माचरण, संयम एवं त्याग से परिचित करा दिया जाता है और यही आधारशिला उनके भविष्य के लिए होती है। वे अच्छे व्यक्ति, नागरिक, माता-पिता, पुत्र-पुत्री के रूप में स्वयं को प्रस्तुत करते हैं।**

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते
शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चरित्राँस्ते
शुन्धामि।।[२]

अर्थात् गुरु और गुरु पत्नियों को चाहिए कि वेद और उपवेद तथा वेद के अंग और उपांगों की शिक्षा में देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और मन की शुद्धि, शरीर की पुष्टि तथा प्राण की संतुष्टि देकर समस्त कुमार और कुमारियों को अच्छे-अच्छे गुणों में प्रवृत्त करावें।

वेद-वेदांगों में शिक्षा का पूर्ण प्राविधान था। दर्शन, मनोविज्ञान, विज्ञान, योग, संगीत, कला आदि सभी की शिक्षा ग्रहण करने के बारे में उल्लेख प्राप्त होते हैं।

---

१. यजुर्वेद ६/८
२. यजुर्वेद ६/१४

शिक्षा के प्रति अध्यापक और अध्येता दोनों के ही दायित्वों का पृथक्-पथक् वर्णन किया गया है। पुरुष एवं स्त्री दोनों के लिए ही समस्त शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। लिंग के भेद को कहीं भी महत्त्व प्रदान नहीं किया गया था और न ही स्त्री को अबला के रूप में वर्णित किया गया है।

ब्रह्माणि मे मतयः शꣳ सुतासः शुष्म इयर्ति प्रभृतो मे अद्रिः।
आ शासते प्रति हर्यन्त्युक्थेमा हरी वहतस्ता नो अच्छ।।[१]

अर्थात् हे विद्वानों! जिस कर्म से विद्या और मेघ की उन्नति हो, वैसी क्रिया करों। जो लोग तुम से विद्या और सुशिक्षा चाहते हैं उनको प्रेमपूर्वक दों, और जो आपसे अधिक विद्या वाले हों उनसे तुम विद्या ग्रहण करों।

यजुर्वेद में शिक्षकों और उपदेशकों के लिए नियम निश्चित किये गए थे, जिनका अनुकरण ही उनको समाज व विद्यार्थियों के मध्य पूजनीय बनाता था। गुरु प्रथम पूज्य होता था। मनुष्य को ज्ञानी बनाने का कार्य गुरु के द्वारा ही सम्पन्न किया जाता था।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
आ ददे नारिरसि।।[२]

अर्थात् हे मनुष्यों, तुम लोग उत्तम विद्वानों को प्राप्त होकर उनसे विद्या-शिक्षा ग्रहण कर इस सृष्टि में नायक बनों!

विश्वा आशा दक्षिणसश्विान् देवानयाडिह।
स्वाहावृतस्य घर्मस्य मधोः पिबतमश्विना।।[३]

अर्थात् उपदेशक शिक्षा दें और अध्यापक पढ़ावें, वैसे ही सब लोग ग्रहण करें।

वैदिक काल की शिक्षा ने संतुलित एवं सुशिक्षित व्यक्ति के निर्माण का सदैव उपदेश दिया है। सभी तरह से शिक्षित एवं उन्नत विचारों वाले व्यक्ति देश की उन्नति व प्रगति के लिए सहयोग प्रदान करते हैं। जहाँ सभी लोगों को उच्चकोटि के विद्वानों द्वारा शिक्षा प्राप्त होती है, वे संकीर्णता और दुष्ट प्रवृत्तियों से अलग रहते हैं। राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में यदि **यजुर्वेद के शिक्षा दर्शन को देखा जाय तो**

---

१. यजुर्वेद ३३/७८
२. यजुर्वेद ३७/१
३. यजुर्वेद ३८/१०

स्पष्ट होता है कि नागरिकों की पृष्ठभूमि ऐसी बनाई जाती है कि वे देशहित और मानवहित को कभी उपेक्षित ही नहीं कर सकते हैं।

अर्थ-दर्शन :- वैदिक युग में आर्थिक अवस्था अत्यन्त सुविकसित होती है। किसी भी देश की अर्थव्यवस्था को सुचारु गति देने के लिए उस देश की कृषि और खनिज सम्पदा का विशेष महत्त्व होता है। आर्थिक दृष्टि से पृथिवी के प्रति पूर्ण जागरुकता विद्यमान थी। **तत्कालीन आर्यगण इस तथ्य से अवगत थे कि पृथिवी वसुधा ही नहीं विश्वम्भरा (सबका भरण-पोषण करने वाली) भी है। वह हिरण्यवक्षा (अपने गर्भ में स्वर्णादि की खानों को छिपाये हुए) है।** उस पृथ्वी से मातृवत् पालन करने की प्रार्थना की गई है— '**सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः**। इस पृथिवी पर उत्पन्न प्राणियों के भरण-पोषण का दायित्व मातृभूमि पर ही होता है।'

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नया।।[१]

अर्थात् मनुष्यों को चाहिए कि विद्वानों की शिक्षा से कृषि कर्म की उन्नति करें। जैसे योगी नाड़ियों में परमेश्वर को समाधियोग से प्राप्त होते हैं, वैसे ही कृषि कर्म द्वारा सुखों को प्राप्त होवें।

लाङ्गलं पवीरवत्सुशेवꣳ सोमपित्सरु।
तदुद्वपति गामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं प्रस्थावद्रथवाहणम्।।[२]

अर्थात् "किसान लोगों को उचित है कि मोटी मिट्टी, अन्न आदि की उत्पत्ति से रक्षा करने वाली पृथिवी की अच्छी तरह से परीक्षा करके, हल आदि साधनों से समतल कर, सुन्दर संस्कारित बीजों से उत्तम धान्य उत्पन्न करके भोगें।"

यजुर्वेद में पशुपालन को वैयक्तिक आधार पर ही नहीं अपितु व्यावसायिक आधार पर भी उचित माना गया था इसीलिये इसका उल्लेख प्राप्त होता है।

अर्मेभ्यो हस्तिपं जवायाश्वपं पुष्ट्यै गोपालं वीर्यायाविपालं
तेजसेऽजपालमिरायै कीनाशं।
कीलालाय सुराकारं भद्राय गृहपꣳ श्रेयसे वित्तधमाध्यक्ष्यायानुक्षत्तारम्।।[३]

अर्थात् राजपुरुषों को चाहिए कि अच्छे शिक्षित हाथी आदि को रखने वाले पुरुषों को ग्रहण कर इनसे बहुत से व्यवहार सिद्ध करें।

---

१. यजुर्वेद १२/६७
२. यजुर्वेद १२/७१
३. यजुर्वेद ३०/११

इसी प्रकार इस काल में अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धें एवं शिल्प प्रचलित थे। इनमें **बाय** (कपड़ा बुनने वाले), **त्वष्टा** या **तक्षा** (बढ़ई—चाक, नौका, लकड़ी के पात्र आदि बनाने वाले), **कर्मकार** (लुहार—कृषि यंत्र, युद्धों के निमित्त आयुध निर्माता), **कुम्हार, माली, चमार, डोम, नाई, वैद्य, स्वर्णकार** आदि मुख्य हैं। विशाल भवनों का निर्माता **राजगीरों** का भी उल्लेख है। **यजुर्वेद** के विभिन्न मंत्रों (३०/६,७,१७,२०) में **रथकार, तक्षा, मौलाल, कर्मार, मणिकार, इषुकार, धनुष्कार, रज्जु सर्ग, हस्तिप, अश्वप, सुराकार, हिरण्यकार, वणिक प्रभृति शिल्पियों का उल्लेख है।**

वैदिक काल में द्विविध व्यापार प्राणाली का उल्लेख मिलता है– आन्तरिक एवं बाह्य। आन्तरिक व्यापार भारत में ही विभिन्न प्रदेशों एवं नगरों में विद्यमान था। विदेशों के साथ नौकाओं एवं जलयानों के माध्यम से बाह्य व्यापार भी उस युग में विकसित स्थिति में था। एक स्थान से दूसरे स्थान पर उत्पादित माल को लाने ले जाने के लिये व्यापारी वर्ग बैलों, घोड़ों, ऊँटों, कुत्तों तथा गधों का उपयोग करते थे। अनेक व्यापारी समुद्र मार्ग से भी व्यापार करते थे। **निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि वैदिक काल में यजुर्वेद के अनुसार अत्यन्त समृद्ध एवं सम्पन्न अर्थव्यवस्था विद्यमान थी। आर्थिक आधार पर समाज में श्रेणियाँ नहीं थी।** समतामूलक, श्रम की प्रतिष्ठाकारक और सांस्कृतिक-जीवन के लिए उपादेय, वह अर्थव्यवस्था हमें आज भी स्पृहणीय प्रतीत होती है, जिसमें धनोपार्जन की केवल शुद्ध, विधिसम्मत और समाज के द्वारा अनुमोदित प्रणाली प्रशस्त समझी जाती थी।

स्वार्जित धन का उपयोग भी व्यक्ति को त्यागपूर्वक करना चाहिये। किसी अन्य के धन की कामना न करें। इस तरह का भाव मुखरित रहा है।

यथा— **''तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, या गृधः कस्यस्विद्धनम्।''**

यजुर्वेद का अर्थदर्शन भी समृद्धि की ओर इंगित करता है। अपने व्यवसाय के प्रति ईमानदारी और दूसरों की समृद्धि में सहयोग की कामना रखने वाले व्यक्ति थे। इस तरह के भाव से देश की उन्नति, एकता में सहयोगी तत्त्व बनकर उससे दृढ़ता सिद्ध होती है।

६. राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता को यजुर्वेद का प्रदेय :

देश या राष्ट्र की सुख-समुद्धि एवं प्रसन्नता ही सभी युगों में प्राप्त साहित्य, काव्य, महाकाव्यों एवं आध्यात्मिक ग्रन्थों में वर्णित रही है। राष्ट्र की एकता और अखण्डता के सन्दर्भ में निम्न मंत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

आ त्वाहार्षमन्तरम् ध्रुर्वस्तिष्ठा विचाचलिः।
विंश सूत्वा सर्वा वाञ्छन्तु या त्वद्राष्टमधिभ्रशत्॥[१]

अर्थात् 'हे अग्ने! मैं तुमको लाया हूँ, तुम भीतर हो (नाभि के ऊपर शरीर के मध्य में)। तुम चलनरहित हो स्थिर बैठो। सारी प्रजा तुम्हें चाहे। राष्ट्र अर्थात् जन समूह तुमसे गिरे नहीं।'

इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि राष्ट्र में जनसमूह के विश्वास का कितना बड़ा स्थान है। राष्ट्र में श्रद्धा, उसकी एकता एवं अखण्डता के प्रति उद्घोष ही उसके अस्तित्व को चिरस्थायी रखने के लिए पर्याप्त है।

यजुर्वेद में राजाओं को दिये गये निर्देशों के अनुसार वे अपनी प्रजा का पालन पुत्रवत् करें। अपने देश की उन्नति एवं समृद्धि के लिए यथोचित प्रयास करें। समाज के विद्वानों की सहायता से ही राज्य का शासनकार्य संचालित करें ताकि उनकी प्रजा को योग्य प्रजापालकों का संरक्षण प्राप्त हो और उनके अपने बहुमखी विकास में किसी प्रकार का व्यवधान उत्पन्न न हो।

यही भावना प्रजा को एक निश्चितता प्रदान करती है और अच्छे राजा तथा विद्वान् मंत्रिगण एवं योग्य सेनापतियों के संरक्षण में वे अपने जीवन को सुरक्षित अनुभव करते हैं। उनके उत्तर में ही वे अपने राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता के लिए स्वयं प्रयत्नशील होते हैं। उनकी भावनाएँ राष्ट्र के प्रति सीमाओं से नहीं अपितु उसकी मिट्टी से जुड़ी होती है। दुश्मनों की बुरी दृष्टि भी उन्हें स्वीकार नहीं होती है।

यजुर्वेद में निर्देशित (७/२०)[२] मंत्र के अनुसार राजा और विद्वानों के लिए निश्चित किया है कि वे राज्य की निरन्तर उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहें। वे उपदेश और विद्या के प्रचार द्वारा ही अपनी प्रजा को अभिभूत कर सकते हैं। राजा, प्रजा और उत्तम विद्वानों की परस्पर प्रीति से ही ऐश्वर्य की उन्नति और आनन्द में वृद्धि होना संभव है।

राष्ट्र में फैली अशिक्षा और विचारों की संकीर्णता ही राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के मार्ग में बाधक बन सकती है। जबकि **यजुर्वेद में उल्लिखित** मंत्रों के अनुरूप विद्या के प्रचार से ही हम उनके अन्तर में व्याप्त संकीर्णता, साम्प्रदायिकता, अशिक्षा को दूर करके उनके विचारों में समृद्धि ला सकते हैं और वे राष्ट्र की एकता के लिए मजबूत श्रृंखला बनाने में सक्रिय होंगे। राजनीति में

---

१. वाजसनेयी संहिता १२/११
२. पूर्व में उल्लिखित

उनकी सीधी भागीदारी भी उनको राष्ट्र से प्रत्यक्ष तौर पर जोड़ती है। उन्हें अपनी महत्ता का स्वयं ज्ञान होता है।

यजुर्वेद में उल्लिखित (३४/९४) मंत्र में वर्णित है कि "जो मनुष्य एक दूसरे के लिए सुख देवें, जो मिलकर दुष्टों का वध करें, वे पुत्र-पौत्र वाले होकर भी मनुष्यों के सुख की उन्नति में समर्थ-विद्वान् होने योग्य होते हैं।"

इसमें दुष्टों से आशय देश की एकता एवं अखण्डता पर आघात करने वालों को माना जा सकता है क्योंकि दुष्ट-प्रवृत्ति के लोग ही देश के आन्तरिक वातावरण को बिगाड़ने के लिए आतंक फैलाने वाली क्रियाएँ करते हैं। अतः ऐसे लोगों के दमन का पूर्ण उल्लेख है। देश में ऐसे लोगों को मान्यता प्रदान की गई है जो एक दूसरे के लिए सुखकारी प्रमाणित हो सकें।

प्राचीन काल से ही भारत एक विस्तृत एवं महान् राष्ट्र के रूप में माना जाता रहा है और इसकी सभ्यता एवं संस्कृति इस बात का प्रतीक है कि विदेशों से आये लोगों को भी मित्रवत् स्वीकार किया जाता रहा है। किसी अन्य राष्ट्र की स्वतंत्रता या अखण्डता का हनन करने का प्रयास कभी नहीं किया गया और न ही अपनी राष्ट्रीय एकता और अखण्डता पर प्रहार करने वालों को क्षमा किया गया।

पञ्चम अध्याय

सामवेद में राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता का अनुशीलन

सामवेद में प्रतिबिम्बित राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता का आधारतत्त्व :

मातृभूमि और राष्ट्र का अस्तित्व मानव जाति के जन्म के साथ ही संज्ञान में आया था। प्राचीनकाल से लेकर आज तक भी अपने देश और मातृभूमि के प्रति प्रत्येक व्यक्ति का अगाध प्रेम एवं श्रद्धा जीवित रहती है। चाहे देश के अन्दर रहने वाला साधारण नागरिक हो या फिर देश की सीमाओं पर रक्षा कार्य में संलग्न राष्ट्र के प्रहरी सैनिक हो, सभी में एक ही प्रेम भावना विद्यमान रहती है।

सामवेद में भी देश की एकता एवं अखण्डता के आधारतत्त्वों की उपस्थिति स्पष्ट परिलक्षित है। देश के नागरिकों में विद्यमान देश-प्रेम की भावना, मातृभूमि केप्रति अगाध श्रद्धा ही उन्हें प्राणोत्सर्ग के लिए उत्प्रेरित करती है। देश में विद्यमान इसी भावना को सामवेद के निम्न मंत्र में वर्णित किया गया है—

आ बुन्दं वृत्रहा ददे जात: पृच्छाद्वि मातरम्।

क उग्रा: के ह शृण्विरे॥[१]

अर्थात् शस्त्रविद्या में चतुर योद्धा शस्त्र हाथ में लेकर माता (मातृभूमि की प्रजा) से पूछे कि कौन-कौन देशद्रोही सुने जाते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि **सच्चा राष्ट्रप्रेमी** देश में देशद्रोह की भावना रखने वालों को सहन नहीं कर सकता है क्योंकि वे राष्ट्र की एकता और अखण्डता के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। **सच्ची मातृभूमि** ही वह भावना है जो कि राष्ट्र की एकता और अखण्डता की **आधारशिला** है। इसी भावना की उपस्थिति एक राष्ट्र को और अधिक दृढ़ता प्रदान कर सकती है।

आ गन्ता मा रिषण्यत प्रस्थावानो माप स्थात समन्यव:।

दृढांचिद्यमयिष्णव:॥[२]

अर्थात् 'हे यज्ञादि परोपकार के करने वालों! ऋत्विजों एवं वीरों! आओं, किसी

१. सामवेद २/२१६
२. सामवेद ४/४१०

को कष्ट मत दो तथा किसी के साथ संग्राम मत करो। तुम लोग शत्रुओं पर विजय पाने के लिए प्रस्थान (कूच) करने वाले हो, किन्तु ऐसा न करो। यदि तुम लोगों का एक विचार (संगठन) हो तो बलवान् से बलवान् शत्रु पर भी विजय पाना और उसको अपने वश में रखना कठिन नहीं है।'

इससे यह भाव प्रदर्शित होता है कि निरर्थक किसी भी व्यक्ति को कष्ट देना या आपसी वैमनस्य रखकर संघर्षरत होना नैतिक दृष्टि से उचित नहीं है। अपनी भावात्मक एकता का विकास करना चाहिए। **जब देश में आपस में भावात्मक एकता बढ़ेगी तो इस एकता में व्यवधान डालने वाले इस एकता की भावना का सामना करने में अपने आपको समर्थ न पा सकेंगे और वे अवश्य ही पराजित हो जाएगें।**

स्वादोरित्था विषूवतो मधोः पिबन्ति गौर्यः।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभथा वस्वीरनु स्वराज्यम्॥[१]

अर्थात् "हे ईश्वर! (सारी प्रजाएँ) धन-धान्य से पूर्ण पृथ्वी पर प्रजातंत्र शासन होने पर उसी प्रकार तृप्त और प्रसन्न होती हैं, जिस प्रकार वर्षा करने वाले सूर्य के साथ चलने वाली किरणें स्वादिष्ट और मधुर जल ग्रहण करती और लोगों को सुखी पहुँचाती हैं।"

देश में प्रजातंत्र शासन की व्यवस्था और उसमें सन्निहित एकता की भावना ही राष्ट्रीय एकता का आधार है। जहाँ देश की प्रजा की शासन में भागीदारी होती है और वह अपने शासक को चुनने का अधिकार वहन करती है, उस शासन में व्यक्ति सुख एवं प्रसन्नता से रहता है और देश के प्रति समर्पित रहता है।

देश के हर नागरिक का कर्तव्य है कि नैतिकता की दृष्टि से देश के अतिक्रमणकारी शत्रुओं का अन्त कर दे ताकि देश की एकता एवं अखण्डता पर प्रहार करने वाले तत्त्वों का अन्त हो सके।

इत्था हि सोम इन्मदो ब्रह्म चकार वर्धनम्।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निः शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम्॥[२]

अर्थात् "हे बलवान् शस्त्रधारी योद्धा पुरुष! अपने राज्य का स्वागत करता हुआ, काले साँप के समान आक्रमण करने वाले भूमि के शत्रुओं का सत्यानाश कर, क्योंकि आनन्द में मग्न होकर स्तुति करने वाले इसी प्रकार तेरी उन्नति का वर्णन करते हैं।"

---

१. सामवेद ४/४०९
२. सामवेद ४/४१०

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते।

इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्।।[१]

अर्थात् "हे राष्ट्रपति! कोई शत्रु तेरा शस्त्र नहीं रोक सकता। तेरा बल शत्रुओं को झुका देने वाला है। **जैसे सूर्य मेघ को छिन्न-भिन्न कर जल की वर्षा करता है, ऐसे ही तू अपने शत्रुओं के सम्मुख जा, आक्रमण कर तथा उनका नाश करके अपने राष्ट्र की रक्षा कर।"**

यहाँ पर **राष्ट्रपति** का आशय किसी व्यक्ति विशेष के लिए न होकर राष्ट्र की एकता की शक्ति की ओर इंगित करके बताया जा रहा है कि **राष्ट्र की संगठन शक्ति इतनी सबल होती है कि शक्तिशाली से शक्तिशाली शत्रु भी उसके आगे टिक नहीं सकता है। जब राष्ट्र की एकता की शक्ति शत्रु के सामने चट्टान की तरह अडिग खड़ी हो जाती है तो शत्रु अपनी पराजय स्वयं ही स्वीकार कर लेता है। यही वह सशक्त आधार है जिससे कि सदैव ही राष्ट्र की रक्षा होती रहती है।**

सामवेद के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन ऋषियों, मुनियों एवं विद्वानों ने इस बात की कल्पना कर ली थी कि **ये आधार** भविष्य के मानव जीवन को संचालित करने में सक्षम एवं पर्याप्त होंगें। अत: विचारणीय विषयों एवं समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हुए उन्होंने विचार प्रस्तुत किये थे जो आज देश की राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के तत्त्व हैं। वे उस काल में भी विचारणीय एवं आदर्श प्रस्तुत करने वाले समझे जाते थे, मात्र उनमें काल के अनुसार परिवर्तन हुआ है।

२. राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में सामवेद के समाज-दर्शन का अनुशीलन :

समाज के बिना मानव जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। जीवन का निवास ही समाज में होता है और उस समाज में रहकर जीवन व्यतीत करने के लिए उसके द्वारा बनाये गये नियमों का पालन मानव जीवन के लिए अनिवार्य होता है। **जन्म से लेकर मृत्यु तक की सारी क्रियायें समाज में ही घटित होती है। इस समाज की नैतिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि वैदिक काल में ही निश्चित कर दी गई थी और प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आज का समाज भी उसी का अनुकरण करता चला आ रहा है।** इतनी स्पष्ट और सुनिश्चित परिकल्पना बनाई गई थी कि एक आदर्श समाज की रूपरेखा आज भी हमें परिलक्षित होती है।

---

१. सामवेद ४/४१३

प्राचीन समाजदर्शन का आदर्श ही वर्तमान में इसके अग्रिम अध्ययन का आधार बना। चाहे समाज की **वर्ण-व्यवस्था** हो, **आश्रम-व्यवस्था** हो या कि **नारी और परिवार** की स्थिति के बारे में निश्चित मानदण्ड हो, **सभी का आधार** आज भी हमारा **वैदिक वाङ्मय** बना हुआ है। **उस समय का समाजदर्शन आज के राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में अपना पृथक् स्थान रखता है।**

(क) वर्ण व्यवस्था :- समाज के सभी प्राणी समाज के अभिन्न अंग माने जाते हैं। इसमें सभी को समान अधिकार प्राप्त था। इसी का अनुकरण करके आधुनिक समाजशास्त्रियों ने भी समाज को एक जीवित शरीर माना है।[१] **समाजरूपी शरीर के चार अंगों में- मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य एवं पैरों से शूद्र की उत्पत्ति मानी जाती है। वैदिक काल में यह वर्ण व्यवस्था जन्म पर आधारित न होकर कर्म पर आधारित थी और जैसे शरीर के सभी अंग एक दूसरे के पूरक होते हैं और किसी भी अंग के बिना शरीर का कार्य संभव नहीं होता है,** उसी प्रकार सभी वर्ण समाज के लिए अनिवार्य हैं। इन वर्णों के बारे में **सामवेद** में इसी प्रकार उल्लेख किया गया है परन्तु उसमें एक अन्य वर्ण का भी उल्लेख मिलता है—

य आर्जीकेषु कृत्वसु ये मध्ये पस्त्यानाम्। ये वा जनेषु पञ्चसु॥ [२]

अर्थात् हे परमेश्वर! जो प्राणी सरल स्वभाव वाली योनियों में हैं, जो गृहस्थ है अथवा जो पञ्चजनों में है, (चारों वर्ण पाचवाँ निषाद), वे हमारे लिए कल्याणकारी हों।

चारों वर्णों को समाज की व्यवस्था संभालने का कार्यभार समर्पित था। ब्राह्मण वर्ण शिक्षा देने, यज्ञ कराने, दान आदि ग्रहण करने और नीति सम्बन्धी परामर्श देने वाला वर्ण था। चूँकि उसकी उत्पत्ति मुख से मानी जाती है अत: उसको सम्माननीय स्थान प्राप्त था। **क्षत्रिय वर्ण** का कार्य सुशासन स्थापना तो था ही, अन्य कार्य भी वे करते थे। **वैश्यों** के लिए पशुपालन, कृषि और वाणिज्य प्रमुख कार्य थे। परन्तु शस्त्र उठाने, देश की रक्षा करने में भी वे पीछे नहीं थे। **शूद्र वर्ण** के पास सभी वर्णों को सेवा शुश्रुषा करने का कार्य था। इसके बाद भी इन वर्णों में कहीं उच्च और निम्न होने की भावना नहीं पाई जाती थी और यही कारण है कि **वे सभी वर्ण देश और समाज के स्थायी स्तम्भ थे।**

(ख) आश्रम व्यवस्था :- वैदिक काल में सम्पूर्ण मानव जीवन को चार भागों में विभाजित कर, महत्त्वपूर्ण दायित्वों की पूर्ति हेतु समयबद्ध कर दिया गया था। वह

---

१. हर्वर्ट, स्वेन्सर इत्यादि।
२. सामवेद ८/११६४

शिक्षा ग्रहण करने के काल में पूरे २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्याध्ययन का कार्य सम्पन्न करता था। सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश की अनुमति दी जाती थी और गृहस्थाश्रम के पच्चीस वर्षों में वह अपने पुरुषार्थ की पूर्ति करता था। इसमें वह धर्म, अर्थ और काम, तीनों पुरुषार्थों का पालन करते हुए जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति की कामना करता था।

अपघ्नन्पवते मृधोऽप सोमो अराव्णः। गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम्॥[१]

अर्थात् 'आत्मा अपने अन्तस् की बुराइयों एवं दुर्गुणों का नाश करता हुआ उसे पवित्र करता है और उसके पश्चात् ही वह आत्मा मोक्ष प्राप्त करता है।'

इससे पूर्व व्यक्ति अपने जीवन की परिपक्वावस्था में गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता है। इस आश्रम में वह अपनी **तीनों एषणाओं** में से **वित्तेषणा** और **पुत्रेषणा** की पूर्ति करता है। इन एषणाओं की पूर्ति से उसकी आत्मा पूर्ण संतुष्ट हो जाती है तब वह **लोकेषणा** का त्याग करना चाहता है। परन्तु गृहस्थाश्रम में अनुभूत अनुभवों पर वह क्या-क्या चाहता है, यह निम्न मंत्र द्वारा स्पष्ट किया गया है—

अक्रांत्समुदः प्रथमे विधर्मं जनयन् प्रजा भुवनस्य गोपाः।
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे स्वानो अद्रिः॥[२]

अर्थात् 'गृहस्थाश्रम में अपनी सन्तान और इन्द्रियों का आधार पवित्र धर्म को मानकर प्रजा (पुत्र-पौत्र) को उत्पन्न करने वाले, संसार के नियम का पालन करने वाले, रक्षा के योग्य तथा सच्चा आचरण करने वाले पर कृपा की वर्षा करने वाले, शब्द, स्पर्श आदि से सीधा सम्बन्ध रखने वाले, महान् जीवन धारण करने वाले, आदर के योग्य जीवात्मा अपनी शक्ति से उन्नति करता है।'

इसमें **गृहस्थाश्रम** के दायित्वों एवं कामनाओं का पूर्ण उल्लेख किया गया है। **इस आश्रम में रहते हुए भी सबसे अधिक उत्तरदायित्व, कर्तव्यों एवं धर्म के पथ पर चलते हुए सद्मार्ग पर अग्रसर होते रहना पड़ता था।** पुरुषार्थों की पूर्ति भी इसी में रहकर करनी पड़ती थी जैसा कि उल्लिखित है—

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम्। इन्द्रꣳ सोमे सचा सुते॥[३]

अर्थात् **"सभी आश्रमों में प्रसिद्ध गृहस्थाश्रम में रहते हुए हम सब दुःखों के दमन करने वाले, वरण करने योग्य गुणों के स्वामी परमेश्वर का भजन करते हैं।"**

---

१. सामवेद ५/५१०
२. सामवेद- पूर्वार्चिकः ५/५२९
३. सामवेद- उत्तरार्चिकः १/७४१

इस प्रकार जीवन के पचास वर्ष ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम की पूर्ति में सम्पूर्ण हो जाते हैं। तृतीय आश्रम वानप्रस्थ में गृह के प्रति मोह त्याग कर घर में ही रहते हुए अपना सम्पूर्ण समय पूजा-अर्चना में व्यतीत करने का आदेश दिया गया है। वानप्रस्थ पूर्ण होने पर संन्यास आश्रम में गृह त्याग कर वन में जाकर फलाहार आदि के सहारे जप-तप में एकाकी जीवन व्यतीत करते हुए मोक्ष प्राप्ति का प्रयास करना चाहिये। **मोक्ष मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है जहाँ आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है, ऐसा उल्लेख है।**

(ग) पुरुषार्थ चतुष्टय :- पुरुषार्थ का सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन में किये जाने वाले कर्त्तव्यों और धर्मों से है। वेदों में ही उसके जीवन को चार पुरुषार्थों में विभाजित कर दिया गया था। **धर्म, अर्थ, काम** और **मोक्ष। धर्म का पालन जीवन पथ का प्रथम और अन्तिम सन्देश होता था। इसी की छत्रछाया में सारे कार्यों को सम्पन्न करना होता था।** गृहस्थाश्रम धार्मिक कृत्यों की पूर्ति करते हुए ईश्वर की प्राप्ति के लिये तथा पितृ, देव तथा ऋषि ऋण से मुक्त होने की प्रेरणा भी प्रदान करता है—

पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः।

द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे॥[१]

अर्थात् हे परमेश्वर! बल और अन्न की प्राप्ति, कामादि शत्रुओं से तरने के लिये पापों का नाश करने वाला तू, हमें पितृ, देव तथा ऋषि ऋण से अवगत कराता है और उससे मुक्ति पाने के लिये हमें प्रेरित करता है।

पुरुषार्थों के द्वारा ही वह जगत् के कल्याण करने का प्रयास करता है। यह सभी व्यवस्थायें जीवन को संयमित एवं मर्यादित करने के लिये निश्चित की गई हैं। वह अर्थोपार्जन करता है, तो धर्मानुसार। अधर्म से अर्जित किये गये धन से यज्ञ आदि कर्म भी सफल नहीं हो सकते हैं। **अर्थ अर्जित करने का उद्देश्य भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए व्यय करना नहीं है अपितु धार्मिक कृत्यों, यज्ञ, दान, आदि में व्यय करना है।** काम पुरुषार्थ की व्यवस्था का सीधा सम्बन्ध गृहस्थ आश्रम से जुड़ा हुआ है। **काम मात्र वासनाओं की पूर्ति का साधन नहीं अपितु सृष्टि को कायम रखने की परम्परा की भी पूर्ति करने से है। पति-पत्नी दोनों के ही द्वारा इसे धार्मिक कृत्य समझकर ही पूर्ण किया जाता है।** मोक्ष का सम्बन्ध शेष तीन पुरुषार्थों से अलग है क्योंकि उन सभी की पूर्ति के पश्चात् मोक्ष के लिए जप, तप करने का आदेश किया गया है और इसके लिए वह सांसारिक मोह-माया आदि से मुक्त हो जाता है।

---

१. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः ४/४२८

नारी की स्थिति– वैदिक काल में पुरुष एवं स्त्री में कोई भेद नहीं किया गया था क्योंकि बचपन से ही बालक एवं बालिकाओं के विकास में समान दृष्टिकोण अपनाया गया था। **उन्हें ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए शिक्षा देने का प्राविधान था।** गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने पर वे गृह की सुव्यवस्था, बच्चों के समुचित लालन-पालन के साथ ही अग्निहोत्र में भाग लेती हुई पति के धर्मानुष्ठान में भी साहचर्य निभाती थीं। उनको पूर्ण सम्मान प्राप्त था, उनके बिना सुगृह की कल्पना नहीं की जा सकती थी—

महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती।

यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते॥[१]

अर्थात् हे श्रेष्ठ गुणों वाली! धागे के समान सन्तान का विस्तार करने वाली! सत्य और मधुर बोलने वाली कुलीन स्त्री! मनुष्य जैसे चमकती हुई उषा देवी के उदय होने पर महान् धन के उपार्जन के लिए अपने-अपने कामों में लग जाते हैं, ऐसे ही आज तू भी सम्पत्ति, विद्या तथा सच्ची कीर्ति के लिए ज्ञान का प्रकाश दें।

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति।

येन तोकं च तनयं च धामहे॥[२]

अर्थात् "हे धन आदि का संचय करने वाली उषा के तुल्य पवित्राचरण युक्त स्त्री! तू हमें वह सौभाग्य दे जिससे कि हम पुत्र और पौत्र को भी धारण कर सकें।"

स्त्री को समाज में सम्मानीय स्थान देना उस राष्ट्र के निर्माण में एक सकारात्मक पग है क्योंकि भावी नागरिकों की प्रथम शिक्षक माँ ही होती है और माँ द्वारा दी गई शिक्षा अबोध मस्तिष्क पर अपना प्रभाव जीवनपर्यन्त बनाये रखती है। स्त्री कभी भी अपने पुत्र एवं पुत्रियों को विघटनात्मक पथ पर जाने का परामर्श या शिक्षा नहीं दे सकती है।

५. विवाह :– मानव जीवन में विवाह मात्र एक संस्कार नहीं है अपितु उसका सम्बन्ध धर्म, देश और काल सभी को प्रभावित करने वाला होता है। बाल विवाह जैसी कुप्रथा उस समय नहीं पाई जाती थी। **विवाह वर और कन्या दोनों के ही पूर्ण यौवन प्राप्त करने पर एवं शिक्षा पूर्ण होने पर ही होता था। कन्या को सुयोग्य पति चयन की स्वतंत्रता प्राप्त थी। वर्ण का भेद इसमें कोई स्थान नहीं रखता था।**

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसोः सूनूँ।

सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्॥

---

१. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः ४/४२१

२. सामवेद- उत्तरार्चिकः १९/१७३१

य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा।

घृतस्य विभ्राष्टिमनु शुक्रशोचिष आजुह्वानस्य सर्पिषः॥[१]

अर्थात् ' हे कन्ये! जो पुरुष उत्तम विद्या से कल्याणकारी यज्ञ करने वाला हो, विद्वानों को प्राप्त होने वाली ईश्वर की कृपा से मनोहर हो, जो होम के लिए प्राप्त करने में योग्य शुद्ध पवित्र घी के साथ अनेक प्रकार के पदार्थ को पकाने वाली अग्नि के समान तेजस्वी हो, जो प्रसिद्ध विद्वान् पुरुष के समान विद्या को भी प्रकट करने की शक्ति रखता हो, मैं ऐसे पुरुष को ही पति स्वीकार करती हूँ, तू भी ऐसा ही कर।'

इस तरह विवाह संस्कार में जाति या वर्ण का कोई भी अवरोध नहीं था। इस तरह की स्वतंत्रता लोगों के मध्य वैमनस्य या संकीर्णता की भावना उत्पन्न नहीं होने देती है और सम्पूर्ण विश्व हमारा परिवार है, ऐसी भावना जागृत होती है और ये सभी स्थितियाँ देश की एकता और अखण्डता के लिए काल में पाये जाने वाले सकारात्मक घटक कहें जायेंगे।

३. राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में सामवेद के राजदर्शन का अनुशीलन–

सामवेद काल में राजनैतिक व्यवस्था भी आदर्श थी, जिसमें सम्पूर्ण राष्ट्र में एकता एवं अखण्डता की भावना की अनुभूति होती थी। वैदिक काल में स्वराज्य शासन प्रणाली का प्राविधान दृष्टिगोचर होता है। **स्वराज्य का वास्तविक अर्थ है– ''आत्म नियंत्रण या स्वयं के ऊपर शासन। जहाँ मानव स्वशासित होता है वहाँ पर किसी अन्य नियंत्रण की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है।** राजा के बारे में एक आदर्श व्यक्ति का स्वरूप चित्रित मिलता है जो कि परम हितैषी, न्यायकारी, विद्वान् पुरुष ही हो सकता है और ऐसे राज्य में सुख शान्ति की ही कल्पना की जा सकती है—

यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा। न किः स दभ्यते जनः॥[२]

अर्थात् **हे मनुष्यों! हितैषी, न्यायकारी राजा और उत्तम ज्ञानी पुरुष जिस मनुष्य की रक्षा करते हैं, कोई उन्हें हानि नहीं पहुँचा सकता है।**

जिस राष्ट्र का राजा ही योग्य व न्यायी होगा उसकी समृद्धि और सुख शान्ति पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। स्थान-स्थान पर राजा के लिए कर्त्तव्यों के निर्देश दिये गये हैं—

---

१. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः ४/४६५

२. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः २/१८५

कदा वसो स्तोत्रꣳहर्यत आ अव श्मशा रुधद्वाः।
दीर्घꣳ सुतं वाताप्याय॥[१]

अर्थात् हे ऐश्वर्यवान् राजन्! जब कभी जल-वृष्टि रुक जावे, तब वेदप्रेमी महान् प्रजावर्ग को जल प्रदान करने के लिए नहर बनवाओ।

योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि तमा नृभिः पुरुहूत प्र याहि।
असो यथा नोऽविता वृधश्चिद्ददो वसूनि ममदश्च सोमैः॥[२]

अर्थात् 'हे राष्ट्रपति! सभा के स्थान में तेरा मंच बना दिया गया है। हे बहुमत प्राप्त करने वाले! तू सहायक मनुष्यों के साथ उस मंच पर विराजमान हो, जिस प्रकार हमारी रक्षा और उन्नति कर सके, कर। हमें हमारी सम्पत्तियाँ दे और स्वयं भी योग्य पदार्थों से तृप्त हो।'

स्वादोरित्था विषूवतो मधोः पिबन्ति गौर्यः।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभथा वस्वीरनु स्वराज्यम्॥[३]

"हे ईश्वर! (सारी प्रजायें) धन-धान्य से पूर्ण पृथिवी पर प्रजातंत्र शासन होने पर उसी प्रकार तृप्त और प्रसन्न होती हैं, जिस प्रकार वर्षा करने वाले सूर्य के साथ चलने वाली किरणें स्वादिष्ट और मधुर जल ग्रहण करती और लोगों को सुखी करती हैं।"

प्रजातंत्र शासन की अवधारणा उस समय भी विद्यमान थी और इसी को सर्वश्रेष्ठ भी माना जाता था। अनावश्यक अतिक्रमण या अधिकारों का हनन किसी भी समय अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। आज का प्रजातंत्र और राष्ट्र की एकता और अखण्डता का सन्देश वैदिक युग से ही प्राप्त किया गया प्रतीत होता है। राष्ट्र का स्थान व्यक्ति के जीवन में सर्वोपरि रहा है। राष्ट्र की शत्रुओं से रक्षा करना सबका एक मात्र ध्येय रहता था।

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यꣳसते।
इन्द्र नृम्णꣳ हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्॥[४]

अर्थात् हे राष्ट्रपति! कोई शत्रु तेरे शस्त्र को नहीं रोक सकता। तेरा बल शत्रुओं को झुका देने वाला है। जैसे सूर्य मेघ को छिन्न-भिन्न कर जल की वर्षा करता है, ऐसे

---

१. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः २/२२८
२. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः २/३१४
३. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः ४/४०९
४. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः ४/४१३

ही तू अपने शत्रुओं के सम्मुख जा, आक्रमण कर तथा उनका नाश करके अपने राष्ट्र की रक्षा कर।

राष्ट्र की रक्षा उसकी अखण्डता से जुड़ी हुई है और इसी के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र एक होकर शत्रुओं का सामना करने के लिए तैयार रहता है।

वेदों में राष्ट्र-भक्तों को मातृभूमि के पुत्र और पृथिवी को उनकी माता बतलाया गया है। इसी भावना का विकास करते हुए ही कहा गया है कि **राष्ट्र के निवासियों में किसी भी प्रकार की ज्येष्ठता और कनिष्ठता की भावना नहीं होना चाहिए** और सामान्य रूप से प्रयत्नशील होते हुए राष्ट्र की उन्नति में तत्पर रहना चाहिये। ऐसे ही विचारशील मनुष्यों से राष्ट्र उत्तम फल की आशा कर सकता है जो राष्ट्र की सामूहिक हित की कामना को पूर्ण करने में सक्षम हो सकते हों। परमेश्वर से यही प्रार्थना की गयी है कि इस प्रकार की भावना जनमानस में अधिकाधिक रूप से विद्यमान हो। इसी प्रकार किसी नवोदित देश या राष्ट्र का सहज कल्याण हो सकता है। इस प्रकार की उदात्त भावना का शुद्ध रूप हमें **अपने देश भारतवर्ष के संविधान की प्रस्तावना या घोषणा पत्र में भी दृष्टिगोचर होता है जो कि उसके सबसे प्रथम मुखपृष्ठ पर ही** इस प्रकार अंकित है—

''भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख २६ नवम्बर १९४९ ई० (मिति मार्गशीर्ष शुक्ल ६ सम्वत् २००६ वि०) को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।''

इसमें समाहित सभी गुण हमें वैदिक काल के राजदर्शन से ही प्राप्त हो रहे हैं।

४. राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में सामवेद के धर्मदर्शन का अनुशीलन–

भारत में मानव जीवन की संचालनशक्ति धर्म को ही माना गया है और यही **कारण है कि व्यक्ति आज भी धार्मिकता से अपने आपको पृथक् नहीं कर पाता है। वह पाप और पुण्य की अवधारणा में बँधा हुआ है।** वैदिक साहित्य में तो जीवन के उद्देश्यों में प्रमुख 'धर्म' को ही माना गया था, कालान्तर में इसके स्वरूप में परिवर्तन

अवश्य हुआ लेकिन मानवमस्तिष्क में आज भी इसका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। सामवेद में इसके बारे में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है—

प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरैरमूरं पुरां दर्माणम्।
नयन्तं गीर्भिर्वना धियं धा हरिश्मश्रुं न वर्मणा धनर्चिम्॥[१]

अर्थात् 'हे मनुष्य! तू भूमि के चलाने वाले, महान् बुद्धिमानों के रक्षक, मूर्खों के द्वारा न जानने योग्य, मूल रहित वेदवाणी द्वारा, ज्ञान और रक्षा द्वारा, प्रशंसनीय सुख को प्राप्त कराने वाले सूर्य के समान धनों के स्वामी परमेश्वर को धारण कर।'

मा नो हृणीथा अतिथिं वसुरग्निः पुरुप्रशस्त एषः।
यः सुहोता स्वध्वरः॥[२]

अर्थात् हे मनुष्य! जो परमेश्वर उत्तमदाता कल्याणकारी यज्ञ का स्वामी, सब का बसाने वाला तथा अत्यन्त प्रशंसनीय है, उस हमारे पूजनीय देव के प्रति क्रोध या अनादर का भाव मत करो।

ईश्वर सदैव पूजनीय है, उसका स्वरूप अवर्णनीय है। वह सदैव ही मानव मात्र का सहायक होता है। उसकी स्तुति से सदैव कल्याण ही होता है। उसकी आराधना करते हुए संसार में सद्कर्मों और परोपकार में ही जीवन व्यतीत करना उचित होता है। पाप कर्मों का त्याग, जीव मात्र के प्रति दया, यज्ञ और स्तुतियों के द्वारा परमेश्वर की आराधना ही जीवन के प्रमुख उद्देश्यों में समाहित होना चाहिए। जीवन की पूर्णता इसी में व्याप्त है।

वृत्रस्य त्वा श्वसथादोषमाणा विश्वेदेवा अजहुर्ये सखायः।
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि॥[३]

अर्थात् हे जीवात्मा! जो इन्द्रियाँ तेरी मित्र होती हैं, वे भी पाप के श्वास से ही प्रभावित होकर तेरा साथ छोड़ देती है। केवल प्राण ही तेरे साथी होते हैं। जब ये साथ देते हैं तो पाप की सारी सेना को तू जीत लेता है।

त्वꣳ ह त्यत्सप्तभ्यो जायमानोऽशत्रुभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र।
गूढे द्यावापृथिवी अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः॥[४]

---

१. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः १/७४
२. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः १/३४
३. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः १/३२४
४. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः ३/३२६

अर्थात् हे जीव! तू मित्ररूप सात इन्द्रियों के लिए उत्पन्न होकर भोगों में फँसा हुआ उनका शत्रु बन जाता है। तू अत्यन्त गूढ़, द्यु एवम् पृथिवी लोक में भी कर्मानुसार प्राप्त होता है। तू ऐश्वर्यशाली लोकों की प्राप्ति के लिए जीवन संग्राम को धारण करता है।

जीवन में ज्ञान और कर्म का उपदेश ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि शास्त्रों के अनुसार कर्मों का फल मनुष्य को सदैव ही प्राप्त होता है। सद्कर्मों का फल जीवन में सद् ही प्राप्त होता है और दुष्कर्मों का फल सदैव बुरा ही हो सकता है। इस अवधारणा से व्यक्ति का जीवन भी नियंत्रित होता है क्योंकि उसे कर्मफल का भय सदैव ही भयभीत करता रहता है।

अचेत्यग्निश्चिकितिर्हव्यवाट् न सुमद्रथः॥[१]

अर्थात् ''परमात्मा को सब जानते हैं और वह भी सबको जानता है। परमात्मा मनुष्यों को उनके भले और बुरे कर्मों के फल तथा योग्य पदार्थों को देता है। शुद्ध ज्ञान ही भगवान् का रथ है।''

धर्म के अनुसार मनुष्य की अन्तिम गति मोक्ष प्राप्त करने की होती है और वह इस शाश्वत सत्य को कभी नहीं भूलता कि मृत्यु अवश्यम्भावी है और उसे मोक्ष प्राप्ति हेतु जप-तप करने में रत रहना है। यह उसके जीवन का महत्त्वपूर्ण चरण होता है।

तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः। तरत्स मन्दी धावति॥[२]

अर्थात् जो पुरुष अन्नरूप सुन्दर गिरायी हुई सोमरस की धारा से यज्ञ करता हुआ परमेश्वर की स्तुति करता है, वह स्तुति करने वाला अवश्य ही तर जाता है। अर्थात् उत्तम गति पाता है।

एते असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः। विश्वान्यभि सौभगा॥[३]

अर्थात् सब शुभगुणों से युक्त यज्ञ, दुःखों से पार लगाने वाले पवित्र निष्काम कर्म और समस्त संपदाओं की प्राप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं।

इस प्रकार सामवेद में वर्णित धर्मदर्शन अन्य वेदों से पृथक् नहीं है। वेदों के अनुसार मानव जीवन धर्माचरण से युक्त नैतिकता की प्रमुखता वाला था। इसमें ईश्वर, राष्ट्र, परिवार सभी की महत्ता को स्वीकार किया गया है। राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में इस दर्शन के अनुसार इस भावना को दृढ़ता प्राप्त

---

१. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः ४/४४
२. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः ५/५००
३. सामवेद भाषाभाष्ये- उत्तरार्चिकः ४/८३०

होती है। दुष्ट, पापियों और अनाचारियों के मर्दन का सदैव वर्णन मिला है। वे व्यक्ति जो मानव, समाज और राष्ट्र के लिए घातक हों, उन्हें पापी और अनाचारी के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है। ऐसे व्यक्तियों से ही देश और समाज को हानि हो सकती है। इससे यह **स्पष्ट** है कि **सामवेद** में धर्मदर्शन द्वारा एकता और अखण्डता के लिए भी समुचित वातावरण प्रस्तुत किया गया है।

५. राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में सामवेद के आचार-दर्शन, शिक्षा-दर्शन एवम् अर्थ-दर्शन का अनुशीलन–

मनुष्य के आचार-विचारों की शुद्धता से ही सम्पूर्ण व्यक्तित्व के बारे में आकलन किया जा सकता है। नैतिकता का जीवन में समावेश ही उसके जीवन को मानवीय बनाता है। नीति के अनुसार आचार-विचार का अनुकरण करने वाले समाज से एक आदर्श समाज एवं राष्ट्र का निर्माण होता है। एक आदर्श समाज से ही एकता सूत्र में आबद्ध राष्ट्र तैयार होता है। नीति में अपनी अदृश्य शक्ति होती है जो मानव को आत्मिक बल प्रदान करती है।

अग्निमिन्धानो मनसा धियꣳ सचेत मर्त्यः। अग्निमिन्धे विवस्वभिः॥[१]

अर्थात् **''मनुष्यों को चाहिए कि वह योग की अग्नि को प्रदीप्त करता हुआ मन के साथ बुद्धि को संयुक्त करे और ज्ञान-ज्योतियों से अपने अन्दर परमेश्वर को प्रकाशित करे।''**

न कि देवा इनीमसि न क्या योपयामसि। मन्त्रश्रुत्यं चरामसि॥[२]

अर्थात् हे विद्वान् पुरुषों! हम न तो किसी की हिंसा करते हैं और न किसी को पथभ्रष्ट ही करते हैं, अपितु **जैसा वेद कहता है उसी के अनुसार आचरण करते हैं।**

यही कारण है कि **वेदों में सूक्ष्म से सूक्ष्म और बृहत् से बृहत् विषय को स्पष्ट रूप से वर्णित किया गया है,** चाहे वह देवों से सम्बन्धित आचार व्यवहार हो या माता-पिता, पति-पत्नी, भृत्यादि के साथ किया गया व्यवहार।

मा चिदन्यद्वि शꣳसत सखायो मा रिषण्यत।

इन्द्रमित्स्तोता वृषणꣳ सचा सुते मुहुरुक्था च शꣳसत॥[३]

अर्थात् **हे मित्र! सत्य के विपरीत मत बोलो। किसी को दुःख मत दो, कामनाओं**

---

१. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः १/१९
२. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः २/१७६
३. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः ३/२४२

की पूर्ति करने वाले ईश्वर की सम्मिलित स्तुति करो, जगत् में वेद मंत्रों का पाठ करो।

सत्य ही ईश्वर है और ईश्वर ही सत्य है, इसीलिए सत्याचार ही जीवन का आदर्श होना चाहिए। दूसरों के प्रति दया का भाव, सहानुभूति और सहयोग की भावना, मानव व्यवहार के वह उजले पक्ष हैं जो एक मनुष्य को उच्चता की ओर ले जाते हैं।

परि त्यं॑ हर्यतं॑ हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण।

यो देवान् विश्वाँ॑ इत् परि मदेन सह गच्छति॥[१]

अर्थात् **''जो प्रसन्नता के साथ विद्वान् और अतिथियों की सेवा करता है उस कमनीय तथा भरण के योग्य मनुष्य को संसार के सभी उत्तम पदार्थ अपने उत्तम गुण के सहित प्राप्त होते हैं।''**

राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के लिए उच्च चरित्र के नागरिकों की आवश्यकता होती है और सद्आचरण के लोगों के आचार-विचार में नैतिकता और मानवता का समावेश होना चाहिए।

शिक्षा दर्शन – वैदिक शिक्षा पद्धति का प्रमुख उद्देश्य मानव की प्राकृतिक शक्तियों को सुविकसित कर उसे जीवन के सागर में आने वाले झंझावतों से लड़ने की शक्ति प्रदान करने में समर्थ बनाना था। शिक्षा का संबंध ब्रह्मचर्य आश्रम से भी है। उस समय विद्यार्थियों को **ब्रह्मचारी** एवं **ब्रह्मचारिणी** कहा जाता था। अपना सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित करके शिक्षा व विद्या ग्रहण करना ही इनका उद्देश्य था। वैसे **ब्रह्मचर्य** का प्रथम **ब्रह्म** शब्द **वेद, तप** और **सत्य का वाचक** है। तपस्या के अनुष्ठानपूर्वक वेद और सत्य का ज्ञान प्राप्त करना ही विद्यार्थी का धर्म था, जिससे वह मृत्यु तक पर विजय प्राप्त कर सके।

शिक्षक और उपदेशक भी अपने अक्षुण्ण ज्ञान को नि:स्वार्थ भाव से विद्यार्थियों को देने को अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। सम्पूर्ण ज्ञान से जन-जन को शिक्षित करके समाज को सुशिक्षित बनाना उनके लिए प्रसन्नता का विषय होता था और वे भी अपने शिष्यों की दृष्टि में परम पूज्य गुरु होते थे।

इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना।

अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशं विशं॑ हि गच्छथ:॥[२]

---

१. सामवेद भाषाभाष्ये- उत्तरार्चिक: १८/१६८१

२. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिक: ३/३०४

अर्थात् "हे अध्यापक और उपदेशक! दिव्यगुण चाहने वाले सभी लोग, ज्ञान को आश्रय देने वाले तुम दोनों को पुकारते हैं। मैं भी तुम दोनों का आह्वान करता हूँ। तुम लोग ज्ञान का उपदेश देने के लिए प्रजा के पास जाते हो।"

अत्यायातमश्विना तिरो विश्वा अहꣳ सना।

दस्रा हिरण्यवर्तनी सुषुम्णा सिन्धुवाहसा माध्वी मम श्रुतꣳ हवम्॥ २॥[१]

अर्थात् "हे अध्यापक और उपदेशक! मैंने समस्त विद्याओं को आपसे पढ़ा है। सदा हमारे दु:ख को दूर करने वाले, हिरण्य आदि का प्रयोग बताने वाले, परमेश्वर तक पहुँचाने वाले, मधुविद्या के ज्ञाता, आप लोग मेरी पुकार सुनें और मुझे संसार-सागर से पार लगावें।"

शिक्षा से वंचित स्त्री व पुरुष के बारे में वैदिक काल में सोचना व्यर्थ ही है। गुरु को ईश्वर से साक्षात्कार कराने वाला स्वीकार किया गया है—

गुरु बिन होय न ज्ञान।

गुरु ही अज्ञानरूपी अंधकार को हटाकर उसमें ज्ञानरूपी प्रकाश का सूर्य चमकाता है और व्यक्ति उसी प्रकाश में जीवन को अच्छे विचारों से देखता एवं भोगता है।

उस समय की शिक्षा मात्र ज्ञान के लिए ही नहीं अपितु सभी क्षेत्रों में इसका विकास था। शिल्प विद्या को भी प्रमुख स्थान दिया जाता था। आज का विज्ञान जो कुछ उपलब्ध करा रहा है उसकी रूपरेखा एवं उपस्थिति उस काल में भी थी।

अश्विना वर्तिरस्मदा गोमद्दस्रा हिरण्यवत्।

अर्वाग्रथꣳ समनसा नि यच्छतम्॥[२]

अर्थात् "हे शिल्प विद्या के पढ़ने और पढ़ाने वाले! शिल्पज्ञान के विघ्नों को दूर करने तथा समान मन वाले तुम लोग हमारे लिए गौ और सुवर्ण आदि की प्राप्ति का मार्ग दिखलाओं तथा हमें विमान आदि साधन भी प्रदान करों।"

इसके साथ ही मनुष्यों को भी निर्देश दिया गया है कि वे अपने पुत्र-पौत्रों की शिक्षा के लिए विद्वान् आचार्य को ही नियुक्त करें।

अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम्। अच्छा नप्त्रे सहस्वते॥[३]

---

१. सामवेद भाषाभाष्ये- उत्तरार्चिकः १९/१७४४

२. सामवेद भाषाभाष्ये- उत्तरार्चिकः १९/१७३४

३. सामवेद भाषाभाष्ये- उत्तरार्चिकः ५/९४६

अर्थात् "हे मनुष्यों! तुम लोग अपने पुत्र, पौत्र आदि को बलवान्, विद्वान्, बनाने के लिए शिक्षायज्ञ की वृद्धि करने वाले महान् विद्वान् आचार्य की सेवा में उपस्थित हो।"

शिक्षा से ही चरित्र एवं व्यक्तित्व का निर्माण होता है। नागरिकों की शिक्षा और चरित्र से राष्ट्र की आधारशिला दृढ़ होती है। इससे व्यक्ति का योगदान देश व समाज के लिए उत्तम होता है। वैदिककालीन शिक्षा की भूमिका आज के सन्दर्भ में भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

अर्थदर्शन– वैदिक युग में **अर्थदर्शन** आज के सन्दर्भ में भी उल्लेखनीय है। किसी भी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को सुचारु गति देने के लिए राष्ट्र की कृषि और खनिज सम्पदा का विशेष महत्त्व होता है। आर्थिक दृष्टि से पृथिवी के प्रति पूर्ण जागरुकता विद्यमान थी।

अभ्यर्ष स्वायुध सोम द्विबर्हसं रयिम्। अथा नो वस्यसस्कृधि॥[१]

अर्थात् "हे मनुष्यों के रक्षक परमेश्वर! तू हमें द्युलोक तथा पृथिवी पर फैले धन को प्राप्त करा और हमें उन्नत कर।"

पृथिवी से प्राप्त खनिज पदार्थों से भी राष्ट्र की समृद्धि में वृद्धि होती है और पृथिवी अपने गर्भ में सुवर्ण, रजत और न जाने कितने खनिजों को छिपाये बैठी है, जो हमारे राष्ट्र की समृद्धि का प्रतीक है। इन सबके प्रति मोह वैदिक काल में कहीं भी परिलक्षित नहीं होता था–

सुता इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः। सोमा अर्षन्तु विष्णवे॥[२]

अर्थात् "हमारे शास्त्रीय विचार, विद्युत, वायु, जल, सुवर्ण आदि खनिज पदार्थ तथा यज्ञादि व्यापक परमेश्वर के ज्ञान के लिए हों।"

आर्थिक दृष्टि से समृद्धि ही राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता में सहायक होती है क्योंकि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न राष्ट्र आत्मनिर्भर होता है और विदेशी सहायता के लिए उसे पराश्रित नहीं होना पड़ता है। स्वयं की शान्ति का आधार देश का हर क्षेत्र में उन्नतिशील होना ही है। आज के सन्दर्भ में भी यही विषय विचारणीय है कि देश में उपलब्ध स्वदेशी वस्तुओं को प्रयोग करके आत्मनिर्भर बनें तथा अपने स्थान को विश्वमानचित्र में सम्मानीय बनाये रखें।

---

१. सामवेद भाषाभाष्ये– उत्तरार्चिकः ७/१०५३
२. सामवेद भाषाभाष्ये– उत्तरार्चिकः ७/७६६

६. राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता को सामवेद का प्रदेय–

राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति हमारे प्राचीन वैदिक वाङ्मय से ही सुरक्षित है। यदि एक-एक पक्ष पर गूढ़ता से विचार किया जाय तो ''मातृभूमि'' को जननी माना जाता है। मातृभूमि या राष्ट्र की सुरक्षा सर्वोपरि होती है। इसके लिए भी वेदों में विचार किया गया है। महान्, सत्यनिष्ठा, सरलता, प्रचण्ड क्षात्र-तेज धर्मानुष्ठान एवं कर्त्तव्यपालन का गुण प्रत्येक शुभ कार्य को दक्षतापूर्वक सम्पन्न करना, ज्ञान और समर्पण की भावना ''**मातृभूमि**'' (राष्ट्र अथवा देश) को धारण अथवा पालन-पोषण करने में सक्षम होते हैं। **वह मातृभूमि भूतकाल और भविष्य में तथा मध्य के आने वाले वर्तमानकाल के सकल पदार्थों की पालन करने वाली है।** ऐसी वह मातृभूमि हमारी उन्नति के लिए अत्यन्त विस्तृत स्थान अथवा अवसर प्रदान करे।

मातृभूमि के प्रति प्रेम व निष्ठा सिर्फ वर्तमान काल का ही विषय नहीं है, अपितु जब से पृथ्वी और मानव का अस्तित्व संज्ञान में आया तभी से मातृभूमि और उसके पुत्रों में अगाध प्रेम की भावना पाई जाती है। **यह भावना ही देश की अखण्डता का प्रतीक है। मातृभूमि के शासन के लिए 'स्वशासन' और 'प्रजातंत्र' की अवधारणा आज आधुनिक काल की कल्पना नहीं है बल्कि इसका उल्लेख वैदिक साहित्य से ही प्राप्त हो चुका है।**

आ न इन्द्रो शातग्विनं गवां पोषः स्वक्ष्यम्। वहा भगत्तिमूतये॥[१]

अर्थात् हे परमेश्वर! हमें रक्षा के लिए इन्द्रियों में सैकड़ों प्रकार के बल से युक्त पुष्टि, राष्ट्र का संगठन तथा मान-प्रतिष्ठा प्रदान कर। ''इस मंत्र के द्वारा देश के प्रत्येक नागरिक के मन में व्याप्त विचारों का उद्घाटन होता है कि उसकी अपनी मातृभूमि के प्रति क्या भावनायें हैं?''

देश की एकता और अखण्डता को चुनौती देने वालों के लिए मातृभूमि के साहसी पुत्रों द्वारा सिंहनाद करने का उल्लेख सामवेद में है—

आ बुन्दं वृत्रहा ददे जातः पृच्छाद्वि मातरम्।
क उग्राः के ह शृण्विरे॥[२]

अर्थात् **'शास्त्र विद्या में निपुण वीर शस्त्र हाथ में लेकर (मातृभूमि की प्रजा) से पूछे कि कौन-कौन देशद्रोही यहाँ निवास करते हैं?'**

---

१. सामवेद भाषाभाष्ये- उत्तरार्चिकः ४/८३५
२. सामवेद भाषाभाष्ये- पूर्वार्चिकः २/२१६

यह उद्घोषणा इस बात का प्रतीक है कि देश की एकता एवं अखण्डता के प्रति हर सैनिक उस समय भी जागरूक था और उसी के अनुरूप आज भी देश की सीमाओं से लेकर आन्तरिक महत्त्वपूर्ण स्थलों पर तैनात सैनिक मातृभूमि के दुश्मनों के अस्तित्व को समाप्त करने के लिए संकल्पबद्ध है। इसमें देश में फैले या बाहर से प्रवेश करने को घात में बैठे शत्रुओं का दमन करना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। इस बात का संकेत इस ग्रन्थ से प्राप्त हो चुका है।

इस ग्रन्थ से इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि सभी राष्ट्रवासी देश रूपी शरीर का अभिन्न अंग है और किसी एक भी अंग के क्षतिग्रस्त या दूषित हो जाने पर जिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर विकारग्रस्त हो जाता है, उसी प्रकार राष्ट्र में भी यदि मतभेद रूपी विकार का समावेश हो जाता है तो वह राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता के लिए घातक बन सकता है। सम्पूर्ण शरीर को स्वस्थ रहना आवश्यक है वह चाहे शारीरिक रूप से हो या मानसिक रूप से। व्याधियों को आश्रय देना ही नहीं चाहिए और न ही उनके प्रति असावधान होना चाहिए। इस बारे में निम्न पंक्तियों का उल्लेख प्रासंगिक है—

यस्य ते नू चिदादिशं न मिनन्ति स्वराज्य
न देवो नाध्रिगुर्जन॥[१]

अर्थात् यदि राज्य या राष्ट्र का आदर्श रूप में उसका संचालन किया जाये तो सूर्य की तरह अटल रह सकता है और प्रबलतम शत्रु या विरोधी भी किसी दशा में उसमें तनिक भी हानि पहुँचाने में समर्थ नहीं हो सकते हैं।

आज भी देश में विद्यमान अनेकता में एकता का रहस्य यही है कि हम वैदिक काल से जिन संस्कारों को धारण करते आये हैं, वे परिष्कृत रूप में सदैव विद्यमान रहेंगे।

---

१. सामवेद भाषाभाष्ये– उत्तरार्चिकः ४/१३२

षष्ठ अध्याय

अथर्ववेद में राष्ट्रीयएकता एवम् अखण्डता का अनुशीलन

अथर्ववेद में निरूपित राष्ट्रीयएकता एवम् अखण्डता के आधारतत्त्व :

वेदों के अनुशीलन से हमें उस काल के राजनैतिक व्यवस्था के बारे में ज्ञान होता है। राज्य या राष्ट्र के बारे में तब विचार किया गया जब वैचारिक मतभेद के कारण विभिन्न राष्ट्रों के मध्य युद्ध की स्थिति प्रकट होने लगी और उस समय राजा और राष्ट्र के बारे में स्पष्ट रूप से विचार किया गया और उसका चयन किया गया। राष्ट्र का शासक राजा होता है लेकिन राष्ट्र की सम्पूर्ण शक्ति उसकी प्रजा में ही समाहित होती है। उसके लिए **स्वराज्य** की कल्पना की गई है जो अथर्ववेद में उल्लिखित है–

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः।
यदुजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम्।।[१]

अर्थात् ''जो अज आदि से उत्पन्न हुआ, उसने उस स्वराज्य की प्राप्ति की जिससे दूसरा कोई भूत महत्तर नहीं है। स्वराज्य की उत्कृष्ट वरिमा और गरिमा यहाँ प्रकट हुई है। स्वराज्य से उच्चतम कुछ भी नहीं है। **यह मंत्र भारतीय गणतंत्र के लिए भी राष्ट्रगान के रूप में संग्रहणीय है।''**

इस मंत्र के द्वारा राष्ट्र की संचालन विधि को उत्तम ढंग से किस तरह प्रयोग किया जा सकता है, उसका वर्णन किया गया है। **राष्ट्रीयएकता एवम् अखण्डता के लिए राज्य संचालन की विधि से ही प्रजा संतुष्ट रहती है** और राष्ट्र के प्रति सद्भाव, सद्विचार मनुष्य तभी रख पाता है जबकि वह अपने आपको सुरक्षित एवं शान्तिपूर्ण राजनैतिक स्थितियों में पाता है। राष्ट्रभक्तों या देश के वासियों के लिए कुछ कर्तव्य निर्धारित किये जाते हैं जिसमें राष्ट्र की एकता और अखण्डता का अस्तित्व सुरक्षित रहता है। दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि **स्वराज्य** में ही राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता सुरक्षित रहती है क्योंकि **स्वशासन से ही स्वराष्ट्र का अस्तित्व बना रह सकता है। विदेशी शासन में चाहें जितनी उत्तम व्यवस्था क्यों न हो, स्वशासन से श्रेष्ठ किसी भी स्थिति में नहीं हो सकता है।**

---

१. अथर्ववेद १०/७/३१

वैदिक काल में राष्ट्र के रक्षार्थ यज्ञादि कार्य सम्पन्न किये जाते थे और इन यज्ञों में राष्ट्र की समृद्धि और उन्नति की कामना की जाती थी ताकि राष्ट्र को सभी ऐश्वर्य प्राप्त हो सकें और अपने अस्तित्व के लिए वह रक्षा में स्वयं सक्षम हो सकें।

इमं होमा यज्ञमवतेमं संस्रावणा उत।
यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्येण हविषा जुहोमि॥[१]

अर्थात् इस मंत्र के द्वारा सम्पन्न होने वाले यज्ञों और होमों को सम्बोधित करके कहा गया है कि आप इस यज्ञ की, यज्ञकर्ता पुरुष की या यज्ञमय राष्ट्र की रक्षा करें और हे समस्त ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाले उपायों! तुम भी इस यज्ञपति और राष्ट्रपति की रक्षा करो।

ऐसे राष्ट्र में राजा के बारे में भी यह आशा की जाती है कि वह राष्ट्रपालक हो। राष्ट्र का ठीक तरह से पालन होने से ही प्रजा उसके प्रति श्रद्धावान एवम् समर्पित होती है। **यह समर्पण ही वह भावना है जो कि राष्ट्रवासियों के लिए और राष्ट्र के लिए बहूमूल्य होती है–**

बृहस्पतिः समजयद् वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एषः।
अपः सिषासन्त्स्व१रप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः॥[२]

अर्थात् एक बृहत् राष्ट्र का पालक राजा ऐश्वर्यों आदि पर विजय प्राप्त करता है। इस विजय से वह गौ पशुओं से सम्पन्न बड़े समूहों पर विजय प्राप्त करता है। वह स्वयं किसी से भी विरोध द्वारा व्यवधान न डालने योग्य सुखमय और समृद्धिशाली राष्ट्र के समस्त कार्यों को सम्पन्न करता हुआ प्रजा के शत्रुओं का नाश करता है। इस तरह के राजा की छत्रछाया में प्रजा सदैव सुखी रहकर राष्ट्रहित के बारे में ही विचार करती है।

कर्तव्यों और योग्यता एवं अपेक्षाओं को मात्र राजा से ही जोड़ा गया है। **राजा तो राष्ट्र का संरक्षक होता है और प्रजा उसकी संरक्षित। राष्ट्र का अस्तित्व मात्र राजा से नहीं होता है, सदाचारी गुणवान् प्रजा का भी होना अत्यन्त आवश्यक है। इन्हीं के द्वारा राष्ट्रीय एकता और अखण्डता का परिपालन होता है–**

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥[३]

---

१. अथर्ववेद ११/५/२
२. अथर्ववेद २०/९०/३
३. अथर्ववेद १२/१/१

अर्थात् मातृभूमि के आदर्श भक्तों में कुछ गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस राष्ट्र में देशभक्त, सत्यनिष्ठ, प्रचण्ड, क्षात्रतेज, धर्मानुष्ठान एवं कर्तव्यपालन के गुण से युक्त प्रत्येक शुभ कार्य को दक्षतापूर्वक सम्पन्न करते हैं तथा यथार्थ ज्ञान के प्रति समर्पण की भावना रखते हैं, मातृभूमि (राष्ट्र) के पालन-पोषण करने में समर्थ होते हैं, वे ही अपना भूत, वर्तमान और भविष्य में सब तरह से पोषित करने वाली मातृभूमि की रक्षा करके, उसकी उन्नति के विस्तृत स्थान एवं अवसर प्रदान करें।

इन गुणों से ही राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता को सबल आधार प्राप्त होता है। इन गुणों से युक्त राष्ट्रभक्तों पर राष्ट्र गर्व करता है और ऐसे राष्ट्रभक्तों से युक्त राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता की ओर शत्रु दृष्टिपात भी नहीं कर सकता है।

राष्ट्र को, मातृभूमि को, अपनी माता ही माना जाता है और जन्मदात्री माँ से मातृभूमि अधिक सम्मान और त्याग की अधिकारिणी होती है। राष्ट्रभक्तों के लिए जन्मदात्री माँ सबके लिए अपनी होती है लेकिन मातृभूमि एक है और उसके करोड़ों पुत्र हों तो ऐसी माँ के लिए गर्व का विषय अवश्य ही होगा। उसकी उन्नति, समृद्धि एवं रक्षा की उदात्त भावना राष्ट्र-भक्तों में पाया जाना स्वाभाविक है–

> यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
> तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
> पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥[१]

अर्थात् इसमें मातृभूमि से राष्ट्रभक्तों द्वारा प्रार्थना की गई है कि "हे मातृभूमि! हमें अपने विद्वान् पुत्रों को जो कि ज्ञान से परिपूर्ण हैं और इस पृथ्वी का केन्द्र हैं, उनके संरक्षण में हमें देकर हमारी रक्षा कीजिए और उनसे ज्ञान प्राप्त करने का अवसर प्रदान कीजिए। हे मातृभूमि! मैं धरा का पुत्र हूँ और आकाश मेरे पिता हैं। अतः आप हमारा सम्यक् पालन-पोषण करें।"

मातृभूमि अथवा राष्ट्र एक माँ की तरह ही सम्माननीय होती है। जिस प्रकार जननी के सभी बच्चों में परस्पर भ्रातृत्व एवं स्नेह रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण मातृभूमि पर बसने वाले करोड़ों पुत्रों अर्थात् देशवासियों में परस्पर भ्रातृत्व की भावना का विकास होना चाहिए। समाज के सर्वश्रेष्ठ विद्वान्-जन समाज की रक्षा करें। इस तरह से नैतिक, विधिक और सामाजिक मूल्यों से युक्त समाज के नागरिकों में व्याप्त भ्रातृत्व का भाव ही राष्ट्रीय एकता और अखण्डता का आधार हो सकता है। इसी भाव को अन्यत्र भी विवेचत किया गया है—

---

१. अथर्ववेद १२/१/१२

त्वज्जातास्त्वयिं चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिंभर्षि द्विपदस्त्वं चतुंष्पदः।
तवेमे पृंथिवि पञ्चं मानवा येभ्यो ज्योतिंरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिंरातनोतिं॥[१]

अर्थात् हम समस्त जीवों को, जिसमें दो पैर और चार पैर वाले सभी प्राणियों का समावेश होता है, इसी भू-माता से उत्पन्न हैं और निरन्तर उनकी गोद में ही विद्यमान रहते हुए ही गतिशील होने में समर्थ हैं। वह ही हमारी पालक माँ है। **इसीलिए प्रत्येक राष्ट्रभक्त को अपनी इस माँ के लिए मन में उत्तम विचार ही रखने चाहिए।** इसके बिना एक क्षण भी जीवन धारण नहीं कर सकते। प्रत्येक राष्ट्रवासी को इस सत्य को स्वीकार कर लेना चाहिए कि उसके ही पुत्र एवं पुत्री हैं, **इस कारण सब राष्ट्रवासी वास्तव में भाई-बहन ही नहीं अपितु सहोदर हैं।** सबमें एकता का भाव ही राष्ट्र की एकता और अखण्डता का आधार हो सकता है।

मातृभूमि पर कुदृष्टि डालने वाले शत्रुओं की कमी नहीं है। दूषित विचार वाले शत्रु समय-समय पर आक्रमण कर इसके विनष्ट करने में तथा इस पर अधिकार करने की कामना रखते हैं। ऐसे शत्रुओं का संहार करने में राजव्यवस्था, सुरक्षा व्यवस्था को सदैव चौकस रहना चाहिए। **वीर राजा और राष्ट्रभक्त सैनिकों के संबल पर ही मातृभूमि स्वतंत्र और अखण्ड बनी रह सकती है।**

व्याकूतय एषामिताथों चित्तानिं मुह्यत।
अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि॥[२]

अर्थात् दुष्ट विचार वाले शत्रुओं के विचार हमारे राष्ट्र के लिए प्रतिकूल दिशा में जायें और वे अपने हित के प्रतिकूल चेष्टाएँ करें, जो उनके मन मोहयुक्त हो जावें और जो कुछ आज इनके मन में है वह इनमें पराभूत होने से नाश को प्राप्त हों। शत्रुओं की दुष्प्रवृत्तियों पर स्वमेव अंकुश लग जाना चाहिये। जिस मातृभूमि के लिए राष्ट्रभक्तों की अभेद्य रक्षापंक्ति रक्षा में संलग्न हो उसके शत्रु को उस दिशा में विचार करना भी पाप ही समझा जाय। **ऐसे शत्रुओं का सामना करने वाले ऐसे वीरों का राष्ट्र अपनी एकता और अखण्डता के लिए प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए विवश नहीं है।**

अथर्ववेद में प्रस्तुत मंत्रों से इस बात को स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि **वैदिक काल से ही अखण्ड भारत की परिकल्पना का जो दृश्य प्रस्तुत किया गया है वह आज भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित है और यह आधार आज भी उतने ही**

१. अथर्ववेद १२/१/१५
२. अथर्ववेद ३/२/४

सुदृढ़ है जितने कि उस काल में वर्णित किये गये हैं।

२. राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में अथर्ववेद के समाज-दर्शन का अनुशीलन :

वैदिक काल में सामाजिक जीवन पूर्ण रूप से नियमबद्ध ढंग से चलता था। व्यक्ति के जीवन का हर पक्ष नैतिकता और धर्म के निश्चित नियमों का पालन करता था। आदर्श समाज की धारणा प्रस्तुत करता था। **समाज में लिङ्ग, वर्ण और वर्ग के नाम पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं पाया जाता था।** सभी का निर्णय नीति के अनुसार ही किया गया था।

(क) वर्ण व्यवस्था :- वर्ण व्यवस्था के बारे में कुछ विद्वानों में मतभेद भी पाया जाता है कि उस काल में वर्ण व्यवस्था थी या नहीं, लेकिन **ऋग्वेद के पुरुषसूक्त** के **१०वें मंत्र** में चारों वर्णों की उत्पत्ति पुरुष के विभिन्न अंगों से मानी गई है और उसी के अनुरूप कार्य भी प्रदान किये गये थे।

वैदिक काल में वर्णों के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और **शूद्र** सभी की उपस्थिति थी लेकिन **इसका वर्गीकरण कर्ममूलक माना गया था जन्ममूलक नहीं।** यदि ब्राह्मण को सम्माननीय कार्य व स्थान प्राप्त था तो क्षत्रियों को अपनी क्षमता के अनुरूप, वैश्य को उनकी क्षमता के और शूद्रों को भी उनकी क्षमता के अनुरूप कार्य प्रदान किया गया था और **इसका कोई प्रतिबन्ध नहीं था कि ब्राह्मण शस्त्र धारण नहीं करता था, क्षत्रिय वाणिज्यक कार्य नहीं कर सकता था। शूद्र का कार्य निकृष्ट है, ऐसी कोई भावना उस काल में नहीं पाई जाती थी।** शूद्रों का कार्य आज के अकुशल कर्मकार की श्रेणी में आता है। इनको समाज में सभी वर्णों की भाँति समकक्ष स्थान प्राप्त था। **इसको अथर्ववेद के इस क्षेत्र मंत्र के द्वारा समझा जा सकता है–**

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥[१]

उस काल में शूद्र या वर्ण के लिये कोई निम्न स्थान निश्चित नहीं था बल्कि सभी को समाज में समान सम्मान प्राप्त था।

(ख) आश्रम व्यवस्था :- वैदिक काल में शतायु मानव की कल्पना की जाती थी और वास्तव में वह शतायु होता था। धर्म और नीति के साथ जीवन व्यतीत करते

---

१. अथर्ववेद १९/६२/१

हुए वह अपने जीवन को चार चरणों में बाँट देता था और हर चरण के लिये पृथक्-पृथक् आचार, विचार और नियमों का निर्माण किया गया था।

जीवन प्रारम्भ के साथ ही **ब्रह्मचर्य आश्रम** आरम्भ होता था और उसका २५ वर्ष की आयु तक चलने का प्राविधान था, **जिसमें वह ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्याध्ययन के लिए गुरु के समक्ष रहता था और विद्या ग्रहण करता था–**

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति।।[१]

अर्थात् वेद के अध्ययन में दृढ़, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला ब्रह्मचारी, पृथिवी, माता-पिता, दोनों का अनुकरण करता हुआ अथवा अपने आचरण से दोनों का प्रिय होते हुए और स्वयं उनको प्रेम करते हुए इस पृथिवी पर विचरण करता है। उसमें समस्त देव, विद्वान् और राजा आदि एक चित्त हो जाते हैं। वह पृथ्वी, माता-पिता, सूर्य, विद्या और गुरु सभी को धारण करता है। वह अपने तप से आचार्य की आज्ञाओं का पूर्ण पालन करता है। अर्थात् वह आचार्य की त्रुटियों को भी पूर्ण करता है।

ब्रह्मचर्य की आयु के पश्चात् गृहस्थाश्रम का काल आरम्भ हो जाता है। यह आश्रम जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि लौकिक जीवन के सभी कर्त्तव्यों का आरम्भ और अन्त इसी आश्रम में है। ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणी विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर जिन दायित्वों को पूरा करने के लिए आदेशित किये गये हैं वह निम्न मंत्र में उल्लिखित है—

समस्मिँल्लोके समु देवयाने सं स्मा समेतं यमराज्येषु।
पूतौ पवित्रैरुप तद्ध्वयेथां यद्यद् रेतो अधि वां संबभूव।।[२]

अर्थात् "हे पति-पत्नी! तुम दोनों इस लोक में सदा एक साथ समान भाव से रहो! देव परमेश्वर की उपासना या मोक्ष मार्ग की साधना में भी सदा दोनों एकत्र रहो और निरन्तर साथ रहते हुए यम, नियन्ता तथा राम के समस्त राज्य के कार्यों अथवा यम गार्हपत्य के समस्त कार्यों में या परमात्मा के समस्त उपासना आदि कार्यों में, गृहस्थ के समस्त कार्यों में तुम दोनों समान भाव से एकत्र रहो। पुत्र उत्पत्ति होने पर उसे शुभ संस्कारों में पुष्ट करके, उसमें उत्तम संस्कारों को समावेशित करके, उसे शुभ गुणों से युक्त मानव बनाओ।"

---

१. अथर्ववेद ११/७/१
२. अथर्ववेद १२/३/३

इस गृहस्थाश्रम में ही व्यक्ति **देव ऋण, ऋषि ऋण** और **पितृ ऋण** को पूर्ण करता है। धर्म का पालन करते हुए सभी एषणाओं की पूर्ति करनी चाहिए। धार्मिक कृत्यों, अनुष्ठानों, यज्ञ आदि कर्म को भी सपत्नीक पूर्ण करना चाहिए। **इसमें ही गृहस्थ धर्म की पूर्णता है।**

गृहस्थाश्रम के सभी दायित्वों के पूर्ण होने पर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करने की व्यवस्था है। वानप्रस्थाश्रम में मनुष्य सभी, इच्छाओं की पूर्ति के बाद प्रवेश करता है। इस आश्रम में वह घर के वरिष्ठ होने के नाते अपने संरक्षण में पुत्रों को गृहस्थाश्रम में प्रवेश कराते हैं और स्वयं सपत्नीक अपना समय पूजा-पाठ आदि में घर में रहकर ही व्यतीत करते हैं। वानप्रस्थाश्रम गृह-निवास की अनुमति प्रदान करता है।

वानप्रस्थाश्रम की अवधि पूर्ण होने पर व्यक्ति सांसारिक मोह–माया से पूरी तरह मुक्त हो जाता है और संन्यास आश्रम में प्रवेश करके वह गृह एवं पत्नी, पुत्र आदि सभी को त्याग देता है तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए ईश्वर आराधना, यज्ञ, जप, तप आदि में लीन हो जाता है।

(ग) पुरुषार्थ – मनुष्य के लिए वैदिक काल में कार्य और कर्म भी निश्चित कर दिये गये थे। **यही मानव जीवन के आधार थे।** इन्हीं के अनुसार उसे सम्पूर्ण कार्य करने थे। **धर्म, अर्थ, काम** और **मोक्ष**— यह **चार पुरुषार्थ चतुष्ट्य** कहलाते थे। यह व्यक्ति के लिए जीवनधर्म थे। **धर्म** का अनुपालन व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु तक पूरे काल में करना होता था। उस काल में **धर्म** ही व्यक्ति को जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाता था। **शेष पुरुषार्थों की पूर्ति भी** वह धर्म के अनुसार ही करता था। **अर्थ** से वह अपने गृहस्थाश्रम की आवश्यकताओं की पूर्ति करता था और इसको अर्जित करने के लिए भी **ईमानदारी और सत्य** का अनुसरण करते हुए ही प्रयास करता था ताकि वह **धर्मपूर्ण धनोपार्जन** कहला सके। अच्छे साधनों से अर्जित किये हुए धन से ही दान, यज्ञ आदि कार्य पूर्ण व सफल हो सकते थे। इनकी सार्थकता के लिए ही **धर्म का अनुपालन** आवश्यक है।

काम पुरुषार्थ की पूर्ति के लिए वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और सपत्नीक सन्तानोत्पत्ति, माता–पिता की सेवा, यज्ञ, दान, तप आदि कार्यों को पूर्ण करता है। **यहाँ पर काम का सेवन अपनी वासनापूर्ति के उद्देश्य से नहीं किया जाता है। यह इसलिए पूर्ण किया जाता है कि उसे विवाह संस्कार के नियमों को पूर्ण करना है। सृष्टि के नियमानुसार उसकी उत्पत्ति में अपना अंशदान सृष्टि (सन्तति) करके करना है और अपने पितृ ऋण से उऋण होना है।**

मोक्ष पुरुषार्थ जीवन का अन्तिम लक्ष्य है और इसके लिए व्यक्ति को पहले सारे **पुरुषार्थ** धर्मानुसार पूर्ण करते हुये जीवन की **लोकेषणा, वित्तेषणा** और **पुत्रेषणा** से मुक्त होकर ही वह पहले वानप्रस्थ आश्रम और उसके बाद संन्यास आश्रम में प्रवेश करके अपना शेष समय ईश-आराधना, जप, तप और यज्ञ आदि में व्यतीत करते हुए **मोक्ष की प्राप्ति** के लिए प्रयास करता है।

(घ) नारी स्थिति – वेदकालीन समाज पितृमूलक समाज था लेकिन स्त्रियों की स्थिति में कहीं भी निम्नता का भाव प्रदर्शित नहीं होता था। स्त्रियों को भी पुरुषों की भाँति ब्रह्मचारिणी रहते हुए शिक्षा प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। **उसी को सरसता की प्रतिमूर्ति समझी जाता था।** वह मात्र गृहस्थी की ही स्वामिनी नहीं थी अपितु **अपने पति पर भी उसका पूर्ण स्वामित्व माना जाता था। गृहलक्ष्मी के रूप में उसका सर्वदा सम्मान था और हर कार्य में उसकी सम्मति ली जाती थी।**

आर्य नारियों में नैतिकता पूर्णतः विद्यमान थी। वे **शोभन, आचरण** तथा **सदाचार** के लिए सर्वथा प्रसिद्ध थी। धार्मिक कृत्यों में नारी का विशिष्ट स्थान था। **पुरुष धार्मिक कृत्यों को पत्नी के बिना पूर्ण नहीं कर सकता था।**

निष्कर्ष यह है कि नारी का **उदात्त चरित्र, नैतिक-आदर्श, शिक्षण-योग्यता** तथा **सामाजिक सहयोग** की दृष्टि से उपनिषद्-युग अपने पूर्ववर्ती संहिता-युग से विशेष दूर नहीं था। पूर्ववर्ती युगों का **'आदर्श-नारी-जीवन'** उसी प्रकार काम्य और कमनीय था। उपनिषदों के इतिहास में नारी चिरस्मरणीय रहेगी।

(ङ) विवाह प्रथा – वैदिक काल में आदर्श विवाह प्रथा प्रचलित थी जहाँ स्त्री एवं पुरुष दोनों को ही समान स्थान प्राप्त था। वहाँ पर **विवाह संस्कार** में भी दोनों को वर या वधू चुनने का अधिकार भी प्राप्त था। **बाल-विवाह जैसी प्रथा उस समय विद्यमान न थी। कन्या द्वारा पूर्ण यौवन प्राप्त करने के बाद ही विवाह सम्पन्न होता था। अथर्ववेद** में विवाह के बारे में विशद् वर्णन किया गया है जिससे कि प्रकट होता है कि इस संस्कार में पिता, वर, वधू को किन-किन दायित्वों को पूर्ण करना पड़ता था और उनसे क्या अपेक्षाएँ की जाती थीं। इस बारे में इस मंत्र के द्वारा जाना जा सकता है कि विवाह के लिए पुरुष की योग्यता को कैसे मापा जा सकता था और नियंत्रित किया जाता था–

उद्यच्छध्वमप रक्षो हनाथेमां नारीं सुकृते दधात।
धाता विपश्चित्पतिमस्यै विवेद भगो राजा पुर एतु प्रजानन्॥[1]

---

१. अथर्ववेद १४/१/५९

अर्थात् "हे वीर पुरुषों! अपने शस्त्रों को उठाओं और राक्षसी-प्रवृत्ति वाले दुष्ट पुरुष को मार भगाओं। इस नारी को पुण्य कार्य या पुण्य पुरुष के हाथ धारण कराओं। ज्ञानवान्, बुद्धिमान्, विधाता, पिता इसके योग्य पति को खोज कर प्राप्त करें। **ऐश्वर्यवान् चित्त को अनुरंजन करने में समर्थ ज्ञानी पुरुष कन्या का पाणिग्रहण करने के लिए आगे आयें।"**

इस प्रकार अयोग्य वर को कन्या प्रदान करने के लिए विधान न था। कन्यायें भी विदुषी होती थी और उपयुक्त योग्य वर की अपेक्षा भी रखती थी। **अथर्ववेद में विधवा विवाह का उल्लेख भी प्राप्त होता है।** कहा गया है कि जब स्त्री एक पति के पश्चात् दूसरे पति को प्राप्त होती है और वे दोनों **पञ्चौदन अग्नि** में डालते हैं, तो उनका वियोग नहीं होता। यदि दूसरा पति अग्नि में अन्न पञ्चौदन डालता है, तो वह अपनी पुनर्विवाहिता पत्नी के साथ समान लोक में रहता है—

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेऽपरम्।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः॥
समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥[1]

इन उल्लेखों से विधवा विवाह की स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

३. राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में अथर्ववेद के राजदर्शन का अनुशीलन :

राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में राजदर्शन महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि राजनीतिक व्यवस्था से ही राष्ट्रीय एकता और अखण्डता का सीधा सम्बन्ध स्थापित होता है। योग्य राजा और चरित्रवान् तथा धर्मपरायण प्रजा ही किसी राष्ट्र की सम्पत्ति होती है। राजा का निर्वाचन उसके गुणों और वीरता के अनुसार ही किया जाता था। अथर्ववेद में सूक्त (७/८७-८८) ही राजा के निर्वाचन के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस मंत्र में राजपद के निर्माण की स्पष्ट घोषणा की गई है–

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह॥[2]

---

१. अथर्ववेद ९/५/२७-२८

२. अथर्ववेद ६/८८/३

अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाने पर राजा को उसके पद से च्युत कर दिया जाता था और अपने दोषों की स्वीकारोक्ति के पश्चात् उसे पुनः राजा चुन लिया जाता था। इस पुनःस्थापना तथा प्रजा द्वारा संवरण का उल्लेख अथर्ववेद के दो सूक्तों में (३/३; ३/४) में विशद रूप से किया गया है। विश् के द्वारा संवरण का निर्देश यह मंत्र स्पष्ट करता है—

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि॥[१]

श्रेष्ठ राजा भी मानव ही है और उसकी कुछ त्रुटियों से क्षुब्ध होकर यदि पदच्युत किया जाता है तो प्रायश्चित के बाद उसको क्षमा भी किया जा सकता है। एक वीर राजा के बारे में जो अपेक्षायें की जाती हैं, वह इस मंत्र द्वारा प्रदर्शित की जा रही है—

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा।
तेना रभस्व त्वं शत्रून् प्र मृणीहि दुरस्यतः॥[२]

अर्थात् ''हम सबमें मुख्य रूप से चयन करने योग्य श्रेष्ठतम व्यक्तियों, जो कि अपनी अपरिमित शक्ति द्वारा शत्रुओं का नाश करने में सक्षम हो, राजतिलक द्वारा अभिषेक करके प्रमुख नेता का चयन करते हैं। वह सब सुखों की वर्षा करने वाला, शकट का भार उठाने में समर्थ, बलवान् और शत्रुओं का नाशक है। हे राष्ट्रपते! ऐसे पुरुष के बल पर तू शत्रुओं का विनाश कर या पकड़ कर दुष्ट कामना करने वालों का विनष्ट कर।''

ऐसे राजा के नेतृत्व में चलने वाला शासन ही प्रजा को संतुष्ट करने में सक्षम होता है और राष्ट्वासियों को अपनी सुरक्षा का विश्वास होता है। तब राष्ट्र स्वतः मजबूत होता है।

इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू।
आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवोऽस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम्॥[३]

अर्थात् ''हे वेदवाणी के पालक एवं बृहत् राष्ट्र के पालक एवं विद्वान् राजन्! हे इन्द्र! सेनापते! आप दोनों धनों, ऐश्वर्यों की वर्षा करने वाले हों। आप दोनों इस महान् यज्ञ, राष्ट्र की व्यवस्था के कार्य में अतिव्यग्र रहते हुए राज्यपद का उपभोग करो।

१. अथर्ववेद ३/४/२
२. अथर्ववेद १०/३१
३. अथर्ववेद २०/१३/१

उत्तम रीति से, धर्मानुकूल, सब प्रकार से होने वाले उत्तम ऐश्वर्य तुम दोनों को प्राप्त हों। आप दोनों हम राष्ट्रवासियों को समस्त वीर पुरुषों सहित या सर्व सामर्थ्य से युक्त ऐश्वर्य को प्रदान कीजिए।"

वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा।
ईशानो अप्रतिष्कुतः॥[१]

अर्थात् गोयूथ में वृषभ के समान अपने पराक्रम से प्रजाओं को अपने वश में करता है और किसी से पराजित न होने वाला स्वयं राष्ट्र का स्वामी होता है।

ऐसा राजा जो अपराजित हो, राष्ट्र के लिए गौरव का विषय ही हो सकता है। ऐसे राजा पर राष्ट्र की प्रजा को पूर्ण विश्वास होता है। वह भी अपने राजा के आदेश पर अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए सदैव ही तैयार रहते हैं। राष्ट्र की सीमाओं पर कुदृष्टि डालने वाला शत्रु भी अपने विनाश के बारे में सोचकर ही सदैव दूर रहने का प्रयास करेगा।

राजा के अपनी प्रजा के प्रति कुछ कर्त्तव्य होते हैं, जिनकी अपेक्षा प्रजा भी करती है—

परिच्छिन्नः क्षेममकरोत् तम आसनमाचरन्।
कुलायन् कृण्वन् कौरव्यः पतिर्वदति जायया॥[२]

अर्थात् प्रजा को अपने संरक्षण में बसाने वाला राजा, समस्त कर्म, कुशल पुरुषों में श्रेष्ठ पालक होकर स्त्री के समान अपनी पृथिवी या प्रजा के साथ ही एक कुटुम्ब सा बनाता हुआ, **आसन सिंहासन प्राप्त करके भी तप का आचरण करता हुआ, हमारे हित में कल्याण करे।**

अभीवस्वः प्र जिहीते यवः पक्वः पथो बिलम्।
जनः स भद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः॥[३]

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य की धूप में परिपक्व जौ आदि अन्न, जिस प्रकार खेत की हल से बनी रेखाओं पर खड़ा होता है, उसी प्रकार वह प्रजाजन भी प्रजाओं को सब प्रकार से स्थापित करने और उसकी रक्षा करने वाले राजा के राष्ट्र में अत्यन्त सुख खूब अधिक मात्रा में भोग करता है। उत्तम राजा के राज्य में प्रजा खूब सम्पन्न हो जाती है।

---

१. अथर्ववेद २०/७०/१४
२. अथर्ववेद २०/१२७/८
३. अथर्ववेद २०/१२७/१०

राष्ट्र के मंगल के लिए प्रयास करना ही वैदिक राजा का परम लक्ष्य है और राष्ट्र एवं मातृभूमि की सुरक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति तक देना उस राष्ट्र के नागरिकों का परमधर्म माना जाता है।

उस काल में प्रजातंत्रमूलक राजतंत्र था, जिसमें राजा के निरंकुश होने पर कोई भी अवसर प्राप्त न था तथा उसके राज्य में **सभा और समिति नाम्नी दो संस्थाओं** का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसमें विद्वान् लोग एकत्र होकर उत्तमोत्तम रीति से अपने विचारों को प्रकट किया करते थे।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः सङ्गतेषु॥
विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥[१]

समिति में राजा की उपस्थिति अनिवार्य थी। समिति ही राजा का चुनाव करके उससे समस्त राष्ट्र का भार वहन करने का आग्रह करती थी और राजा से कहा जाता था कि प्रजा ने ही उसे राजापद के लिए चुना है। वह राष्ट्र के कंधे पर बैठे तथा भौतिक समृद्धि का विकास करे। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि **वैदिक युग में राजनैतिक दृष्टि से प्रचुर प्रबुद्धता एवं जागृति विद्यमान थी।**

४. राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में अथर्ववेद के धर्मदर्शन का अनुशीलन :

वैदिक काल में **धर्म** ही जीवन का आधार था और इसका अनुकरण ही मानव के लिए अनिवार्य माना जाता था। **धर्म** के द्वारा ही मानव जीवन की दिशा निर्धारित की जाती थी। **वैदिक वाङ्मय** की एक विशेषता यह भी है कि वह मानव मात्र के लिए कल्याण की भावना को अग्रसर करता है। **साहित्य संस्कृत का अग्रदूत है, साहित्य संस्कृति का वाहन है।** समाज की भावना को दर्पणवत् प्रतिबिम्बित करने वाला साहित्य कितना भी आदर्शवादी क्यों न हो वह यथार्थ से विमुख कभी नहीं हो सकता है। उसकी व्याप्ति राष्ट्र को परिधि के द्वारा नियंत्रित करती है। **राष्ट्र के लिए भी धर्म का आधार अनिवार्य होता है और उससे भी आदर्श राष्ट्र की परिकल्पना पूर्ण होती है।**

धर्म मानव मात्र को यह बतलाता है कि उसका कर्त्तव्य है कि सदैव एक दूसरे की रक्षा तथा सहायता करे। केवल अपने स्वार्थ में उसे निविष्ट नहीं रहना चाहिये।

---

१. अथर्ववेद ७/१२/१-२

वैदिक ऋषि भगवान् से प्रार्थना करता है कि वे मानव मात्र के लिए सुमति (सद्भावना) धारण करें, उन प्राणियों के लिए ही नहीं जिन्हें वह देखता है, प्रत्युत उनके लिए भी जो उसकी दृष्टि से ओझल हैं और जिन्हें वह नहीं देखता—

यांश्च पश्यामि यांश्च न। तेषु मा सुमतिं कृधि।।[१]

कितनी उदात्त भावना है यह। सामान्यत: हम उन्हीं के कल्याण की कामना करते हैं जिन्हें अपनी आँखों से देखते हैं, परन्तु **वैदिक ऋषि** यहीं तक अपनी प्रार्थना को सीमित नहीं रखता, अपितु वह **अखिल विश्व में अदृष्ट प्राणियों के प्रति भी यही भावना रखने का विनम्र निवेदन करता है। यह भावना मनुष्य को आपस में बंधुत्व का भाव बनाये रखने में सहायक होती है।** ऐसे व्यक्ति न तो स्वयं दूसरों के अहित की बात सोचते हैं और न ही ऐसी भावना को पैदा करने वाली स्थितियों को उत्पन्न होने देते हैं।

सम्पूर्ण विश्व में सभी पदार्थों एवं द्रव्यों के परस्पर संयोग तथा एकत्र-धारण से जीवन का निर्वाह होता है। धर्म का उद्भव ही इस निर्वाह के लिए है। सूर्य, चन्द्र, तारा मण्डल और पृथ्वी आदि पदार्थ परस्पर के उपकार्य-उपकारक भाव से विधृत हैं और वे परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट अपने-अपने विशिष्ट कार्यों को सम्पन्न करते हैं। मानवों को अपने उत्कृष्ट-साधन के लिए समाज की अपेक्षा होती है। समाज का समाजत्व इसी में है कि वह विभिन्न प्रकार की मानस-वृत्तियों से युक्त एक-एक मानव की स्थिति का सामञ्जस्य करता है। यही कारण है कि **धर्म में ही समाज की प्रतिष्ठा है।** केवल मानवसमाज की ही नहीं, अपितु **सम्पूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा धर्म में है।** इस विषय में यह श्रुति वाक्य है— **"धर्म विश्वस्य जगत् प्रतिष्ठा।"** (धर्म ही विश्व का आश्रयभूत है)।

वैदिक धर्म दर्शन है। व्यक्ति के लिए हर कदम पर धर्म निश्चित करता है कि राष्ट्र धर्म क्या है, राष्ट्र के नागरिकों का राष्ट्र के प्रति क्या धर्म है? जीवन का धर्म दर्शन क्या है? **प्राणिभाव के प्रति** दया, **क्षमता** और **अहिंसा** का भाव ही एक शांतिपूर्ण **समाज की स्थापना में सहायक होता है।** सभी सामाजिक सदस्यों में आपसी समझदारी व सहिष्णुता की भावना का समावेश उन्हें एक पारंपरिक सदस्यों की तरह व्यवहार करने की प्रेरणा प्रदान करता है।

जिस धरती पर मनुष्य जन्म लेता है, उसका स्थान माँ के समान ही होता है और उसकी रक्षा का दायित्व भी उसके पुत्रों का ही होता है। मातृभूमि के प्रति

---

१. अथर्ववेद १७/१७

राष्ट्रवासियों का दायित्व भी उनके धर्म के द्वारा ही निश्चित होता है। राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता की रक्षा तभी संभव है जबकि वहाँ पर सर्वधर्म व समानता का भाव विद्यमान हो।

वैदिक धर्म में किसी भी धर्म के प्रति अनादर या उपेक्षा का भाव नहीं बतलाया गया है। **जहाँ प्राणि मात्र में ईश्वर का अंश देखा जाता हो, वहाँ धर्मगुरु या धर्म के प्रति सम्मान का होना निश्चित ही है।** यही वह सब कारक है जो कि आज के सन्दर्भ में भी उतने ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

५. राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में अथर्ववेद के आचार-दर्शन, शिक्षादर्शन एवं अर्थदर्शन का अनुशीलन :

वेदों के अनुशीलन से उस युग के **आचार-दर्शन, शिक्षा-दर्शन** एवं **अर्थ-दर्शन** सम्बन्धी धारणाओं का परिज्ञान हमें भली-भाँति होता है। आचार्यों ने अपने निरीक्षण में रखे ब्रह्मचर्य आश्रम में मानव को शिक्षा एवं आचार-विचारों का पूर्ण ज्ञान कराया। उन्हें इस जगत् में एक आदर्श मानव और राष्ट्रभक्त बनकर जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाया था। इसके लिए अथर्ववेद में विभिन्न मंत्रों में उल्लिखित किया गया है—

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥[१]

अर्थात् यम और नियम व्यवस्था करने वाले राजा प्रभु के लिए सोमरस छाना जाता है। यम राजा के लिए ही हवि अर्थात् अन्न उत्पन्न किया जाता है। यज्ञ, राष्ट्र, ज्ञानवान् पुरुषों को अपना दूत प्रतिनिधि बनाकर और सुभूषित, सुशोभित होकर नियामक राजा की शरण में आता है।

इसमें राष्ट्र के मानवों से भी यह अपेक्षा की जाती है कि वे **यम** व **नियम** को अंगीकार करके अपने जीवन का अंग बनायें। उसके द्वारा ही उनका जीवन सदाचारमय होगा।

यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र च तिष्ठत।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृभ्द्यः॥[२]

अर्थात् उस परमपिता परमेश्वर के लिए ही अति मधुर वचन का एक दूसरे के प्रति प्रयोग करना चाहिये। ऐसे ही सद्‌गुण लेकर ही एक दूसरे के देशों में प्रस्थान

---

१. अथर्ववेद १८/२/१ एवं ऋग्वेद १०/१४/३
२. अथर्ववेद १८/२/२ एवं ऋग्वेद १०/१४/१५

करें। पूर्वउत्पन्न मार्ग विधाताओं, मार्ग दृष्टाओं का पूर्ण आत्मिक रूप से आदर करना चाहिये।

समाज में रहकर एक दूसरे के प्रति प्रेम, दया व सहिष्णुता का व्यवहार करना ही मनुष्य का परम कर्त्तव्य होना चाहिए। अपने गुरुओं, आचार्यों, माता-पिता आदि पूज्य लोगों को आदर एवं श्रद्धा प्रदान करना ही व्यक्ति का स्वभाव होना चाहिए। जीवन के आदर्शों में इन बातों का समावेश होना ही चाहिए तभी मानव जीवन की सार्थकता संभव है। इस जीवन को सिर्फ भौतिक सुखों के लिये स्वार्थी बना देना उचित नहीं है और न ही किसी के प्रति द्वेष और ईर्ष्या की भावना को अपने मन में स्थान देना चाहिए।

यमार्य घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन।
स नो जीवेष्वा यमेद् दीर्घमायुः प्र जीवसे॥[१]

अर्थात् हे पुरुषों! सर्वनियन्ता राजा के समान सब लोगों के राजा परमपिता परमेश्वर के लिए घृत से युक्त पुष्टिकारक दुग्ध और अन्न आदि अग्नि में समर्पित करें और साथ ही साथ उसके समान ही विद्वान् तेजस्वी ब्राह्मण को प्रदान करें। इस कार्य के करने से ही ईश्वर हमें और समस्त जीवों को दीर्घ जीवन प्रदान करेंगे और हमें अपने जीवन के लिए आवश्यक सभी पदार्थ प्रदान करेंगे।

इस मंत्र के द्वारा **यज्ञ कर्म पर विशेष जोर दिया गया है।** होम का भी जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो भोजन ग्रहण किया जाय उसको ग्रहण करने से पूर्व उसे **अग्नि को समर्पित करना ही ईश्वर को समर्पित करने के समान है और यह क्रिया आज भी उतनी ही मान्य है।**

वैदिक काल में **शिक्षा** का कार्य आचार्यों द्वारा किया जाता था। बालक को उपनयन संस्कार करने के पश्चात् गुरुकुल में शिक्षा हेतु भेजने का प्राविधान पाया जाता था। बालक के लिए गुरु पिता एवं गुरुपत्नी माता के समान सम्मानीय थे और जिस तरह पुत्र अपने माता-पिता की सेवा किया करता था, उसी प्रकार वह गुरु एवं गुरुपत्नी की सेवा भी करता था। इस काल में वह ब्रह्मचर्य का पालन करके शिक्षा एवं ज्ञान प्राप्त किया करता था और **गुरु भी उन्हें अपनी सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञान करा देता था। अथर्ववेद** में गुरु का शिष्यों के प्रति व्यवहार के बारे में इस मंत्र में उल्लेख प्राप्त होता है—

---

१. अथर्ववेद १८/२/३ एवं ऋग्वेद १०/१४/१४

मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।
शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृँरुप॥[1]

अर्थात् हे अग्ने! आचार्य! इस शिष्य को जलाइये मत। संतप्त मत कीजिये, उसकी त्वचा को काटकर विकृत न करें और न ही उसके शरीर का विनाश करें। हे जातप्रज्ञ! विद्वान्! जब इसको परिपक्वपूर्ण ज्ञानवान् कर दें, तब ही सम्पूर्ण विद्याओं से युक्त हो जाने पर इसे वापस माता-पिता के पास भेजें।

आचार्य के पास आने वाला हर शिष्य ज्ञान शून्य होता है और उसकी इस ज्ञान शून्यता के कारण ही शिष्य दण्डित भी किया जाता है, लेकिन उसको पूर्ण ज्ञानी बनाकर ही माता पिता के पास वापस भेजा जाता है। **इससे वह इतना परिपक्व और ज्ञानी हो जाता है कि जीवन में उसे कभी कठिनाईयों का सामना नहीं करना पड़ता है। गुरु मार्गदर्शक, असत् से सत् की दिशा दिखाने वाला, अज्ञान के गहरे अंधकार से मुक्त कराके प्रकाश की ओर ले जाने वाला होता था।** उक्त मंत्र में आचार्य के लिए ही आदेश दिया गया है—

अजो भागस्तपसस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्॥[2]

अर्थात् हे जातप्रज्ञ परमात्मन् आचार्य! **अज अजन्मा जीवात्मा ही शरीर में दुःख-सुख का सेवन करता है।** अतः तू उसे ही तप, ज्ञान, स्वाध्याय और प्रवचन एवम् तपस्या द्वारा सन्तप्त कर, उसे तपोमय आचरण करा। उस आत्मा को ही तेरी इस स्वरूप ज्वाला या प्रकाश तप्त करें। उसको तेरी दीप्ति प्रकाशित करें। हे ईश्वर! तेरी जो कल्याणकारी रचित पदार्थ ये देह हैं उनसे इस जीव को पुण्यकर्ताओं के लोक को प्राप्त करा।

आचार्य से जिन बातों की अपेक्षा की जाती है वह सब अथर्ववेद में वर्णित है। गुरु के बिना तो ज्ञान प्राप्त हो ही नहीं सकता है और इसीलिए गुरु को ईश्वर से भी श्रेष्ठ बताया गया है। ईश्वर से परिचय गुरु के माध्यम से ही होता है। उस पथ का, उस आचरण का जो ईश्वर तक जाता है, गुरु ही मार्ग दिखा सकता है।

अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान्।
आयुर्वसान उप यातु शेषः सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः॥[3]

---

१. अथर्ववेद १८/२/४ एवं ऋग्वेद १०/१६/१
२. अथर्ववेद १८/२/८ एवं ऋग्वेद १०/१६/३
३. अथर्ववेद १८/२/१० एवं ऋग्वेद १०/१६/५

अर्थात् हे ज्ञानवान् आचार्य! जो स्व अर्थात् आत्मा या शरीर को धारण-पोषण करने वाले वीर्य से युक्त होकर आपके समीप अपने को सर्वार्पण करके ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण करें, आप उसको फिर माता-पिता एवं वृद्धों की सेवा के लिए या पिता के योग्य गृहस्थ कार्यों के लिए तैयार करके, उसके लिए आज्ञा देते हैं और वह आपके द्वारा शिक्षित व आज्ञा पाया हुआ शिष्य या पुत्र अपने जीवन में आपके समीप और आपकी आज्ञा में रहकर अपने गृहों को वापस जायें और वहाँ अपने जीवन में उत्तम तेजस्वी होकर सद्संगों में लाभ करें।

इस प्रकार **अथर्ववेद में प्राप्त शिक्षादर्शन से व्यक्ति को एक सदाचारी जीवन प्राप्त होता है।** उसकी शिक्षा उसे पूर्ण मानव बनाकर **सूर्य, पृथिवी, माता-पिता, बाल एवं वृद्ध** के परिपालन की शिक्षा देती है। ऐसे आचरण की शिक्षा से देश और राष्ट्र सदैव ही सुदृढ़ होता है।

'अर्थ' जीवन के लिए उतना ही आवश्यक है जितना की अन्य सभी वस्तुयें। बिना **अर्थोपार्जन के जीवनयापन संभव ही नहीं है।** वैदिक आर्य उस अवस्था को पूर्ण कर चुके थे जब मनुष्य अपनी क्षुधाशान्ति के लिए फल-मूल पर ही निर्भर रहता था। **इस काल में कृषि को आजीविका के लिए प्रमुख साधन माना जाने लगा था और कृषि कार्य** भी उस समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है कि पृथी (अथवा पृथु) वैन्य ने सर्वप्रथम मनुष्यों के लिए कृषिकर्म के द्वारा फसल उत्पन्न की। उन्होंने ही मानव समुदाय के लिए कृषि की पद्धति प्रशस्त की—

तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक्॥ ११॥
ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या३ उप जीवन्ति कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥[१]

चारों वेदों के काल में अथर्ववेद का काल सबसे बाद का रहा और यह काल प्रगतिशील भी था। ईश्वर एवं आराधना के अतिरिक्त भी इस वेद में कई विषयों पर उल्लेख किया गया है जो शेष वेदों में अनुपलब्ध था। **अथर्ववेद से ही यह बात स्पष्ट होती है** कि वैदिक युग में **पशु पुरीषजन्य खाद** के महत्त्व की जानकारी थी। फसल कटाई के लिए उपकरण 'दात्र' तथा 'श्रृणी' (हंसिया) था। सिंचाई के लिए कुओं तथा नहरों पर निर्भर रहते थे।[२] कृषि कार्य के लिए पशुपालन का भी महत्त्व बहुत अधिक था।

---

१. अथर्ववेद ८/१३/१२-१२
२. अथर्ववेद ३/१४/३-४ एवं १९/३१/३

उस समय खेती के अतिरिक्त अन्य प्रकार के उद्यम भी किये जाते थे, जिनमें हाथ के कौशल और कारीगरी की विशेष आवश्यकता पड़ती थी। बढ़ई (तक्षन्), लोहार (कर्मार), वैद्य (भिषक्) स्तोत्र बनाने वाले (थारु), कुम्हार (कुलाल), रथ बनाने वाले (रथकार), मल्लाह (कैवर्त, निषाद) तथा बुनकर (वाय) आदि का उल्लेख कई स्थानों पर है।

कृषि से उत्पन्न अनाजों, औद्योगिक-शिल्पों से उत्पन्न वस्तुओं का क्रय-विक्रय हुआ करता था। वस्तु-विनियम का उस समय प्रचलन था। वस्तु के बदले वस्तु ही प्राप्त की जाती थी। अथर्ववेद में दूर्श (वस्त्र), पवस्त (चादर) तथा अजिन (चर्म खरीदने) का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[१]

समुद्र पार करके दूसरे स्थानों पर भी व्यापार करने का उल्लेख प्राप्त होता है। व्यापारियों की स्थिति उस समय सुदृढ़ होती थी और उसी के अनुरूप उन्हें 'शतिन्' और सहसितु कहा गया है।

फिर भी अर्थ के प्रति मोह रखने की **शिक्षा** नहीं दी जाती थी। **वैदिक काल में अत्यन्त समृद्ध एवं सम्पन्न अर्थव्यवस्था विद्यमान थी**। आर्थिक आधार पर समाज में श्रेणियाँ नहीं थी। **समतामूलक, श्रम की प्रतिष्ठाकारक** और **सांस्कृतिक जीवन** के लिए उपादेय **वह अर्थव्यवस्था हमें आज भी स्पृहणीय प्रतीत होती है**, जिसमें धनोपार्जन को केवल शुद्ध, विधिसम्मत और समाज के द्वारा अनुमोदित प्रणाली ही प्रशस्त समझी जाती थी। अग्नि से प्रार्थना करते हुये ऋषि-कवि यही कामना करते थे—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम्।

अर्थात् **हम किसी अन्य के धन की कामना न करें**, यह भाव भी इसमें मुखरित हैं।

६. राष्ट्रीयएकता एवम् अखण्डता को अथर्ववेद का प्रदेय :

वैदिक काल के सभी ग्रन्थों में राष्ट्र की कभी भी अवहेलना नहीं की गई है। पृथिवी और मातृभूमि को जितना सम्माननीय स्थान प्रदान किया गया है, देशभक्ति और देशरक्षा के लिए भी पूर्ण वर्णन उपलब्ध है। **'पृथिवी-सूक्त'** में **ऋषि आर्थवण** ने ६३ मंत्रों में **'मातृस्वरूपिणी-भूमि'** को समग्र पार्थिव-पदार्थों की जननी और जीवों की पोषिका के रूप में उद्घोषित किया है तथा प्रजा को समस्त बुराईयों, क्लेशों तथा अनर्थों से बचाने तथा सुख-सम्पत्ति की वृष्टि करने की कामना की गई है।

---

१. अथर्ववेद ४/७/६

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।[१]

अर्थात् 'मेरी माता भूमि है और मैं मातृभूमि का पुत्र हूँ, बड़ी ही उदात्त भावना है और इस पुत्र होने की भावना से ही राष्ट्र में अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम का बीज स्फुरित होता है। राष्ट्र (मातृभूमि) के सभी पुत्र इसकी रक्षा के लिए, इसकी अखण्डता के लिए सदैव ही तत्पर रहते हैं। उनकी यह कामना रहती है कि इस पृथिवी पर सभी एक परिवार के सदस्यों की तरह रहें, उनमें आपस में विद्वेष आदि भावना को कोई स्थान नहीं होना चाहिये। जिस मातृभूमि के गर्भ से उत्पन्न वस्तुएँ हमें जीवन देती है, इसमें व्याप्त 'पंचतत्त्व' ही हमें निर्मित करते हैं। वह राष्ट्र जो हमें संरक्षण, सुरक्षा देता है, जिसके विद्वान् एवं योग्य राजा का हम संवरण करते हैं, उसके प्रति निष्ठा होनी चाहिये—

यस्तें गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु।
कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्माँ अपि सं सृज मा नो द्विक्षत कश्चन॥[२]

अर्थात् हे मातृभूमि! हम सबकी उत्पत्ति-स्थली पृथिवी! तेरी जो गंध (अंश) स्त्री व पुरुषों में सौभाग्यमय कान्ति रूप से विद्यमान है, जो अश्वों में, वीर्यवान् पुरुषों में, जो मृगों में और जो हस्तियों में है, जो वर्चस (कान्तिमया भाग) कन्याकुमारी में विद्यमान है, उस गंध और कान्ति से हमें भी युक्त कर और हमें आपस में विद्वेष की भावना से मुक्त कर।

राष्ट्र के लिए एक भयमुक्त समाज, आपस में वैर व वैमनस्य का अभाव, ज्येष्ठता और कनिष्ठता की भावना की अनुपस्थिति ही एक सबल आधार होता है और यह स्वतंत्र राष्ट्र के नागिरकों का प्रमुख कर्तव्य होता है कि वह सत्य का आश्रय लेकर ही जीवन-यापन करें तभी उन्हें वैभव की प्राप्ति होगी एवं सर्वोत्कृष्ट स्वतंत्र राष्ट्र का निर्माण होना संभव है। इस बारे में निम्न मंत्र में उल्लिखित है—

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे॥[३]

---

१. अथर्ववेद १२/१/१२
२. अथर्ववेद १२/१/२५
३. अथर्ववेद १२/१/८

अर्थात् सर्वोत्तम राष्ट्र के रूप में हमारी मातृभूमि हमारे व्यक्तिगत एवं सामूहिक पराक्रम एवं उत्कर्ष का धारक हो। इस प्रकार 'भूमि' या 'उत्तम राष्ट्र' पयार्यवाची शब्द माने गये हैं। इस प्रकार से राष्ट्र की सर्वोच्चता की कामना की गई है। इस भावना से ही राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता को बल मिलता है।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु॥[१]

अर्थात् कर्तव्यपालन करने से व्यक्ति एक अनुपम आनन्द की अनुभूति करता है। जो राष्ट्रभक्त समझकर मातृभूमि की रक्षा करते हैं, उन्हें अनुपम आत्मतुष्टि की अनुभूति होती है। इसीलिए वीरों से वह अपेक्षा की जाती है कि जब कभी शत्रु मातृभूमि पर आक्रमण कर उन पर विपत्ति लाने का प्रयास करेगा तो वे अपनी पूर्ण शक्ति एवं सामर्थ्य से विरोध करेंगे और अपने देश को संकट से मुक्त रखेंगें।

अथर्ववेद में राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के प्रति राष्ट्रवासियों के कर्तव्यों एवं उनके प्रति श्रद्धा रखने के बारे में वर्णन किया गया है। इसके लिए बारहवें काण्ड में पृथिवी सूक्त में विशेष रूप से वर्णन किया गया है।

यदि राष्ट्र में राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के शत्रु उत्पन्न हो जायें तो उन्हें विनष्ट करने के लिए सेना को कुशल संचालन से उनके नाश के लिए प्रयास करना चाहिये, ताकि भविष्य में इस राष्ट्र के अहित के लिए कोई मन में विचार भी न ला सकें।

व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत।
अथो यदुद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि॥[२]

देश में व्याप्त शत्रुता का भाव प्रतिकूल दिशा में गमन करें अर्थात् उनकी भावनाएँ परिवर्तित हो जायें। वे राष्ट्र हित में सोचने लगे और अपने कर्तव्यों का अहसास करें। राष्ट्रवासियों के लिए शुभ एवं अनुकूल मार्ग प्रशस्त किया गया है।

---

१. अथर्ववेद १२/१/४१
२. अथर्ववेद ३/२/४

सप्तम अध्याय

ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् में राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता का अनुशीलन

१. ब्राह्मण, आरण्यक एवम् उपनिषद् में निरूपित राष्ट्रीयएकता एवम् अखण्डता के आधारतत्त्व :

राष्ट्र की महत्ता को किसी भी काल में अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। मनुष्य के अस्तित्व और उसके पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन को उससे पृथक् करके वर्णित नहीं किया जा सकता है। दैवशासन में भी इन्द्र के राजा होने का और उसके शासित इन्द्रलोक का जिस तरह वर्णन प्राप्त होता है, ठीक उसी प्रकार मानव समूहों में मानवश्रेष्ठ का राजा और शेष लोगों के शासित होने का उल्लेख सभी ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

आपस में हिल मिलकर रहने का सन्देश भी सभी युगों में गूँजता रहा है क्योंकि इसमें निहित प्रेम की भावना ही उस संसार का आधारतत्त्व है। राष्ट्र में व्याप्त यही भावना राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को बल प्रदान करती है।

तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।[१]

अर्थात् **हम जीवन भर परस्पर स्नेह के सूत्र में बँधे रहें और कभी एक दूसरे से परस्पर द्वेष न करें।**

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और इस समाज में सहयोग, प्रेम और आपसी समझदारी के साथ ही जीवन व्यतीत करने का सन्देश प्रदान किया गया है जिससे कि एक राष्ट्र की जड़े और मजबूत होती हैं, जिन पर प्रहार करने का साहस कोई भी शत्रु नहीं कर सकता। राष्ट्र के निवासियों में भी सभी श्रेणी के लोग प्राप्त होते हैं जिनमें कुछ स्वार्थी होते हैं। उन्हें निजस्वार्थ हेतु ही विचार करना होता है और अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए प्रयास करते हैं। जो व्यक्ति प्रबुद्ध होते हैं वे सदैव ही परम कल्याण की कामना करते हैं।

---

१. कठोपनिषद्

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते।।[१]

अर्थात् मनुष्य को जीवन में **श्रेय** और **प्रेय** दोनों ही प्राप्त होते हैं लेकिन वह अपनी बुद्धि और विवेक के अनुरूप ही उनको ग्रहण करता है। **बुद्धिमान् श्रेय को चुनता है और अल्प बुद्धि वाला प्रेय की ओर आकर्षित होता है।**

इस मंत्र के यदि आन्तरिक भाव की ओर देखें तो ज्ञात होता है कि संसार में व्यक्ति को **'स्व'** एवं **'पर'** दोनों का ही विवेकपूर्ण चुनाव करना पड़ता है। बुद्धिमान् व्यक्ति श्रेय का चुनाव इसलिए करता है क्योंकि वह परम कल्याण का दाता है। उसमें सम्पूर्ण विश्व का कल्याण निहित है—

'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में इसी प्रकार का उल्लेख किया गया है जहाँ पर **राष्ट्र** को धारण करने की प्रशंसा की गई है :—

सविता राष्ट्रं राष्ट्रं राष्ट्रपति राष्ट्रमस्मिन् मयि दधतु।

अर्थात् **''सविता, राष्ट्र और राष्ट्रपति है। इस यज्ञ में मुझ में राष्ट्र धारण करा दें।''**

राष्ट्र को उस समय भी सम्माननीय स्थान प्राप्त था और उसको सब लोग दृढ़ एवं शक्तिशाली बनाने की कामना रखते थे। राष्ट्र के उत्थान की बात हर स्थान पर दुहरायी गई है ताकि **राष्ट्र का अस्तित्व** सदैव सुरक्षित रहे और **राष्ट्र के अस्तित्व से ही व्यक्ति का अस्तित्व बना हुआ है।**

आ त्वाहार्षमन्तर भू ध्रुर्व स्तिष्ठा विचाचलिः।
विश सत्वा सर्वा बाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्।।[२]

अर्थात् 'हे अग्ने! मैं तुमको लाया हूँ, तुम भीतर हो (नाभि के ऊपर), (शरीर मध्य में) तुम चलन रहित हो, स्थिर बैठो। सारी प्रजा तुम्हें चाहे। **राष्ट्र अर्थात् जनपद समूह तुमसे गिरे नहीं।'**

इस मंत्र के द्वारा राष्ट्र की अखण्डता का भाव प्रस्तुत होता है, उसकी एकता की भावना बलवती होती है। राष्ट्र सुदृढ़ रहे, निश्चल रहे, यही कामना उस समय भी की गई थी।

प्रजा का सुन्दर ढंग से परिपालन, उसके लिए जीवन की सभी सुविधाओं को प्रस्तुत करना और उनमें सुरक्षा की भावना की जागृति, यह एक राष्ट्र के धारक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह तत्त्व जीवन और जीव के लिए बहुत आवश्यक है।

---

१. कठोपनिषद् १/२/२
२. वाजसनेही संहिता- १२/११

प्रजां च परिपातु नः[१]

इसमें संवत्सर से प्रार्थना है कि वह यज्ञ को धारण करें और प्रजा का परिपालन करें। राजा के लिए प्रजा का परिपालन प्रथम कर्तव्य माना गया है। उसे सन्तति समझकर उसका पालन करने का आदेश दिया जाता है। **जो कामनायें माता-पिता के मन में अपने पुत्र व पुत्रियों के प्रति हों, राजा में प्रजा के प्रति हों तभी राष्ट्र या राष्ट्रपति का सम्मान प्रजा की दृष्टि में बना रहता है।**

'ऐतरेय ब्राह्मण' में राजा के लिए पुरोहित का विशेष महत्त्व निरूपित किया गया है कि राजा को पुरोहित की नियुक्ति अवश्य ही करनी चाहिये। **पुरोहित का कार्य राजा को नीति व कूटनीति सम्बन्धी सलाह देने का होता है** और एक राजा सम्पूर्ण राष्ट्र का शासन स्वविवेक के आधार पर संचालित नहीं कर सकता है। अतः राष्ट्र का विकास, जन-जीवन की खुशी और उन्नति तभी संभव है जबकि **प्रबुद्ध व्यक्ति उसका सलाहकार हो।** पुरोहित को **आह्वनीयाग्नि** तुल्य माना गया है और **उसे प्रजा का प्रतिनिधि माना जाता है** वह राजा से प्रतिज्ञा कराता है कि वह अपनी प्रजा से कभी द्रोह नहीं करेगा। राजकीय-जीवन में कर्मयोग का पालन करना ही सर्वोत्तम आदर्श है। राजकार्य में **'विशः'** का महत्त्व बतलाते हुए **शतपथ ब्राह्मण** में कहा गया है—

श्रीर्वैराष्ट्रम्। ....श्रीवैर्राष्ट्रस्य भारः। .... श्रीर्वैराष्ट्रेस्य मध्यम। ...... क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतम। विड्वै गमो पसो राष्ट्रमेव।

विश्याहन्ति तस्माद् राष्ट्रो विशं धातुकः।

विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशु मन्यत इति।[२]

अर्थात् **'श्री'** का अर्थ कुछ भाष्यकारों ने विद्यादि उत्तम गुणों से युक्त नीति किया है। यदि शक्ति का केन्द्रीकरण होता है तो प्रजा का शोषण एवं उत्पीड़न होता है। **जैसे मांसाहारी मनुष्य पशु को देखकर उसको मारने की इच्छा करता है, उसी प्रकार अधिनायक (राजा) प्रजा के उत्कर्ष का हनन करता है और स्वेच्छाचारी होता है। अतः समष्टि के कल्याण के लिए आवश्यक है कि जनता की सहमति ही राजा का आधार बने।** आज के लोकतंत्र की रूपरेखा उसी समय निश्चित कर दी गई थी, **राष्ट्र का आज का स्वरूप कोई नया नहीं है बल्कि वही आधारतत्त्व लिये हुए हैं।** आज भी प्रजा के सम्यक् पालन के लिए समुचित राष्ट्रपति और प्रजा के प्रतिनिधि होने चाहिये ताकि सम्पूर्ण रूप से उन्हें भी स्थान मिल सके। जब प्रजा का सम्यक् पालन

---

१. वाजसनेही संहिता- २६/१४

२. शतपथ ब्राह्मण १३/२/९/२-८

होता है तब '**ऐतरेय ब्राह्मण**' के इन शब्दों का उल्लेख आवश्यक हो जाता है—

ब्रह्मण एवं तद्यत्र वशमेति तपत्र वै ब्राह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहस्मिन् वीरो जायते।[१]

ऐतरेय ब्राह्मण में 'जनपद' शब्द देश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इन्हीं जनपदों को मिलाकर राष्ट्र का निर्माण हुआ है। इन्हीं जनपदों को मिलाकर बना हुआ राष्ट्र संगठित होता है और इस संगठन में एकता होती है।

राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के प्ररिप्रेक्ष्य में जब देखते हैं तो हमारे ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों से इस बात का पूर्ण ज्ञान होता है कि इसके आधार तत्त्व इसमें समाहित हैं।

२. राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों में समाजदर्शन का अनुशीलन :

समाज मानव जीवन की छवि प्रस्तुत करने का एक सफल मंच है जिन्हें वह अपने जीवन में अपनाता चला आ रहा है और जिस तरह का जीवन वह स्वयं जी रहा है। **सामाजिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों का जो संयुक्त रूप होता है, वह है उसका समाज दर्शन।** छोटी-छोटी बातों में निहित आदर्श ही उनके दर्शन का स्पष्ट स्वरूप प्रदान करता है। वैसे तो सम्पूर्ण वैदिक काल के समाज-दर्शन का आधार एक ही रहा है, उसके कुछ कर्मों और अधिकारों में परिवर्तन अवश्य ही होता रहा है।

वैदिक काल में चार वर्णों में समाज का वर्गीकरण सर्वमान्य रहा है और उसके बारे में **बृहदारण्यकोपनिषद्** (शाङ्करभाष्यार्थ) में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है—

तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म।[२]

अर्थात् **ब्रह्म ने इस वर्ण व्यवस्था को सम्पन्न किया है।** उसके आधार स्वरूप **देवताओं में क्षत्रिय माने जाने वाले इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम और ईशानादि हैं,** उनके अनुसार क्षत्रिय जाति को उत्पन्न किया है और क्षत्रियों को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। उसके अनुसार राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करता है, वह क्षत्रिय में ही अपने यश को स्थापित करता है। चूँकि **ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्म से मानी जाती है अतः वह श्रेष्ठतम माना गया है और वह अपने कर्मों को**

---

१. एतरेय ब्राह्मण ८/६/९

२. बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/११

स्वयं ही निश्चित करता है। ब्राह्मण अपनी श्रेष्ठता क्षत्रिय में ही स्थापित करता है।

क्षत्रियों की रचना के उपरान्त वैश्य जाति की उत्पत्ति के संदर्भ में उपनिषद् में वर्णित है—

स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति॥[१]

अर्थात् वह (ब्रह्म) विभूति युक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। **उसने वैश्य जाति की रचना की। जो ये वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वदेव और मरुत इत्यादि देवगण 'गणश:' कहे जाते हैं (उन्हें उत्पन्न किया)।**

क्षत्रिय जाति के द्वारा पराक्रम और शासन का कार्य तो सुचारु रूप से चलने लगा लेकिन धनोपार्जन हेतु कर्म करने में वे असमर्थ थे और **इस कर्म के साधन भूतधन को उपार्जित करने के लिए वैश्य** जाति की रचना की गई।

इसके बाद भी कुछ कर्मों हेतु वर्ण का अभाव रहा, **तब शूद्र वर्ण की उत्पत्ति की गई–**

स नैव व्यभवत्सशौद्रंवर्णमसृजत पूषणमियं वैपूषेयः हीदः सर्वं पुष्यति यदिदं किंच॥[२]

अर्थात् (फिर भी) वह विभूति युक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। **उसने शूद्र वर्ण की रचना की। पूषा शूद्रवर्ण है।** यह पृथिवी ही पूषा है क्योंकि यह जो कुछ है, यही इसका पोषण करती है।

इस प्रकार चारों वर्णों का विवरण प्राप्त होता है।

पुरुषार्थ :– समाज की आधारशिला मानव जीवन के लिए **पुरुषार्थ चतुष्ट्य** में निहित कर दिया था। वह अपने सम्पूर्ण जीवन के कार्यकलापों का उपयोग इन्हीं चार पुरुषार्थों के लिए ही करता था और इनके पूर्ण होने से ही उसका जीवन सार्थक हो जाता था और परमपद मोक्ष की प्राप्ति में सफल हो जाता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में **''शाङ्खायन-ब्राह्मण''** के अनुसार मानव जीवन **चतुष्टयात्मक** है। भाष्यकार **विनायक** के अनुसार[३] **'चतुष्ट्य'** शब्द पुरुषार्थों के लिए प्रयोग किया गया है और यह **अर्थ, धर्म, काम** और **मोक्ष** की ओर लक्षित करता है।

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१२
२. बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१३
३. शतपथ ब्राह्मण (वैंकटेश्वर प्रेस मुम्बई) से उपोद्घात् से।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी ब्रह्मचर्य के पालन पर विशेष बल दिया गया है। **कर्म करना ही मनुष्य का धर्म होना चाहिए। इन कर्मों का आधार धर्म होना चाहिए। अधर्मपूर्ण कार्य व्यक्ति को दिशाहीन बना देते हैं। अर्थ** की प्राप्ति के लिए प्रयत्न आवश्यक है, **लेकिन धन प्राप्ति के बाद भी त्यागमय जीवन व्यतीत करना चाहिये,** धन के प्रति प्रलोभित नहीं होना चाहिये—

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्चत् जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।[1]

द्वितीय मंत्र में कर्मयोग के सिद्धान्त की प्रस्तुति है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

अर्थ और काम के प्रलोभनवश कोई भी कार्य करना आत्मघात के सदृश माना गया है। **अर्थ के मोह से व्यक्ति कभी मुक्त नहीं हो सकता है और उससे कभी तृप्त भी नहीं होता है।** इसीलिये अर्थ को आवश्यक समझते हुए ही अर्जित करना श्रेयस्कर है। संग्रह की एषणा ही उसे कुमति प्रदान करती है। इसीलिये—

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसोवृणीते।

प्रेयो मन्दोयोग क्षेमाद् वृणीते।।[2]

अर्थात् **मन्दबुद्धि भले ही प्रेय (लौकिक भोगों) की आकांक्षा करे, लेकिन प्रबुद्ध व्यक्ति श्रेय (परम कल्याण) की ही इच्छा करता है।** उनमें शेष तीन पुरुषार्थों की पूर्ति के बाद मोक्ष के लिए प्रयत्नशील हो जाना चाहिये अर्थात् ईश्वर आराधना में लीन होकर मोक्ष प्राप्त करना चाहिये।

आश्रम व्यवस्था :– उपनिषदों के अनुसार एक व्यक्ति को १०० वर्ष के जीवन की कामना करनी चाहिये और उन सौ वर्ष के जीवन को **पुरुषार्थ** के अनुसार ही चार भागों में विभक्त कर देना चाहिये और यह चार भाग— **ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ** एवं **संन्यास आश्रम** के रूप में जाने जाते हैं।

शाङ्खायन ब्राह्मण में पुरुष के **शतायुष्य, उत्सवमयता, शताधिक-पराक्रमों** और **ऐन्द्रिक सामर्थ्य** की आकांक्षा व्यक्त की गई है— **शतायुर्वै पुरुषः।**[3]

---

१. ईशोपनिषद् १.
२. कठोपनिषद् १/२/२
३. शाङ्खायन ब्राह्मण १७/७

तथा—

शतायुर्वै पुरुष शतपर्वा शतवीर्यः शतेन्द्रियः।[१]

इस प्रकार सौ वर्ष की आयु को २५-२५ वर्ष के चार वर्गों में विभाजित करके उनके लिये एक-एक आश्रम निश्चित किया गया है।

'छान्दोग्योपनिषद्' में **धर्म** के तीन आधारभूत स्कन्ध निरूपित हैं— **''भयो धर्म स्कन्धा।''**[२] **धर्म** के प्रतिष्ठाकारक प्रथम स्कन्ध में **यज्ञ, अध्ययन** और **दान** सम्मिलित है। यह समस्त कार्य **ब्रह्मचर्य आश्रम** में सम्पन्न करने चाहिये। सम्पूर्ण निष्ठा के साथ यह कार्य ब्रह्मचारी को पूर्ण करने होते हैं। सम्पूर्ण वेद-पुराणों और समस्त ग्रन्थों से ज्ञान अर्जित कर ही उसे धर्म के अनुसार आचरण करना चाहिये। **द्वितीय स्कन्ध** तपोमूलक है और **तृतीय स्कन्ध** आचार्य कुलवासी **ब्रह्मचारी की साधना से अनुस्यूत है। शाङ्कर-भाष्य** से विदित होता है कि **धर्म** की प्रस्तुत स्कन्धत्रयी की योजना विविध आश्रमों के अनुरूप ही हुई है। इस दृष्टि से **यज्ञ, अध्ययन** और **दान गृहस्थ साध्य है।** तपस्या का अनुष्ठान सामान्यतः सभी के लिए कल्याणसाधन होने पर भी मुख्यतः वानप्रस्थियों के द्वारा ही विधेय है। उसके साथ ही **संन्यास आश्रम** में सभी **सांसारिक, भौतिक सुखों एवं वस्तुओं को त्याग कर ईश्वर प्राप्ति के लिए तप करने का प्राविधान है और वही मोक्ष प्राप्त करने की अवस्था है।** उस आश्रम में वह पुत्र, पत्नी, गृह सब त्याग देता है—

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति॥[३]

अर्थात् **''याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा कि मैं इस गृहस्थाश्रम से ऊपर संन्यास आश्रम में जाने वाला हूँ। अतः मैं तुम्हारी अनुमति चाहता हूँ और** अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का बँटवारा कात्यायनी और तेरे मध्य कर दूँ।''

इससे स्पष्ट होता है कि संन्यास आश्रम में व्यक्ति सभी भौतिक वस्तुओं को त्याग देता है और तन-मन से ईश्वर भक्ति में लीन हो जाना चाहता है।

स्त्री की स्थिति : वैदिक युग में नारी को पूर्ण सम्मान प्राप्त था। वह पुरुषों से किसी भी दृष्टि से हीन नहीं समझी जाती थी। शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार उसे ब्रह्मचारियों की तरह ही प्राप्त था। तत्पश्चात् अपने अनुरूप वर से ही विवाह करने

---

१. शाङ्खायन ब्राह्मण १८/१०

२. छान्दोग्योपनिषद् २/३१/१

३. बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१

की अनुमति प्रदान की गई थी। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार पत्नी को पुरुष की आत्मा का आधा भाग स्वीकार किया गया है–

अर्धो हवा एष आत्मनो याज्जाया।[१]

स्त्री के बिना सामाजिक या धार्मिक अनुष्ठान की पूर्ति सम्भव नहीं थी। यही स्थिति नारी की स्थिति को व्यक्त करने के लिए **ऐतरेय ब्राह्मण** से ज्ञात होता है कि उस समय समाज में स्त्रियों को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। कहा गया है कि **पत्नी को प्राप्त करके ही पुरुष पूर्ण होता है–**

पुरुषो जायां वित्वा कृत्स्नतमिवात्मानं मन्यते।[२]

इस प्रकार उपनिषद्, ब्राह्मण और आरण्यक में प्रस्तुत सामाजिक दर्शन में राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए एक ऐसा वातावरण प्रस्तुत होता है जिससे एक सुदढ़ राष्ट्र का निर्माण होता है। हमारे वैदिक वाङ्मय ने इस देश की मिट्टी में, हवा में और वातावरण में अपने मंत्रों, ऋचाओं से एकता के सूत्र में बद्ध रहने का वेदमंत्र प्रदान किया है।

३. राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों के राजदर्शन का अनुशीलन :

राजनीति मानवसमाज का अपरिहार्य अंग है। वैदिक युग में एक सुव्यवस्थित, कल्याणकेन्द्रित और सर्वाभिमुखी राजनैतिक व्यवस्था दिखलाई देती है।

ऐतरेय ब्राह्मण में **'जनपद' शब्द देश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।** इन्हीं जनपदों को मिलाकर राष्ट्र का निर्माण हुआ था। **ब्राह्मण ग्रन्थों** में राज्यों की समृद्धि और सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नति का विशेष उल्लेख है। इस बात से यह ज्ञात होता है कि **राजा उस समय अपने दायित्वों को पूर्ण निष्ठा से निभाते थे।**

उपनिषदों में राज्यों के ब्रह्मवादियों एवं याज्ञिकों का भी विशेष उल्लेख मिलता है।

ऐतरेय ब्राह्मण में जिन **शासन प्रणालियों** का उल्लेख प्राप्त होता है उनमें से **कुछ राजतांत्रिक थीं** और **कुछ लोकतांत्रिक**। इस ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में पुरोहित को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। राजा द्वारा पुरोहित की नियुक्ति पर विशेष बल दिया गया है। पुरोहित राजा के कार्यों में सलाहकार की भूमिका निभाता है और चूँकि

---

१. शतपथ ब्राह्मण ५ /२१/१०
२. ऐतरेय ब्राह्मण १/३/५

वह प्रजा का प्रतिनिधि होता है, अत: वह प्रजा के अधिकारों एवं उनके हितों की रक्षा के लिए राजा को सदैव सलाह देता है। **वह राजा से राज्याभिषेक के समय यह प्रतिज्ञा कराता है कि वह अपनी प्रजा से कभी द्रोह नही करेगा।**

ऐतरेय ब्राह्मण के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि **राजसत्ता का उदय पारस्परिक अनुबन्ध से हुआ।**[१]

उपनिषदों से ज्ञात होता है कि आरम्भ में इतना **आत्मानुशासन** था कि **समाज में अपराधियों का अस्तित्व ही नहीं था।** अत: राजसत्ता की कोई आवश्यकता नहीं की गई। **धर्म** ही समाज का नियंत्रक था। **ऋग्वेदीय संज्ञान सूत्र** के निम्नलिखित सुप्रसिद्ध मंत्र में, समिति में भाग लेने वालों के सन्दर्भ में **वैचारिक एकता** पर बल दिया गया है—

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।[२]

वैचारिक एकता से ही राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता की कामना की जा सकती है। राष्ट्रीय सभा और समितियों का निर्माण जनप्रतिनिधियों के द्वारा होता है और उनकी **वैचारिक एकता सम्पूर्ण राष्ट्र की एकता और अखण्डता का द्योतक है।**

४. राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों के धर्मदर्शन का अनुशीलन :

समस्त वैदिककालीन ग्रंथों का आधार ही धर्म है। इसमें चाहे वर्णन राजनैतिक व्यवस्था का हो, सामाजिक व्यवस्था या कि आर्थिक व्यवस्था का– सभी का आधार धर्म ही रहा है। धर्मानुसार किया गया आचरण सदैव ही समाज द्वारा स्वीकृत होता है।

उपनिषदों में धार्मिकअनुष्ठानों का प्रमुख प्रयोजन **विश्वात्मभाव की अनुभूति** कराना है। **याग के समान अन्य धर्मानुष्ठानों की मूल प्रेरणा आनन्द प्राप्ति है और वह अन्त:करण की व्यापकता तथा उदारता में निहित है।** एतदर्थ **छान्दोग्योपनिषद्** में भूमा शब्द का प्रयोग है, जो स्वयं सुख स्वरूप है— **यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।** [३] **'भूमा' का अभिप्राय सबको अपना समझना है। ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दायें-बायें सर्वत्र आत्मभाव की अनुभूति ही 'भूमा' है।**

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण १/१४
२. ऋग्वेद संहिता १०/१९१/३
३. छान्दोग्योपनिषद् ७/२३/१

छान्दोग्य-उपनिषद् में बहुविध उपासना में विद्या, श्रद्धा और योग की आवश्यकता होती है। **यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति।**[१] इसके साथ ही **मनन-चिन्तन, विज्ञान** और **निष्ठा** की अपरिहार्यता भी प्रदर्शित है। **अभिमत-विशेष का प्रमाद रहित होकर ध्यान करना ही उपासना है– ध्यायात् न प्रमत्तः।**[२]

धर्म के बारे में **बृहदारण्यकोपनिषद्** में इस प्रकार वर्णित किया गया है--

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥[३]

अर्थात् **यह धर्म समस्त भूतों का मधु है तथा समस्त भूत इस धर्म के मधु है।** इस धर्म में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म धर्मसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि **'यह आत्मा है'**। **'यह अमृत है'**, **'यह ब्रह्म है'**, **'यह सत्य है'**।

कठोपनिषद् में **आत्मज्ञान** के लिए **तर्क, प्रवचन** एवं **बुद्धिजन्य उपायों** को **अपर्याप्त** समझा गया है। इसके लिए अपने को सुपात्र बनाना पड़ता है। ताकि आत्मतत्त्व स्वयं वरण कर सकें। **जो मनुष्य विज्ञान (विवेक) सारथि से सम्पन्न और मनरूप लगाम वाला है, वही परम पद प्राप्त करता है। कठोपनिषद्** सावधान करता है कि हम **अज्ञाननिद्रा से उठें, जागें और श्रेष्ठ पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करें।**

सम्पूर्ण ग्रन्थों में धर्माचरण का उपदेश दिया गया है। ईश्वर की प्राप्ति ही एक मात्र उद्देश्य मानकर मानव जीवन में सदैव सत्याचरण करके परम पद की प्राप्ति करें।

५. राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों के आचारदर्शन, शिक्षादर्शन तथा अर्थदर्शन का अनुशीलन :

राष्ट्र का निर्माण मनुष्यों के द्वारा होता है और मनुष्यों के चारित्रिक बल, नैतिक मूल्य एवं आध्यात्मिक विचारधारा से ही राष्ट्र की दृढ़ता में शक्ति का समावेश होता है। हमारे धर्म ग्रन्थ, वैदिक वाङ्मय ही हमें नैतिक मूल्यों, जीवन आदर्शों और आध्यात्मिक आधारों से अवगत कराते हैं।

---

१. छान्दोग्योपनिषद् १/१/१०
२. छान्दोग्योपनिषद् १/३/१२
३. बृहदारण्यकोपनिषद् २/५/११

ऐतरेय ब्राह्मण में नैतिक मूल्यों और उदात्त आचार-व्यवहार के सिद्धान्तों पर विशेष बल दिया गया है। प्रथम अध्याय के षष्ठ खण्ड में वर्णित है कि **दीक्षित यजमान को सत्य ही बोलना चाहिए– ऋतुं वाव दीक्षा सत्यं दीक्षा तस्माद्दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्।**

शाङ्खायनब्राह्मण में भी मानवीय आचार के नियामक और निर्देशक तत्त्व बाहुल्य में उपलब्ध होते हैं। व्यक्ति के लिए वाणी परम उपादेय सिद्ध होती है। इस बारे में **शाङ्खायन ब्राह्मणकार** का कथन है—

अथो वाग्वै सार्पराज्ञी। वाग्धि सर्प तो राज्ञी।[१]

शतपथ ब्राह्मण में श्रम एवं तप का महत्त्व पौनः पुन्येन प्रदर्शित है।[२] **अनृतभाषी को अमेध्य कहा गया है–**

अमेध्यों वै पुरुषो यदनृतं वदति।[३]

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार मनुष्य का आचरण देवों के समान होना चाहिये–

इति देवा अकुर्वत। इत्यु वै मनुष्याः कुर्वते।[४]

सत्यभाषण, वाणी की मधुरता, तपोमय जीवन, अतिथि सत्कार, संगठनशीलता, सम्पत्ति के परोपकार हेतु विनियोग, मांस–भक्षण से दूर रहने तथा ब्रह्मचर्य के पालन पर विशेष बल दिया गया है। **'अहिताग्नि-व्यक्ति' को असत्य कदापि नहीं बोलना चाहिए क्योंकि तेजोमयता सत्य से ही है– 'अहिताग्निः न अनृतं वदेत।'**

तपोमय-जीवन, 'तैत्तिरीय-ब्राह्मण' में प्रतिपादित, द्वितीय महनीय जीवन मूल्य है— तपस्या से देवों ने उच्च स्थिति प्राप्त की, ऋषियों ने स्वर्गिक सुख पाया और शत्रुओं का विनाश किया—

तपसा देवा देवतामग्रआयन् तपसर्षयः स्वर्गमन्वविन्दन्।

तपसा सपत्नान् प्रणुदोमशतीः।[५]

गोपथ ब्राह्मण के अनुसार मन का बहुत महत्त्व है। आदमी मन से जो सोचता है, वही होता है–

---

१. कौषीतकि ब्राह्मण २६/४
२. शतपथ ब्राह्मण १४/१/१/१
३. शतपथ ब्राह्मण १/१/१
४. तैत्तिरीय ब्राह्मण १/५/९/४
५. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/१२/३/१

स मनसा ध्यायेद् यद् वा अहं किञ्च मनसा ध्यास्यामि तदैव या तद् भविष्यति। यद्धस्म तथैव भवति।[१]

ब्राह्मणकार ने आधे-अधूरेपन से कार्य करने से मना किया है।

द्वितीय पाठक में ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का विस्तार से निरूपण किया गया है। ऐन्द्रिय रागों एवं आकर्षणों से बचने की सलाह दी गई है। स्त्री सम्पर्क, दूसरों को कष्ट पहुँचाना, ऊँचे आसन पर बैठना उसके लिए वर्जित बताया गया है। संरक्षित धर्म ही उसकी रक्षा करता है— **'धर्मो हैनं गुप्तो गोपायति'**।[२] संभवत: यही गोपथ **ब्राह्मणोक्ति सूक्ति लौकिक संस्कृत** में **'धर्मो रक्षित:'** में परिणत हो गई।

आचार की दृष्टि से गोपथ ब्राह्मण का स्तर अत्यन्त उच्च और उदात्त है।

आरण्यक-साहित्य भी नैतिकता और **आचार-दर्शन** की दृष्टि से **मानवीय मानस के ऊर्ध्वारोहण में परम सहायक है।**

वैदिकवाङ्मय से प्राप्त **शिक्षादर्शन** बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। उस काल की शिक्षा का उद्देश्य **मात्र ज्ञान प्राप्त करना नहीं था अपितु उसे जीवन में आत्मसात कर लेना ही ब्रह्मचारी की शिक्षा परीक्षा और सफलता मानी जाती थी।** शिक्षा काल के दौरान ब्रह्मचर्य का पालन इस बात का द्योतक है कि सम्पूर्ण इन्द्रियों एवं मस्तिष्क को शिक्षा ग्रहण करने के लिए केन्द्रित करके अध्ययन कार्य सम्पन्न करना। इसी तरह से गुरु भी अपने शिष्यों की सफलता को अपने शिक्षा दान की सफलता मानता था। **शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मानव की प्राकृतिक शक्तियों को सुविकसित कर उसे जीवन की समस्याओं को सुलझाने में समर्थ बनाना था।** तपस्या के अनुष्ठानपूर्वक वेद और सत्य का ज्ञान प्राप्त करना ही विद्यार्थी की चर्चा थी जिससे वह मृत्यु तक पर विजय प्राप्त कर सके।

तत्कालीन शिक्षादर्शन स्मृति, धारणा और बोध तीनों पर आश्रित थी। ज्ञान प्राप्त करने की अदम्य जिज्ञासा से ओतप्रोत उदाहरण नचिकेता है, जिन्होंने यम सरीखे गुरु के पास जाकर मृत्यु का रहस्य सीखना चाहा था और यमराज द्वारा विविध प्रलोभनों से डिगाये जाने पर भी वह सर्वथा अविचलित रहा। तब यम ने स्वयं नचिकेता की पात्रता को स्वीकार करते हुये कहा—

स त्वं प्रियान्प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः।।[३]

---

१. गोपथ ब्राह्मण १/१/९
२. गोपथ ब्राह्मण १/२/४
३. कठोपनिषद् १/२/३

अर्थात् '**यमराज कहते हैं- हे नचिकेता! तुम्हारी परीक्षा करके मैंने अच्छी तरह देख लिया कि तुम बड़े बुद्धिमान्, विवेकी और वैराग्यसम्पन्न हो।** अपने को बहुत बड़े चतुर, विवेकी और तार्किक मानने वाले लोग भी जिस चमक-दमक वाली सम्पत्ति के मोहजाल में फँस जाया करते हैं, उसे भी तुमने स्वीकार नहीं किया। मैंने बड़ी ही लुभावनी भाषा में तुम्हें बार-बार पुत्र, पौत्र, हाथी, घोड़े, गौयें, धन, सम्पत्ति, भूमि आदि अनेकों दुष्प्राप्य और लोभनीय भोगों का प्रलोभन दिया। इतना ही नहीं स्वर्ग के दिव्य भोगों और अप्रतिम सुन्दरी स्वर्गीय रमणियों के चिर-भोग सुख का लालच दिया, किन्तु तुमने सहज ही उन सबकी उपेक्षा कर दी। **अतः तुम अवश्य ही परमात्मतत्त्व का श्रवण करने के सर्वोत्तम अधिकारी हो।**'

इस प्रकार की शिक्षा व्यक्ति को एक आदर्श नागरिक बना सकती है। सत्याचरण, धर्माचरण का पाठ सदैव ही पढाया गया है। ऐसे ही नागरिक राष्ट्रीयएकता और अखण्डता के लिए प्रतीक बन जाते हैं।

६. राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता को ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों का प्रदेय :

राष्ट्र की भूमिका मानव जीवन में सर्वोपरि रही है। एक स्वतंत्र राष्ट्र, सुयोग्य शासक, धन-धान्य से परिपूर्ण भूमि और सुरक्षित देश की सीमाओं में ही नागरिक सुख-चैन की साँस लेकर, अपने समाज तथा राष्ट्र की प्रगति के बारे में विचार कर सकता है।

एक व्यक्ति के लिए कर्मनिष्ठ जीवन और पुरुषार्थ साधन का महत्त्व सर्वाधिक होता है। उसके इन्हीं गुणों एवं कार्यों से राष्ट्र के प्रति योगदान की गणना होती है जिसके कारण राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता को किसी प्रत्यक्ष सम्बल की आवश्यकता अनुभव नहीं होती है, अपितु प्रत्येक मानव के जन्म से लेकर दी जाने वाली शिक्षा, वातावरण और सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों से ही उसकी आधारशिला सुदृढ़ होती है।

ऐतरेय ब्राह्मण में '**शुनःशेप**' से सम्बद्ध आख्यान में दिया गया **उपदेश व्यक्ति को कर्मण्ठता की ओर ले जाता है।** कहा गया है कि ''**बिना थके हुए 'श्री' नहीं मिलती।**'' जो विचरता है, उसके पैर पुष्पयुक्त होते हैं, उसकी आत्मा फल को उगाती और काटती है। भ्रमण के श्रम से उसकी समस्त पापराशि नष्ट हो जाती है। **बैठे हुए व्यक्ति का भाग्य भी बैठ जाता है और सोते हुए व्यक्ति का सो जाता है और चलते हुए का चलता रहता है। चलते हुए ही मनुष्य स्वादिष्ट फल प्राप्त करता है। सूर्य के श्रम को देखो, जो चलते हुए कभी आलस्य नहीं करता-**

सूर्यस्य पस्य श्रृङ्गार यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति।[१]

इस प्रकार के कर्मठ नागरिकों के जीवन सन्देश से राष्ट्र स्वयं सुदृढ़ होता है। राष्ट्र की शक्ति वैचारिक एकता एवं आपसी सद्भाव से ही बढ़ती है, शस्त्रों की होड़ और युद्ध के लिए तैयार सैनिकों से नहीं। हमारे ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषद् वास्तविक अर्थों में मनुष्य को मानवता से परिचित कराते हैं।

राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता के लिए आवश्यक है कि सभी राष्ट्रवासी आपस में हिल-मिलकर रहें क्योंकि **उसमें निहित प्रेम की भावना उन्हें एकता के सूत्र में बाँधती है।**

तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।।[२]

इस मंत्र का आशय आपस में स्नेहसूत्र में बँधे रहने तथा एक दूसरे के प्रति कभी विद्वेष न रखने से है। यही भावना उन्हें एक दूसरे के सुख-दुःख में सहयोग देने के लिए प्रेरित करती है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की अवधारणा हमारे ऋषि और मुनियों द्वारा ही प्रदान की गई है।

इस दिशा में **ईशोपनिषद्** के निम्न मंत्र से स्वयं की सर्वत्र व्यापकता मनुष्य को एक उच्च विचारधारा प्रदान करती है। जब व्यक्ति स्वयं को ही देखेगा तो उसके लिए घृणा और विद्वेष के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।

सबसे अधिक समाज में व्यक्ति के भावों और कर्मों का महत्त्व होता है। **चरित्रवान् नागरिकों से ही राष्ट्र की एकता और अखण्डता को बल प्राप्त होता है।** यह ग्रन्थ ही हिन्दू संस्कृति के लिए बहुत ही आदरणीय है। उनका महत्त्व हर युग में समान ही रहा है। वे कारक, जो पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव से पनपने लगे हैं, उनके प्रभाव को मुक्त कराने के लिए ही हमारी वैदिकग्रन्थों की उपादेयता बहुत अधिक बढ़ जाती है।

हमारे **ब्राह्मण, आरण्यक** और **उपनिषद् ग्रन्थों** से प्राप्त शिक्षा ही आज भी देश को विश्व में एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाये हुए है और पाश्चात्य विद्वान् भी इन ग्रन्थों के अध्ययन हेतु उत्सुक रहते हैं। **हमारे राष्ट्र की अनेकता में एकता का आधार यही वैदिक साहित्य है।** सभी के चारित्रिक बल का आधार यही है। विभिन्न भाषाओं की उपस्थिति के बाद भी वेदों, उपनिषदों, सभी का ज्ञान सभी विद्वानों को है और वे उन तथ्यों को स्वीकार करते हैं।

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण ३३/१

२. कठोपनिषद्

अष्टम अध्याय

गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र में राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता का अनुशीलन

१. गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र में निरूपित राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के आधार तत्त्व–

वैदिकवाङ्मय की शाखाओं और प्रशाखाओं का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण साहित्य वेदों की सामग्री से निकली हुई ज्ञानसरिता की विभिन्न धाराएँ हैं। राष्ट्र व्यक्ति के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण आधार है। यह सम्बन्ध भावात्मक है और पृथिवी से जुड़े हुए सम्बन्ध की आधारशिला है, जो उसके शारीरिक अस्तित्व से जुड़ा ही रहता है। राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में उस काल के आधारतत्त्व में सबसे महत्त्वपूर्ण **व्यक्ति की धार्मिक मानसिकता** है। राजनीति धर्म से कभी पृथक् हुई ही नहीं है। **धर्म से पूर्ण राजनीति ही सर्वमान्य मानी जाती थी** और जहाँ व्यक्ति धार्मिकता, नैतिकता से जुड़ा हुआ होता है, वहाँ इनकी मर्यादाओं का सम्मान करना उसका परम कर्तव्य होता है। **ऐसे राष्ट्र में व्यक्ति की अपनी मातृभूमि के प्रति पूर्ण श्रद्धा और विश्वास होता है।**

इस वर्णन से हमें अपने गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों का आधार वेद ग्रन्थों से ही प्राप्त होता है। **सर्वोत्तम राष्ट्र के रूप में हम अपनी मातृभूमि को सर्वोत्तम उत्कर्ष के धारक के रूप में अवश्य ही देखना चाहते हैं। इस प्रकार मातृभूमि और राष्ट्र को पर्यायवाची माना गया है।** तुलनात्मक योग्यता बताने के लिए संस्कृत में तरप् और तमप् प्रत्ययों का प्रयोग किया गया है और इस प्रकार 'उत्' से उत्तर, उत्तम-उच्चता की ये तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं। हमारा राष्ट्र उत्तम हो अर्थात् संसार में विद्यमान समस्त राष्ट्रों में सर्वोत्तम एवं सर्वोत्कृष्ट हो, यह कामना की जाती है। इस भाव को निम्न मंत्र द्वारा स्पष्टतया देखा जा सकता है।

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे॥[१]

---

१. अथर्ववेद १२/१/८

अर्थात् जो राष्ट्र अपने विकास की प्राथमिक अवस्था में जल के समान शीतल गुण वाले मननशील विद्वानों के संरक्षण रूप समुद्र के समान स्थिर था, जिस राष्ट्र के मध्य फेन रूप अमरस्थान या सार्वभौम ज्ञान की अनन्य राशि सत्य से व्याप्त है अर्थात् राष्ट्र का नियंत्रण केवल सत्य के आधार पर ही हो सकता है जो राष्ट्र आकाश में विद्यमान अर्थात् जिस प्रकार के समस्त तत्त्वों की गति समान होती है उसी प्रकार जिस राष्ट्र में समस्त जन समुदाय को सामान्य रूप से गति या उन्नति करने का अवसर प्राप्त होता है, ऐसे सर्वोत्तम राष्ट्र में हम तेज और पराक्रम को धारण करें।

सार्वजनिकजीवन में तप भी एक महान् आवश्यक एवं अनिवार्य गुण है। व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के कार्यों में प्रायः हानि-लाभ, शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों को सहन करना पड़ता है। इसी प्रकार **मातृभूमि, देश अथवा राष्ट्र की सेवा में हमको अनेक प्रकार के कष्टों का अनुभव हो सकता है। सभी कष्टों को यथावत् सहते हुये राष्ट्र की उन्नति में सतत् प्रयत्नशील रहना ही मातृभूमि में सच्चे सेवक के लिए परम तप है। तप के अनन्तर ब्रह्म या यथार्थ ज्ञान भी एक आवश्यक राष्ट्रीय गुण बताया गया है। 'ऋते ज्ञानान्न मोक्षः' अर्थात् ज्ञान के अभाव में मोक्ष संभव ही नहीं है।**

राष्ट्र एवं समाज का हित उसी दशा में संभव है जबकि प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत रूप में अथवा समाज या राष्ट्र के सामूहिक रूप में ज्ञान का अर्जन करें। प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होना चाहिये कि वह अपने देश की परिस्थिति का अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करे तथा जहाँ तक संभव हो नाना प्रकार के शिल्प एवं कला कौशल के संबंध में भी अपने आपको प्रवीण बनाने का प्रयास करे।

धर्मयुक्त समाज एवं समाज के सदस्यों का धर्मयुक्त आचरण ही राष्ट्र की उन्नति में सहायक होता है। धर्म ही राजा के चयन से लेकर आचरण, कर्तव्यों एवं गुणों को निश्चित करता है। धर्म की कसौटी पर खरा उतरने वाला राजा ही राष्ट्र की एकता और अखण्डता की रक्षा के लिए सहायक होता है। इसीलिए अथर्ववेद में उल्लिखित है—

त्वां विशो॑ वृणतां रा॒ज्याय॒ त्वामि॒माः प्र॒दिश॒ः पञ्च॑ दे॒वीः।
वर्ष्म॑न् रा॒ष्ट्रस्य॑ क॒कुदि॑ श्रयस्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॑जा॒ वसू॑नि॥[१]

अर्थात् तुम्हें प्रजा द्वारा राज्य के लिये चयन किया जाये, ये **पाँच दिव्य दिशायें भी तुम्हें स्वीकार करें।** राष्ट्र के उच्च स्थान और उत्कृष्ट पद पर सदैव आसीन रहो। राजन्, सदैव राष्ट्र में रक्षा के प्रति उग्र रहो और हमें वहाँ से धन प्राप्त कराओं।

---

१. अथर्ववेद ३/४/२

राष्ट्र के नागरिकों को जीवनदर्शन भी **धर्म** के द्वारा ही निश्चित होता है। उन्हें **सम्पूर्ण राष्ट्र** को परिवार समझकर ही व्यवहार करना चाहिये। जैसे परिवार के सदस्यों में किसी प्रकार का वैमनस्य या भेदभाव नहीं होता है, उसी प्रकार राष्ट्र में भी नहीं होना चाहिये। हमारे धार्मिक ग्रन्थ– **वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक** और **सूत्र** आदि हमें यही सिखाते हैं कि **मातृभूमि को माँ समझकर, राष्ट्रवासियों को पुत्र समझकर सदैव व्यवहार करना चाहिये जैसे माँ के द्वारा स्वयं के अच्छे पालन-पोषण होने पर पुत्र भी उसकी रक्षा के लिए अपने प्राणोत्सर्ग के लिए सदैव ही तैयार रहते हैं।** किसी शत्रु को बुरी दृष्टि से देखना भी उन्हें मान्य नहीं होता है। **धर्म** के द्वारा निर्देशित व्यक्ति न स्वयं अन्याय के पथ पर चलना पसन्द करता है और न अन्य का चलना उसे मान्य होता है। जहाँ संस्कृति का स्वरूप ही **नीति** और **धर्म** द्वारा संचालित हो, वहाँ पर खुशियों और समृद्धि के अतिरिक्त कुछ सोचा ही नहीं जा सकता है। ऐसे राष्ट्र में, जहाँ नागरिक के रक्त में ही वेदों की ऋचाएँ, मंत्रों की शुद्धता और धार्मिकता प्रवाहित हो रही हो, उसकी एकता और अखण्डता के आधारतत्त्वों में प्रमुख– उसके नागरिकों का चरित्र, भावनायें और राष्ट्र के प्रति प्रेम और **वसुधैव कुटुम्बकम्** की पवित्र भावना ही कही जा सकती है।

२. राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में गृह्यसूत्र एवम् धर्मसूत्र के समाजदर्शन का अनुशीलन–

मानव समाज में रहता है और समाज के नियमों का नियमन **ऋषि, मुनि, विद्वानों** द्वारा ही किया जाता है और उनका परिपालन करना समाज के सदस्यों के लिए अनिवार्य माना जाता था। **गृह्यसूत्रों** एवं **धर्मसूत्रों** में उसकी ही विशद व्याख्या प्राप्त होती है। कल्पान्तवर्ती **धर्मसूत्रों** के द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों, नियमों तथा व्यवस्थाओं का परवर्ती **धर्मग्रन्थों**, विशेष रूप से **स्मृति साहित्य** पर बहुत प्रभाव पड़ा है।

वर्ण व्यवस्था :– वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था जन्ममूलक नहीं थी अपितु कर्ममूलक थी। सभी को उसके **कर्मों के अनुसार** ही जाति का नाम दिया जाता था। **ब्रह्मा जी के मुख से ब्राह्मण की उत्पत्ति मानी गई है।** अत: उसे वेद, पुराण आदि की शिक्षा देने का अधिकार प्राप्त हुआ। **गौतम धर्मसूत्र** ने यह व्यवस्था स्पष्ट की है कि बहुश्रुत वह ब्राह्मण है जो लोगों के आचार-व्यवहार, वेद-वेदाङ्ग, वाकोवाक्य (कथनोपकथन), इतिहास एवं पुराण जानता है–

तस्य च व्यवहारो वेदो धर्म शास्त्राण्यङ्गान्युपवेदाः पुराणम्।[१]

---

१. गौतम धर्मसूत्र ११/१९

ब्राह्मण वर्ण सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। दान आदि ग्रहण करने का अधिकार ब्राह्मण को ही प्राप्त था और वेदों की शिक्षा भी वही दे सकते थे। **द्वितीय वर्ण में क्षत्रिय वर्ण** आता है जिसे कि राजकीय कार्यों के लिये निश्चित किया गया था। क्षत्रिय शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ होते थे। युद्ध कला आदि की शिक्षा उनके लिये अनिवार्य थी और राजा के पद पर क्षत्रिय ही आरुढ़ होते थे। सामान्य जनों की रक्षा का कार्यभार उन्हीं के ऊपर ही रहता था। **राष्ट्र का सम्पूर्ण रक्षादायित्व क्षत्रियों पर रहता था।** राष्ट्र के लिए व्यापार का कार्य, पशु पालन और कृषि का कार्य करने वाले वैश्य वर्ण कहलाते थे। इन सभी वर्णों का सेवा-कार्य करने वाले **शूद्र वर्ण** कहलाते थे। इन्हें ब्रह्माजी के चरणों से उत्पन्न माना गया है और इसीलिए इन्हें सेवा-कार्य सौंपा गया था **फिर भी उन्हें निकृष्ट दृष्टि से नहीं देखा गया है। यह वर्ण व्यवस्था वैदिककालीन समाज को सुगठित एवं संगठित बना देती थी और इस प्रकार अपने-अपने कार्य को धर्म समझकर पूर्ण करने वाले लोगों से राष्ट्र के परिवेश को भी बल मिलता है।** **'गौतम धर्मसूत्र'** के अध्याय नौ में चारों वर्णों के विशिष्ट धर्म का वर्णन प्राप्त होता है।

आश्रम व्यवस्था :- मानव जीवन को चार आश्रमों में बाँट दिया गया था। **उपनयन संस्कार** से ही बालक को शिक्षा हेतु **आचार्य के पास** भेज दिया जाता था। यह उसका **ब्रह्मचर्य आश्रम** था। यह काल उसके लिए भावी जीवन में सफल होने के लिए परीक्षा देने का काल था तथा विद्याध्ययन और आचार्य द्वारा प्रदत्त सभी ज्ञान को आत्मसात करने का काल था। इसकी आयु २५ वर्ष तक की थी। **गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्रों में ब्रह्मचारी के गुणों एवं व्रतों का विस्तृत वर्णन किया गया है। तन्त्र वार्तिकार 'भट्ट कुमारिल'** का कथन है कि सभी धर्मसूत्र वर्णों एवं आश्रमों के कर्तव्यों का उपदेश करते हैं। इसकी परिधि में **व्यवहार धर्म** सम्मिलित है। यह आश्रम मानव को भावी जीवन के हेतु तैयार करता है।

ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् व्यक्ति **गृहस्थाश्रम** में प्रवेश करता है। इसमें वह विवाह संस्कार को पूर्ण करता है और गृहस्थ धर्म की पूर्ति के लिए अपने को तैयार रखता है। उसमें वह **देव-ऋण, ऋषि-ऋण** एवं **पितृ-ऋण** की पूर्ति करता है। **धर्मसूत्रों** एवं **गृह्यसूत्रों में गौतम धर्मसूत्र के चतुर्थ अध्याय में गृहस्थ व्रत, अध्याय छह में माता-पिता का सत्कार,** गुरुजनों तथा **सम्बन्धियों का सत्कार** सम्बन्धी वर्णन प्राप्त होता है। **बोधायन धर्मसूत्र** के द्वितीय प्रश्न में गृहस्थ के दैनिक कृत्यों का वर्णन प्राप्त होता है।

तृतीय वानप्रस्थ आश्रम में **मानव गृहस्थाश्रम की पूर्ति** के बाद **वानप्रस्थ** में प्रवेश करता है। इसके बारे में **गृह्यसूत्रों** में **कौमाक्षिगृह्यसूत्र** के **द्वितीय प्रश्न** में **वानप्रस्थ विधि, बौधायन धर्मसूत्र** के **तृतीय प्रश्न** में भी **वानप्रस्थ आश्रम** के बारे में वर्णन प्राप्त

होता है। उसके अनुसार सांसारिक मोह-माया से पूर्ण, मुक्ति पाने हेतु, गृह-निवास करते हुये भी व्यक्ति अपने को ईश्वर उपासना में समर्पित कर देता है।

वानप्रस्थ की पूर्ति के पश्चात् मानव अपने जीवन के एक मात्र लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिये गृहत्याग करके ईश्वर में लीन होने के लिए वनगमन कर जाता है और वहीं अपना शेष समय जप, तप और आराधना में व्यतीत करता है।

पुरुषार्थ :- सम्पूर्ण जीवन में व्यक्ति को कुछ **पुरुषार्थों की पूर्ति** करनी पड़ती है और वे **पुरुषार्थ हैं— धर्म, अर्थ, काम** और **मोक्ष**। उन्हें **पुरुषार्थ चतुष्ट्य** कहा जाता है। इसमें **मोक्ष** अन्तिम स्थिति होती है, अत: **शेष तीन** को **त्रिवर्ग** कहा जाता है। इन तीनों को ही जीवन में पूर्ति हेतु विशेष महत्त्व दिया गया है लेकिन इनमें से किसी वस्तु के अमर्यादित उपभोग की अनुमति नहीं दी जाती है। धर्म का पूर्ण पालन ही जीवन प्रमुख उद्देश्य होना चाहिये। **ऋग्वेद** में **धर्म** शब्द **संधारक** एवं **संभारक** अर्थ का द्योतक है। आगे धार्मिक कृत्य, आदेश अथवा विधान का भी वाचक हो गया।[१] इसके पश्चात् आता है— **अर्थ**। जीवन के हर कार्य को पूर्ण करने के लिए अर्थ (धन) परमावश्यक है। **इस अर्थ की उपार्जन विधि भी धर्मानुकूल होनी चाहिये। इस अर्थ से ही व्यक्ति परिवार का पालन, तीनों ऋणों से मुक्ति, यज्ञ, दान आदि कार्य सम्पन्न करता है। अत: वह सर्वथा श्रमपूर्ण कार्यों से अर्जित होना चाहिये। संग्रह की बात न्यायसंगत नहीं है।** तीसरा पुरुषार्थ है— **काम**। इसकी पूर्ति हेतु ही व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। जीवन के सभी कर्मों एवं संस्कारों में यह भी अत्यन्त आवश्यक है। **यज्ञ व दान की क्रिया सपत्नीक ही पूर्ण की जाती है। धर्म अकेले इन कार्यों की अनुमति नहीं देता है। 'काम'** के द्वारा ही **पुत्रेषणा** की पूर्ति होती है। सृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति का योगदान आवश्यक होता है। **(आजन्म ब्रह्मचारी उसके अपवाद हैं)**। सभी एषणाओं की पूर्ति के पश्चात् ही व्यक्ति संतुष्ट होने के बाद **मोक्ष प्राप्ति** की ओर उन्मुख होता है। **मोक्ष की प्राप्ति के लिए वह सब कुछ त्याग कर वन में निवास करता है और वहीं ईश्वर आराधना में अपना शेष जीवन व्यतीत करता है, और ईश्वर में लीन होकर मोक्ष को प्राप्त होता है।**

संस्कार :- गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्रों में **गृह्य-कर्मों** का स्थूल रूप से वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण गृह्यसूत्रों में **पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकर्म, उपनयन, चूड़ाकर्म, समावर्तन** आदि संस्कारों के बारे में विस्तार से वर्णन किया गया है। **विवाह संस्कार में विवाह के प्रकार, औचित्य, विवाहयोग्य कन्या के गुण,**

---

१. ऋग्वेद १/१८७/१

गृह्यालंकार आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। पाप के कारणों, प्रकार एवं उसके प्रायश्चित के बारे में भी इनमें पूर्ण जानकारी प्रदान की गई है। **श्राद्ध, अंत्येष्टि, तर्पण-मासबद्ध, पितृदेवता, ऋषि तर्पण** आदि की विस्तृत जानकारी **धर्मसूत्र** एवं **गृह्यसूत्र** में उपलब्ध है।

नारी की स्थिति :- वैदिक वाङ्मय में कहीं भी नारी की स्थिति हीन दृष्टि से नहीं देखी गयी है क्योंकि उसको सदैव ही **पुरुष की अर्द्धांगिनी** स्वीकार किया गया है। शिक्षा की दृष्टि से भी उसे **पुरुष के बराबर** ही पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। वह भी **ब्रह्मचर्य व्रत** का पूर्ण पालन करती हुई **वेदाध्ययन** और सम्पूर्ण **विद्याओं** का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही विवाह के योग्य समझी जाती थी। उसे अपने योग्य ही पति चुनने का पूर्ण अधिकार था। **अयोग्य वर को कन्या सौंपने का प्रावधान नहीं मिलता है।** जहाँ नारी की पूजा होती है वहीं देवता का वास होता है, यह उक्ति इसी वातावरण में चरितार्थ होती है। माँ के रूप में उसे पुत्रों में अच्छे संस्कार और गुणों के समावेश का दायित्व माँ के ऊपर ही माना जाता था। धार्मिक कृत्यों की पूर्ति भी पुरुष बिना पत्नी के नहीं कर सकता था। **बहुपत्नी की प्रथा उस समय नहीं थी।** अपवाद अवश्य प्राप्त होते थे जैसे याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों का उल्लेख प्राप्त होता है।

यत्र नार्यः पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

विवाह :- गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्रों में वैदिक आर्यों की प्राचीन सामाजिक एवं गृहस्थजीवन से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त होती है। इसमें विवाह के बारे में पूर्ण एवं विशद वर्णन प्राप्त होता है। **आश्वलायन गृह्यसूत्र** में कहा गया है कि **विवाह के सन्दर्भ जनपदों और ग्रामों में प्रचलित बहुविध धर्मों का अनुसरण करना चाहिए-**

अथ खलु उच्चावचाः जनपदः धर्माः ग्रामधर्माश्च, ताने विवाहे प्रतीतयात्।[१]

विवाह के समय की सारी रस्में, यथा- अग्नि परिक्रमा, लाजा-होमा, पाणिग्रहण, सप्तपदी आदि कृत्य प्रायः सभी ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

इस प्रकार राष्ट्रीयएकता एवम् अखण्डता में गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों द्वारा प्रदत्त सारी दिशाओं से व्यक्ति का जीवन संतुलित, धार्मिक एवं निष्ठावान् बनता है। वह अपने सारे दायित्वों चाहे वे **राष्ट्र के प्रति** हो, **समाज के प्रति** हो या फिर **परिवार के प्रति**, उसे कहीं भी **नैतिकता की सीमाओं का अतिक्रमण करने की अनुमति नहीं देता है।**

---

१. आश्वलायन गृह्यसूत्र १/५/१-२

३. राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में गृह्यसूत्र एवम् धर्मसूत्र के राजदर्शन का अनुशीलन–

वैदिकवाङ्मय में वेदों से लेकर सूत्रों तक सभी में राजनीति को लेकर सभी प्रकार के विषयों पर विशिष्ट रूप से विचार किया गया है क्योंकि राजा, पुरोहित या जन-समुदाय, धर्म और नीति से कहीं भी परे नहीं हैं। सबको इन्हीं के अनुरूप आचरण करना पड़ता है। धर्मसूत्रों में गृहस्थ सूत्रों की अपेक्षा विस्तृत क्षेत्र को लिया गया है। 'गौतम धर्मसूत्र' में राजा के कर्तव्य, कर, स्वत्व के स्रोत, राजधर्म, राजपुरोहित के गुण इत्यादि का विस्तृत वर्णन किया गया है। राष्ट्र की राजनीति का आधार राजा ही होता है और उसके गुणों के आधार पर उसका चयन करने का अधिकार जनसामान्य को प्राप्त होता है। धर्म के अनुसार आचरण करने वाला, प्रजा को पुत्रवत् समझने वाला, शत्रु के लिए भूखे शेर का भाव रखने वाला, राजा ही श्रेष्ठ होता है।

भारतीय राजनीति का मूल सिद्धान्त रहा है कि राष्ट्र के परिपालन में क्षात्र-तेज के साथ ब्रह्मवर्चस का पूर्ण सहयोग होने पर ही देश और राष्ट्र की समृद्धि निश्चित रहती है। वसिष्ठ ने इस विषय में ब्राह्मण ग्रन्थों से एक बहुमूल्य उद्धरण दिया है—

'ब्रह्म पुरोहितं राष्ट्र भृध्योनीति'

महाकवि कालिदास ने अनेक शताब्दियों के अनन्तर इस राष्ट्रीय एकता की भावना को पवन और अग्नि का परिचित दृष्टान्त देकर परिपुष्ट किया है (रघु० ८/४)—

स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाथर्वविदा कृत क्रियः।
पवनाग्नि समागमो हयं सहितं ब्रह्म यद सुतेज सा।।

राजा का प्रधान कार्य है– देश का रक्षण और अपराधियों का दण्डन। दण्ड से दण्डित अपराधी अपने पापों से मुक्त होकर निर्मल बन जाता है तथा पुण्यात्माओं के समान स्वर्ग जाता है। यदि राजा अपराधी को दण्ड नहीं देता तो वह पाप उस राजा को पकड़ लेता है। अतः अपने कल्याण और अपराधी के कल्याण के लिये भी अपराधी को दण्ड देना राजा का मुख्य कर्तव्य होता है–

राजाभिर्धुत दण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मला स्वर्गमायान्ति सन्तः सुवृतिनो यथा।। (१९/४५)

राजदर्शन में ही सूद ब्याज के ग्रहण पर प्रायश्चित का विधान है। साक्षी के कथन पर सन्देह होने की स्थिति में दिव्य परीक्षा का विधान किया गया है। (आपस्तम्ब धर्मसूत्र)

गृह्यसूत्रों और **धर्मसूत्रों** के अनुसार ही राजा राष्ट्र का प्रधान होने के नाते राष्ट्र की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध होता है। **राजपुरोहित** उसे नैतिकता से परिचित एवं निर्णय हेतु परामर्श प्रदान करता रहता है। राष्ट्र की शत्रुओं से रक्षा करना और प्रजा की भी रक्षा एवं भरण-पोषण का दायित्व राजा के प्रति होता है। जहाँ पर शत्रुरहित राष्ट्र हो, प्रजा खुशहाल रहती है। आपस में वैर और वैमनस्य का भाव न हो तो ऐसे **राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता** को कहीं से कोई खतरा नही होता है। हमारे **धर्मसूत्र** ही हमें धार्मिक व नैतिकतापूर्ण राष्ट्र के बारे में अवगत कराते हैं।

४. राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में गृह्यसूत्र एवम् धर्मसूत्र के धर्मदर्शन का अनुशीलन-

धर्म ही से सम्बद्ध सारे नियम, सिद्धान्त और व्यवस्थाओं को ही मानव जीवन को संचालित करने के लिए निश्चित किया गया है। **धर्म की धुरी पर परिक्रमा करता हुआ मानव जीवन उससे अलग होकर कुछ धर्म विरुद्ध कर ही नहीं सकता है।**

तन्त्रवार्तिककार भट्ट कुमारिल का कथन है कि **सभी धर्मसूत्र वर्णों और आश्रमों के कर्तव्यों का उपदेश देते हैं। व्यवहारधर्म तथा राजधर्म भी इसमें सम्मिलित है।** इसमें **'सामयाचारिक धर्म'** (समय अथवा परम्परा पर आधृत धर्म) की विशेष व्याख्या की गई है। 'स्मृति' में इसी का नामान्तर है। अतएव **स्मार्त धर्म** भी इसे कहा जा सकता है। **गौतम धर्मसूत्र** के मतानुसार वेद, वेदज्ञों के आचरण तथा उनकी धर्मपरम्परा के मूल हैं—

वेदो धर्ममूलम्। तद्विदाञ्च स्मृतिशीले।[१]

इसी की पुष्टि **आपस्तम्ब** तथा अन्य धर्मसूत्रों ने भी की है—

धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च[२]

एवम्

श्रुति स्मृति विहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्।[३]

मनुप्रभृति धर्मशास्त्रियों ने वेद वेदज्ञों के साथ ही शिष्ट तथा साधु पुरुषों के आचरण को भी धर्म कोटि में सम्मिलित कर दिया है। **शिष्ट श्रेणी** में **स्वार्थहीन** और **निःस्पृह** व्यक्तियों को ही रखा गया है।

---

१. गौतम धर्मसूत्र १/१-२
२. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १/१/२
३. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १/१/३

वसिष्ठ धर्मसूत्र का अन्तिम अध्याय समग्र **धर्मशास्त्र की कुञ्जी है— धर्म महिमा** की प्रशस्ति है। भारतीय स्मृतिकारों ने स्वर में स्वर मिलाकर वसिष्ठ द्वारा यह घोषणा की है—

धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत माऽनृतम्।

दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम्।।[१]

अर्थात् '**धर्म का आचरण करो, अधर्म का आचरण मत करो, सत्य बोलो, झूठ मत बोलो, दीर्घ देखो, ह्रस्व मत देखो- अर्थात् किसी वस्तु के विषय में दूरदर्शी बनो**। छोटी वस्तु को देखकर अपने विचारों को **क्षुद्र, हीन** और **छोटा** मत बनाओ। सदा **श्रेष्ठ** वस्तु को देखो। **जीवन का लक्ष्य** सदा **ऊँचा** बनाये रखो। वसिष्ठ की यह शिक्षा स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है।

इस तरह **धर्म के आचरण** द्वारा ही जीवन का ध्येय निश्चित कर दिया जाता है। जहाँ इस प्रकार का समाजदर्शन और धर्मदर्शन होगा वहाँ पर राष्ट्र के स्वरूप को निश्चित करने में अधिक समय नहीं लगता है। **वसिष्ठ का जीवनदर्शन** नितान्त उदात्त एवं **कर्मनिष्ठ** तथा पूर्णतया **आध्यात्मिक** है। **वे हमें स्वस्थ, शिष्ट तथा संस्कृत भारतीय बनकर जीवन-यापन का उपदेश देते हैं तथा उस तृष्णा के परिहार की शिक्षा देते हैं जिसे दुर्बुद्धि कठिनता से छोड़ सकता है, जो व्यक्ति के जीर्ण होने पर भी स्वयं जीर्ण नहीं होता और जो प्राणान्तिक व्याधि है-**

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।

याऽसौ प्राणान्तिको व्याधिस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्।।[२]

धर्म के द्वारा ही व्यक्ति अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच सकता है। जहाँ **ब्रह्मचर्य आश्रम काल** में ही मानव को धर्म के चारों ओर परिक्रमा का व्रत दिया जाता है, वहाँ अधर्म के बारे में व्यक्ति सोच ही नहीं सकता है। जहाँ **राष्ट्रधर्म, पितृधर्म, पुत्रधर्म** और **पतिधर्म** का पालन ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य हो, **तो वह इस धर्म से विलग वह कहाँ हो सकता है।**

यदि राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के सन्दर्भ में इस पर विचार किया जाये तो **जीवन के सभी धर्म का सबल पालन करने वाला मानव राष्ट्रधर्म से विमुख हो ही नहीं सकता है।** जब वह प्रजाधर्म का पालन करके राष्ट्रधर्म की पूर्ति करता है, तो ऐसे नागरिकों पर राष्ट्र सदैव ही गर्व कर सकता है।

---

१. वसिष्ठ धर्मसूत्र ३०/१

२. योगवासिष्ठ

५. राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र के आचारदर्शन, शिक्षादर्शन एवं अर्थदर्शन का अनुशीलन–

मानवजीवन में आचार और विचार, दोनों की ही महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। **धर्म** से ही आचार का प्रादुर्भाव होता है। इन आचारों के लिये कोई भी अन्य विकल्प नहीं है। **वसिष्ठधर्मसूत्र** में आचार पर बहुत अधिक बल दिया गया है–

आचारः परमोधर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।

हीनाचार परीतात्मा प्रेत्य चेह च नश्यति॥[१]

अर्थात् आचार ही जीवन का सबके बड़ा धर्म है, इस बात को सर्वसम्मति से विद्वानों ने स्वीकार किया है। आचारहीन व्यक्ति उसी तरह नष्ट हो जाता है जिस तरह प्रेतात्मा आदि अपना कोई अस्तित्व नहीं रखती।

वसिष्ठ ने अपने मतों का प्रतिपादन थोड़े में, परन्तु बड़ी ही स्पष्ट भाषा में किया है। मौलिक विचार और प्रौढ़ विवेचना की छाप सम्पूर्ण ग्रन्थ में स्पष्ट परिलक्षित है। अन्य **स्मृतिकारों** के समान **वसिष्ठ** का सम्पूर्ण आग्रह **'आचार'** ही है। आचार ही व्यक्ति तथा समाज को मान्यता, दीर्घ जीवन और सत्कार प्राप्त कराता है। शास्त्र का अभ्यास, विद्या का अर्जन तथा विज्ञान का उपार्जन अवश्य ही उपादेय वस्तु है, परन्तु व्यवहार में लाये बिना, अर्थात् आचार के रूप में परिणत किये बिना, वह सब केवल भाव मात्र हैं– उपयोग से हीन होने के कारण केवल बोझ मात्र बन जाता है।

आचार से हीन व्यक्ति के लिए यह लोक भी नष्ट है और परलोक भी असिद्ध ही है। आचाररहित व्यक्ति में समस्त यज्ञ तथा षडङ्गों से युक्त **वेद** भी उस प्रकार प्रीति उत्पन्न नहीं करते **जिस प्रकार अन्धे के हृदय में सुन्दरी भार्या की उपस्थिति :-**

आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य वेदाः षडङ्गास्त्वखिलाः सयज्ञाः।

कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्था अन्धस्य दारा इव दर्शनीयाः॥[२]

इन आचार-विचारों की शुद्धि और उन पर आचरण का उपदेश **ब्रह्मचर्य आश्रम** के काल में **गुरु** द्वारा शिष्यों को प्रदान किया जाता था क्योंकि **जीवन समर** में उनकी प्रवृष्टि इसी के बाद ही होती थी। वे अपने पूर्ण दायित्वों से परिचित होकर, सम्पूर्ण शिक्षाओं को ग्रहण करके ही सही अर्थों में दायित्वों के क्षेत्र में तब आते थे जबकि वे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। छात्रों को दीक्षान्त अवसर पर प्रदत्त उपदेश इस बात

---

१. वसिष्ठ धर्मसूत्र ६/१

२. वसिष्ठ धर्मसूत्र ६/४

को प्रदर्शित करता है कि जिन बातों का ज्ञान उसे अपने शिक्षाकाल में कराया गया है, उनका परिपालन अब गृहस्थ जीवन में अवश्य ही करना है और इसी के परिप्रेक्ष्य में वह इस प्रकार अपने शिष्य को उपदेश देता है :—

सत्य बोलो, धर्माचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद मत करो। गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर वंश परम्परा को आगे बढ़ाओ। **सत्य, धर्म, कुलक्षेत्र, समृद्धि, देव-पितृकार्यों** में कभी प्रमाद न करो। माता, पिता, आचार्य और अतिथि को देवता के समान समझो। गुरुजनों के निर्दोष आचरण का ही अनुकरण करो, अन्यों का नहीं। जो कल्याणकारी ब्राह्मण हैं, उनके निकट बैठकर उनमें विश्वास करो। **दान श्रद्धा, भक्ति, लज्जा, भय** और **अनुबन्ध**, सभी प्रकार से देना चाहिये। अपने कर्म और आचरण के विषय में किसी प्रकार का सन्देह होने पर विचारशील, संतुलित, धर्मात्मा व्यक्तियों के व्यवहार से मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिये। यही **वेदों का रहस्य** है। यही **अनुशासन** है। इसी की उपासना करनी चाहिये।[१]

गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों के आचार दर्शन से प्राप्त होता है— **आदर्श समाज** और उसके **अनुशासित नागरिक**। उनसे ही बनता है— **सम्पूर्ण राष्ट्र**। जिनके लिये संस्कृति से एक **आदर्श परिकल्पना** उत्पन्न हो, वहाँ पर राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता को सदैव बल ही प्राप्त होगा।

वैदिकवाङ्मय में प्राप्त शिक्षाव्यवस्था भी आदर्श शिक्षादर्शन पर आधारित थी। शिक्षा प्रणाली का आधार **स्मृति, ज्ञान** और **बोध** तीनों ही थे। शिक्षा प्रयोगों के द्वारा प्रमाणित करके ही दी जाती थी और यही आज्ञा दी जाती थी कि वह जीवन में इन शिक्षाओं को पूरी तरह ग्रहण करके समाहित कर लेगा।

गुरु योग्य शिष्य को ही शिक्षा देना स्वीकारता था ताकि उसकी दी हुई शिक्षा सार्थक हो सके। शिक्षा के बारे में इस प्रकार उल्लिखित है–

यमेव विद्याः शुचि म प्रमत्तः मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्न।

गुरु उसी शिष्य को अपना ज्ञान प्रदान करें जो पवित्र मेधा, अप्रमादी, ब्रह्मचारी और ज्ञान का संरक्षक हो। गुरु द्वारा शिष्य से सदैव यही अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने भावी जीवन के सभी कर्तव्यों एवं दायित्वों को धर्मपूर्वक निर्वाह करेगा और सत्य के मार्ग पर चलते हुए ही **मोक्ष** की प्राप्ति करेगा।

गृह्यसूत्रों एवं **धर्मसूत्रों** में प्राप्त **अर्थदर्शन** भी उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। वैसे तो इन सूत्रों में जीवन के संस्कारों, क्रियाओं और कर्तव्यों के बारे में वर्णन

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद् ७/११

किया गया है, लेकिन यह विचार किया जा सकता है कि इस क्षेत्र में किया गया वर्णन या तो इस विषय के लुप्त साहित्य में वर्णित होगा अथवा उसको सभी कर्मों के साथ समाहित करके प्रस्तुत किया गया होगा।

इस प्रकार से यदि देखा जाय तो इन ग्रन्थों का राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

६. राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता को गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र का प्रदेय–

राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता को गृह्यादि एवम् धर्मसूत्र के योगदान को भी इतना ही महत्त्व प्रदान किया जा सकता है, जितना कि शेष ग्रन्थों को। **इन सूत्र ग्रन्थों के प्रादुर्भाव का आधार हमारे चारों वेद ही हैं।**

इन ग्रन्थों में वर्णित राजा के कर्तव्यों एवं गुणों से यह प्रदर्शित होता है कि सदा सत्य का पालन करने वाला, न्यायप्रिय, विधि का सम्मान रखने वाला तथा वेद संहिता का पालन करने वाला राजा सबसे अधिक योग्य एवं कुशल राष्ट्र संचालक कहा जा सकता है। **ऐसे राजा के लिए समाज में, राष्ट्र की प्रजा में, सदैव श्रद्धा और निष्ठा का भाव बना रहता है।** जहाँ निष्ठावान प्रजा हो, धर्माचरण करने वाली प्रजा हो, राष्ट्र की आचार संहिता का पालन करने वाली प्रजा हो, तो उस राष्ट्र की एकता और अखण्डता पर सन्देह किया ही नहीं जा सकता है।

राष्ट्र के लिए **राजा** और **पुरोहित** सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होते हैं। राजा को सही दिशा-निर्देश देने का कार्य पुरोहित का ही होता है। **राजा** एवं **पुरोहित** के मध्य **मतैक्य** तथा **वैचारिक अनुकूलता** ही **राष्ट्र की समृद्धि** में पूर्ण सहायक सिद्ध होती है। एक व्यक्ति सम्पूर्ण राष्ट्र के बारे में सही विचार कर सकता है, यह पूरी तरह संभव नहीं है। और यदि यही कार्य **सभा और समिति** के परामर्श के अनुसार राजा और पुरोहित करते हैं तो वह **राष्ट्रहित** में और **धर्म** के अनुसार होता है। **इसमें राजा के निरंकुश होने के अवसर समाप्त हो जाते हैं। राष्ट्र के प्रति सजग राजा ही सही अर्थों में पिता की भूमिका का निर्वाह करता है।** यह गुण इस राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए सार्थक सिद्ध होता है।

राजा की तरह ही प्रजा का भी राजा एवं राष्ट्र के प्रति कुछ दायित्व होते हैं, जिनको पालन करके ही वह राष्ट्र की सुख एवम् समृद्धि में अपना पूर्ण योगदान दे सकती है। राष्ट्र में अनेक श्रेणियों के लोग होते हैं। सभी ज्ञानपूर्ण एवं दुर्गुणों से रहित हों ऐसा तो संभव नहीं होता है। सम्पूर्ण राष्ट्र में विभिन्न श्रेणियों के व्यक्ति होंगे, उनमें स्वार्थ या अज्ञानवश विद्वेष की भावना का भी विकास हो सकता है। उनमें विद्या या

धन के आधार पर ऊँच-नीच की भावना आ सकती है जो कि राष्ट्र के हित में नहीं होगी। **मातृभूमि के प्रति त्याग, उत्सर्ग और समग्र का हित चाहने की भावना रखने वाला ही सच्चे अर्थों में मातृभूमि का भक्त कहा जा सकता है।** ऐसे व्यक्ति ही मातृभूमि के लिए गौरव का विषय होते हैं —

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुधमथो उक्षतु वर्चस्व॥

अर्थात् वे राष्ट्रभक्त या राष्ट्रपुत्र जिनमें आलस्य, निद्रा और तन्द्रा का अभाव होता है और वे कुशल, वीर एवं संयमी व्यक्ति अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए सदैव ही सजग रहते हैं जो अपने राष्ट्र की सुख एवं समृद्धि के लिए सदैव तत्पर रहते हैं तथा राष्ट्र की रक्षा के प्रति सदैव सावधान रहते हैं। वे राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता की रक्षा में सदैव सहायक होते हैं।

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्यां उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥[१]

अर्थात् जिस विशाल राष्ट्र में, मातृभूमि की गोद में, मननशील विद्वानों के मध्य भी उच्चता एवं भिन्नता का भाव पाये जाने पर भी **उसमें समता और मतैक्य पाया जाता है और जो अपनी मातृभूमि या कर्मभूमि के लिए,** जिसने हमारे विकास एवं निरोग शरीर हेतु **रोगनाशक, बलदायक वनस्पतियों** को अपने गर्भ से प्रकट करके हमें बल प्रदान किया है वह **मातृभूमि** हमारे **यश** एवं **कीर्ति** के साधनों का विस्तार करें।

जहाँ नागरिकों में ऐसे सुन्दर विचार एवं भावनाओं का समावेश वैदिक साहित्य से प्राप्त हो रहा है **जो कि इस राष्ट्र की संस्कृति और जीवन का आधार है, वहाँ पर राष्ट्र के प्रति सुन्दर विचार एवं भावों का समाहित होना स्वाभाविक ही है।**

जहाँ प्रत्येक धर्म के प्रति सम्मान और श्रद्धा व्याप्त हो, जहाँ हर मस्तक, चाहे वह मस्जिद हो, गुरुद्वारा, चर्च या मन्दिर हो, झुकता हो, वहाँ की एकता पर प्रश्नचिह्न लगने का प्रश्न ही नहीं होता है। सभी धर्मों और संस्कृतियों को अपने में समाहित करके एक नया स्वरूप प्रदान करना ही भारतीय संस्कृति की सदियों से विशेषता रही है। यही नहीं बल्कि दूसरे देशों तक अपनी संस्कृति का सम्मान दिलाने वाले राष्ट्रजनों **पर यह राष्ट्र गर्व करता है।** अपने राष्ट्रीयगौरव को सम्पूर्ण विश्व में बढ़ाने वाले राष्ट्रपुत्रों का अभाव नहीं है।

---

१. अथर्ववेद १२/१/२

सदैव बुराइयों को दृष्टिगत न करने की शिक्षा देने वाली संस्कृति वाले राष्ट्र में राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए यह साहित्य अमूल्य निधि है, जिसने हर दृष्टि से राष्ट्र को एकता के सूत्र में बँधने में सहायता प्रदान की है।

नवम अध्याय

तुलनात्मक अनुशीलन

शोध विषय के अनुरूप ही वैदिक वाङ्मय में राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत विचारों के बारे में तुलनात्मक अध्ययन कर उसकी उपयोगिता के प्रति तर्कसंगत विचारों का प्रस्तुतीकरण किया जा रहा है।

१. प्राचीनवाङ्मय में राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के सम्बन्ध में विचार–

प्राचीनवाङ्मय हो या आधुनिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व नैतिक मूल्यों में आमूल चूल परिवर्तन कभी भी नहीं होता। भारत जैसे **आदर्श** एवं **आध्यात्मिकता** से ओतप्रोत राष्ट्र में संस्कृति का सम्मान बहुत अधिक है। प्राचीन वाङ्मय का सम्मान भी बहुत अधिक किया जाता है।

प्राचीनवाङ्मय में राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के प्रति सम्पूर्ण दायित्व प्रजा का ही नहीं था। इसमें सर्वप्रथम भूमिका राजा की होती थी। **नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का सम्मान करने वाला राजा ही राष्ट्र के विकास एवं समृद्धि में सहायक हो सकता है–**

ब्र॒ह्म॒च॒र्येण॒ तप॑सा॒ राजा॑ रा॒ष्ट्रं वि र॑क्षति।[१]

अर्थात् **ब्रह्मचर्य और तपस्या का पालन करने वाला राजा ही राष्ट्र की रक्षा कर सकता है।**

जहाँ **राष्ट्र का नायक** सद्चरित्र और धर्म का पालन करने वाला होगा, उस राष्ट्र की प्रजा का चरित्र स्वाभाविक रूप से उसी के अनुरूप होगा क्योंकि **राष्ट्रनायक एक आदर्श माना जाता है** और जब सम्पूर्ण राष्ट्र एक आदर्श व्यक्तित्व को अपना आदर्श मानकर चलेगा तो राष्ट्र की एकता और अखण्डता को पृथक् परिभाषित करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी।

अथर्ववेद के अनुसार नागरिकों में व्याप्त सद्गुण राष्ट्र की एकता और अखण्डता को कायम रख सकते हैं। **महती सत्यनिष्ठा, तरलता, प्रचण्ड क्षात्र-तेज, धर्मानुष्ठान एवं कर्त्तव्यपालन का गुण, प्रत्येक शुभ-कार्य को दक्षतापूर्वक सम्पन्न करना,**

---

१. अथर्ववेद ११/५/१७

यथार्थ-ज्ञान, समर्पण की भावना से युक्त नागरिक ही मातृभूमि, राष्ट्र अथवा देश को धारण अथवा पालन-पोषण करने में सक्षम होते हैं। वह मातृभूमि भी वर्तमान, भूत और भविष्य में सकल पदार्थों से अपने पुत्रों का पालन करने में सक्षम होती है, ऐसी मातृभूमि हमारी उन्नति के लिए अत्यन्त विस्तृत स्थान एवं अवसर प्रदान करती है।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥[१]

इस मंत्र के द्वारा सरल स्वभाव, पराक्रमशीलता, दक्षता, तप, ब्रह्म या ज्ञान एवं यज्ञ रूप आत्मसमर्पण की भावना को मातृभूमि की उन्नति के लिए अनिवार्य बताया गया है। इन्हीं की सहायता से राष्ट्र में एक ऐसी सुव्यवस्था स्थापित हो सकती है जिसमें किसी भी प्रकार शत्रु द्वारा राष्ट्र की अखण्डता पर प्रहार करने का दु:साहस करना सम्भव न हो।

प्रत्येक **राष्ट्रभक्त** का कर्त्तव्य है कि इन नियमों का सम्यक् पालन करे। मंत्र के पूर्वार्द्ध में राष्ट्ररक्षा के अनिवार्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके उत्तरार्द्ध में बतलाया गया है कि आदर्श नागरिक इन नियमों का पालन करता है। मातृभूमि से भी वह कुछ अपेक्षा रखता है कि उसे अपने भविष्य को सँवारने का पूर्ण अवसर प्राप्त हो। वह जिस दिशा में जाना चाहेगा, उसे सम्यक् उन्नति करने के लिए द्वार खुले होंगे और इन इच्छाओं की पूर्ति होने पर नागरिक सभी दृष्टि से संतुष्ट हो जाता है और अपने राष्ट्र के प्रति पूर्णतया समर्पित रहता है। **इस समर्पण की भावना का सन्देश वैदिक वाङ्मय की ही देन है।**

यस्याः मानवानां मध्यतः बहु असम्बाधम्।

जिस राष्ट्र या मातृभूमि के विभिन्न सम्प्रदायों में सहज भेद होते हुए निर्वैरभाव एवं सामूहिक उन्नति में परस्पर सौहार्द एवं सहयोग करने की भावना होती है, वही यथार्थ रूप से प्रगति कर सकता है। इस प्रकार का राष्ट्र वास्तव में यश और कीर्ति के साधनों का विस्तार कर सकता है।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥[२]

---

१. अथर्ववेद १२/१/१

२. अथर्ववेद १२/१/४५

अर्थात् इसमें **राष्ट्र की प्रगति** का मूलमंत्र बताते हुए कहा गया है कि सामूहिक प्रगति उस दिशा में ही संभव है जबकि नाना प्रकार के धर्मों को मानने वाले एवं भिन्न-भिन्न प्रकार के भाषाभाषी जन उसी प्रकार संगठित होकर रहते हैं जैसे कि एक परिवार में अत्यधिक विषमता रहने पर भी परिवार के सभी सदस्य परस्पर सद्भावना और सहानुभूतिपूर्वक रहते हैं। प्रत्येक परिवार में बाल, वृद्ध, युवा, महिलाएँ और पुरुष रहते हैं लेकिन एक छत के नीचे कोई भेदभाव नहीं होता। सभी आपस में समस्त भेदभावों से दूर होकर संगठित रूप से रहते हैं।

आज के वर्तमानभारत में उस काल में वर्णित सभी दशाएँ विद्यमान हैं। इस विशाल राष्ट्र में नाना धर्म के लोग निवास करते हैं लेकिन **मानव धर्म** की परिभाषा सभी धर्मों में एक ही है। छोटी-छोटी बातों को देखा जायें तो जो बात एक धर्म में मान्य है वही दूसरे धर्म में अमान्य हो सकती है। अनेक **भाषाभाषी लोग** यहाँ पर रहते हैं। जब मिलते हैं तो भाषा न जानने पर भी टूटी-फूटी **राष्ट्रभाषा** का सहारा लेकर आपस में बात समझ ही लेते हैं।

आज राष्ट्र की **संघ-व्यवस्था** का स्वरूप सम्पूर्ण राज्यों को एक संविधान के अन्तर्गत बाँध कर रखे है तथा हमारे राष्ट्र की शासन प्रणाली का **लोकतांत्रिक स्वरूप** आज की देन नहीं है अपितु यह **वैदिक वाङ्मय** में ही निश्चित कर दी गई थी। यह भी **राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता की दिशा** में अमूल्य योगदान है।

२. राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के सम्बन्ध में आधुनिक विचारधारा :

राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता का जो स्वरूप भारत में प्राप्त होता है अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं होता है। राष्ट्रीयएकता मानव हृदयों में व्याप्त वह **भावना** है जो यदि **राष्ट्रवासियों के मनमानस** में एक बार निर्मित हो जाती है तो फिर कभी खण्डित नहीं होती है। यह भावना आज ही जागृत हुई हो ऐसा नहीं है, अपितु ऐतिहासिक क्रम में इसका पृथक् अस्तित्व उस **चेतना** का प्रतीक है जो **सामान्य प्रवृत्तियों, परम्परागत रीति-रिवाजों, स्मृतियों, आकांक्षाओं, अवर्णनीय सांस्कृतिक धरोहरों** एवं हितों पर आधारित होती है।

राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के बारे में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न विचार हैं। इस भावना पर **प्रश्न चिह्न** भी लगाये जाते हैं। **कुछ लोगों का मत है** कि भारत में अनेक भाषाएँ, अनेक धर्म, अनेक प्रकार के रीति-रिवाज पाये जाते हैं। भौगोलिक एकता भी नहीं है। एक ओर थार का मरुस्थल है तो दूसरी ओर कश्मीर की घाटी है। जातीय-एकता का भी कहीं नामोनिशान नहीं है। विभिन्न जातियाँ यहाँ पर रहती हैं। कतिपय

विद्वानों का, इन्हीं कारणों से दृष्टिपात करते हुए अभिमत है कि **भारत एक राष्ट्र** है। भारत के **समस्त निवासी** सदा से **इस देश के प्रति** एक **आन्तरिक प्रेम** और **प्रगाढ़ एकता** का अनुभव करते रहे हैं। **यह भावना चिर स्थायी है**। इस का प्रतीक है हमारी **तीनों सेनाएँ**, जिनमें राष्ट्र के सभी प्रदेशों, सभी जातियों के लोग देश की सुरक्षा के लिए दिन-रात सीमाओं पर चौकन्ने रहते हैं। वे सिर्फ अपने राष्ट्र के लिए चौकन्ने रहते हैं, **देश के सजग प्रहरी** होते हैं और उनमें **सिर्फ भारतीय** होने की भावना ही समाहित होती है।

जन सामान्य में भी यह भावना राष्ट्र के ऊपर संकट के समय देखी जा सकती है। सामान्य दिनों में राष्ट्रीयएकता और अखण्डता का प्रमाण देने की कोई आवश्यकता नहीं होती है। यह भावना तभी प्रदर्शित करने की आवश्यकता पड़ती है जबकि राष्ट्र **संकट की घड़ी** से गुजर रहा हो। इसके ज्वलंत उदाहरण है १९६२ में हुई भारत और चीन की लड़ाई, जहाँ **भारतीय जवानों** ने अपनी जान की बाजी लगाई, वहीं **साधारण लोगों** ने अपने जेवर, कपड़े, धन, जिसके पास जो था जवानों के लिए, देश की रक्षा के लिए **राष्ट्रीय रक्षाकोष** में दान कर दिया। **१९६५** की भारत-पाक लड़ाई भी ऐसी ही सिद्ध हुई। **१९७१** में बांग्लादेश के सहायतार्थ लड़ी गई लड़ाई भी हमारे **परीक्षा के क्षणों** में से एक थी। वह राष्ट्रीयएकता और अखण्डता का प्रमाण था कि हम हमेशा विजयी होते रहे हैं। दुश्मन को हमारी **पवित्र भावनाओं** ने तोड़ कर रख दिया।

राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के बारे में हमारे **स्व० डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन** ने अपने भावों को इस तरह व्यक्त किया है—

'राष्ट्रीयएकता' विविधताओं के बीच ऐसी **स्थिति** का नाम है जिसमें **व्यक्ति** अपने सभी देशवासियों के साथ **एकजुटता का भाव** अपनाते हुए **राष्ट्र की रक्षा** और **विकास** हेतु राष्ट्र के प्रति अपना सब कुछ **बलिदान** करने के लिए तत्पर हो जाता है।

हमारी राष्ट्रीयएकता और अखण्डता की नींव खोखली नहीं है बल्कि **वट वृक्ष की तरह** अन्दर मीलों गहराई में फैली हुई है, जिन्हें सेंध लगाकर काटा नहीं जा सकता है। वह **वैदिककाल** से इस जमीन की तह में समाई हुई है। इस बारे में **डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल** ने कहा है—

'अंग्रेजी शासन काल में हमारी **राष्ट्रीयएकता** को गहरा आघात पहुँचा। **'फूट डालो और राज करो'** की नीति के कारण **हमारी एकता** भंग हुई। **अंग्रेज अधिकारियों** के **प्रयास** और **प्रोत्साहन** से देश का **विभाजन** हुआ, भारत का **अंग विच्छेदन** करके एक **पृथक्** और स्वतंत्र राष्ट्र **पाकिस्तान** की स्थापना हुई। **विभाजन के बाद भी** भारत

एक विशाल देश है। यहाँ अब भी लोग विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं। भिन्न-भिन्न धर्मों को मानते हैं और उनके रीति-रिवाज भी अलग-अलग हैं। ऐसी विभिन्नता वाले देश को एकता के सूत्र में मजबूती से बाँधना एक महत्त्वपूण समस्या है।

जहाँ विभिन्नता पाई जाती है वहाँ पर मत-वैभिन्न की सम्भावना हमेशा बनी रहती है। यथार्थ स्थिति से अवगत व्यक्ति इसको सूक्ष्म दृष्टि से देखने के बाद ही विवेचन करता है। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का मत इस प्रकार है—

''सांस्कृतिक अथवा सामूहिक चेतना ही हमारे देश का प्राण है। इसी नैतिक चेतना के सूत्र में हमारे नगर और ग्राम, हमारे प्रदेश और सम्प्रदाय, हमारे विभिन्न वर्ग और जातियाँ आपस में बँधी हुई हैं। जहाँ उनमें और सब तरह की विभिन्नतायें हैं, वहीं उन सबमें एक एकता भी विद्यमान है।''

यह एकता एक स्थायी भावना है जो कि इस पावन भूमि पर जन्म लेते ही मानव के मन में समाहित हो जाती है। बचपन से माँ की गोद में बैठकर सुनी गई भगत सिंह और चन्द्रशेखर आजाद की बलिदान-गाथाओं से बच्चों के मन-मानस को एक नया स्वरूप देश के प्रति मिलता है, जो अमिट होता है। यही चिर स्थायी रूप उनके लिए आदर्श बन जाता है।

इस बारे में प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्रज्ञ रजनी कोठारी का मत इस प्रकार है—

''भारत जैसे विशाल देश में जहाँ इतने विविध प्रकार के लोग रहते हैं, एकता की स्थापना इसी से हो सकती है कि सब तत्त्वों को राजनीतिक सत्ता व अधिकार में बाँट दिया जाये और सबको साथ लेकर चला जाये। इसके लिए आवश्यक है कि समाज के सब वर्गों का राजनीतिक व्यवस्था में प्रवेश हो। राजनीति की इस रचनात्मक भूमिका से ही एकीकरण की प्रवृत्तियों को बल मिलता है।''[१]

यदि वैदिक काल में राष्ट्र और राष्ट्रीयता की भावना प्रबल थी, जिससे विविधताओं के होते हुए भी प्राचीन भारतीय संस्कृति ने भौगोलिक एकीकरण और समुच्चय की भावना को बचाये रखा। इसी बात को डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

''यहाँ की कोटि-कोटि जनता के मन में भारत की भौगोलिक एकता का गहरा संस्कार था। हमारी संस्कृति विविधताओं को स्वीकार करती है, किन्तु एकत्व की प्राप्ति उसकी निजी विशेषता है।''

---

१. कोठारी- भारत में राजनीति, पृ० ३४७

आज **विश्व के पटल** पर जो **भारत का नाम** उभरता ही जा रहा है, उसके पीछे कोई **राजनीतिक उपलब्धियों** का इतिहास नहीं है बल्कि **वह राष्ट्रवासियों में रहने वाला राष्ट्र के प्रति प्रेम** है जो उन्हें हर क्षेत्र में, चाहे वह **विज्ञान** हो, **प्रौद्योगिकी**, **कला** या **शिक्षा** कोई भी क्षेत्र क्यों न हो, सभी **अपने देश के नाम** को उसमें ऊँचा देखने की **इच्छा** रखते हैं। इसके लिए सतत् प्रयत्नशील रहेंगे कि देश का नाम **ऊँचाइयों** तक पहुँचे। यही **राष्ट्रीयएकता** एवं **अखण्डता** का एक **नया स्वरूप** है।

देश की राष्ट्रीयएकता को हम अपने देश के सन्दर्भ में इन शब्दों में भी व्यक्त कर सकते हैं– '' **राष्ट्रीय एकता का अर्थ है भारत के विभिन्न प्रदेशों, जातियों, वर्गों, भाषाओं, धर्मों आदि की बहुरंगी विविधता के बीच एकता की व्यापक धारणा, जो क्षुद्र सीमित स्वार्थों की उपेक्षा कर देश के विभिन्न प्रदेशों पर अखिल राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार और व्यवहार की प्रेरणा दे।**''

इसी राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता पर सम्पूर्ण राष्ट्र को गर्व है कि हमारा एक संविधान, एक राष्ट्रीय ध्वज और एक ही राष्ट्रीय सम्मान सदैव अक्षुण्ण रहेंगे।

३. राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के सम्बन्ध में प्राचीन एवम् आधुनिक विचारधारा की तुलना–

राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता का हर युग में उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है जितना कि यह आज है।

एकता से तात्पर्य वैचारिक एकता, मतैक्यता और उनके कार्यों में भी एकता का पाया जाना, माना जा सकता है। इस बारे में ऋग्वेद में वर्णित है–

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते।।[१]

अर्थात् सभी लोग साथ-साथ चलें, साथ बोलें, तुम सभी का मन ऐकमत्ययुक्त हो जाय, जिस प्रकार पुरातन देवता ऐकमत्य के साथ अपना भाग लेने के लिए बैठते हैं।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।[२]

१. ऋग्वेद १०/१९१/२
२. अथर्ववेद ६/६४/४

अर्थात् **प्रतिज्ञा तुम लोगों की समान हो, तुम लोगों का हृदय एक हो, तुम लोगों का मन एक हो जिससे तुम लोगों में आनन्दपूर्वक ऐकमत्य रहे।**

इस एकता के बारे में **ऋग्वेद में भी** अनुभव किया गया था। इस एकता में एक अपूर्व शक्ति होती है जिससे कि शेष शक्तियों को पराजित किया जा सकता है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की अवधारणा का भाव यहाँ पर अनुभव किया जा सकता है। आज भी राजनैतिकज्ञों, विचारकों, देशभक्तों का यही विचार है कि सम्पूर्ण राष्ट्र में मतभेद न हो। राष्ट्र के प्रत्येक विषय पर वे **ऐकमत्य** हों, उनमें **आत्मिक समानता** हो, **एक दूसरे की भावनाओं के प्रति सम्मान हो**। चाहे सामाजिक अवसर हो या कि राजनैतिक अवसर, **सभी लोग साथ बैठें** और **फिर विचार करें**। उनमें एक **सुदृढ़ संगठन** की भावना विद्यमान हो। प्राचीन काल में जिस ऐकमत्य का विवेचन होता आ रहा है उसे आधुनिक काल में **डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल** ने इन शब्दों में व्यक्त किया है— **''यहाँ की कोटि-कोटि जनता के मन में भारत की भौगोलिक एकता का संस्कार था। हमारी संस्कृति विविधताओं को स्वीकार करती है, किन्तु एकत्व की प्राप्ति उसकी निजी विशेषता है।''**

राष्ट्र में अनेक श्रेणियों के लोग रहते हैं जिनमें **स्वार्थ** या अज्ञान के कारण **द्वेष** उत्पन्न हो सकता है और उनकी यह भावना **राष्ट्र के लिए** शुभ और कल्याणकारी बिल्कुल भी नहीं मानी जा सकती है। व्यक्तियों में सामूहिक उन्नति की भावना होनी चाहिए ताकि वे राष्ट्र के लिए योगदान दे सकें।

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्यां उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः।।[१]

अर्थात् जिस राष्ट्र में मननशील विद्वानों के मध्य उच्चता या निम्नता के भाव रहने पर भी आपस में **समता, एकता** एवं **मैत्री भाव** विद्यमान रहता है, उस **मातृभूमि** या **राष्ट्र** में पृथिवी अपने पर्यावरण में **बलदायक, रोगानाशक वनस्पतियों** की उत्पत्ति करके **हमें स्वस्थ रहने में सहायता करती है**। हमारे यश व कीर्ति के साधनों में विस्तार करती है।

प्राचीन काल की तरह आज भी राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के सन्दर्भ में मानव में मानव के प्रति भ्रातृत्व की भावना होनी चाहिए। समाज में **वर्ग विभेद** सदियों से चला आ रहा है लेकिन उस वर्ग भेद को **मानवीय सम्बन्धों** में कहीं भी **नहीं आना चाहिए**। सभी मानव है और पंचतत्वों के समावेश से ही सभी का निर्माण हुआ है।

---

१. अथर्ववेद १२/१/२

अत: उनमें समता का भाव रहना चाहिए। राष्ट्र के सभी नागरिक आपस में भाई–बहन हैं, चाहे जिस वर्ग या जाति के क्यों न हों। **जीवन मूल्यों या नैतिक मूल्यों में काल के अनुसार परिवर्तन हो सकता है लेकिन राष्ट्रीय मूल्य और मानवीय मूल्य सभी कालों में समान ही रहते हैं और भविष्य में भी रहेंगे।**

नागरिकों में एक प्रकार की उदात्त भावना उसी दशा में संभव है जबकि प्रत्येक व्यक्ति आपस में एक दूसरे को **एक ही पथ का पथगामी** समझे क्योंकि सभी का एक उद्देश्य है राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता को कायम रखना और उसके लिए राष्ट्र को समृद्धशाली एवम् प्रगतिशील बनाना होगा। आत्मनिर्भर राष्ट्र जो अपने निवासियों का भरण–पोषण स्वयं कर सके, उससे अच्छी और क्या बात हो सकती है।

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो गर्या आ नो अच्छा जिगातन।।[१]

अर्थात् राष्ट्रभक्तों में किसी भी प्रकार की परस्पर ज्येष्ठता या कनिष्ठता की भावना का अभ्युदय नहीं होना चाहिये। सामान्यतया प्रयत्नशील रहते हुए राष्ट्र की एकता और उन्नति की दिशा में अग्रसर होते रहना चाहिए। ऐसे **विचारशील मानवों से ही** राष्ट्र उत्तम फल की आशा कर सकता है। **सामूहिक हित की भावना से युक्त** राष्ट्र सदा ही स्थायी एवं दृढ़ दुर्ग के समान **सुदृढ़** रहता है। ईश्वर से यही प्रार्थना की गई है कि जनमानस में यह भावना अधिक से अधिक पाई जाती हो तो देश का हित या कल्याण शीघ्र हो सकता है।

इसे यदि आधुनिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो इसमें कहीं भी परिवर्तन नहीं हुआ है। **राष्ट्र का हित सदैव नागरिकों के द्वारा ही संभव होता है। समाज में सद्भावना को बनाये रखना, ऊँच और नीच का भाव मन में न आने देने से ही व्यक्ति व राष्ट्र का समुचित विकास होता है।** इन परिस्थितियों या आवश्यकताओं में कभी भी परिवर्तन नहीं होता है। राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को कायम करने वाले तत्त्व हैं **जिनका मूल्य सभी कालों में समान रहा है।** मातृभूमि हर वर्ग के व्यक्ति के लिए अनाज, फल, फूल, जल और विद्युत समान रूप से उपजाती है। उसकी दृष्टि में कोई भी भेदभाव नहीं होता है। समभाव और समान स्तर का जीवन सभी जियें, तभी उनमें ऊँच और नीच की भावना का समावेश नहीं रहेगा। **यह सब गुण उतने ही आवश्यक हैं जितने की रात्रि और दिन का अस्तित्व।**

---

१. अथर्ववेद ५/५९/६

४. राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के साधक एवं बाधक तत्त्व :

किसी भी राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता उसके दृढ़ अस्तित्व के लिए आवश्यक तत्त्व हैं। **राष्ट्रीय एकता**, एक राष्ट्र में निवास कर रहे **लोगों के हृदय की वह एकता है जो एक बार बनने के बाद कभी खण्डित नहीं होती।** यह भावना ऐतिहासिक क्रम में पृथक् अस्तित्व की उस चेतना का प्रतीक है जो सामान्य आदतों, परम्परागत रीति-रिवाजों, स्मृतियों, आकांक्षाओं, अवर्णनीय सांस्कृतिक समस्याओं तथा हितों पर आधारित है।

भारत एक राष्ट्र है जबकि उसमें अनेक भाषाएँ, अनेक धर्म, अनेक प्रकार के रीति-रिवाज पाये जाते हैं और उसमें भौगोलिक एकता भी नहीं है। एक ओर थार का मरुस्थल है तो दूसरी ओर काश्मीर की घाटी है। जातीय विभिन्नता भी यहाँ विद्यमान है। इन्हीं कारणों से कतिपय विद्वानों का मत है कि भारत एक राष्ट्र है ही नहीं, यह तो अनेक राज्यों का **एक संघ** है। भारत की इस विभिन्नता में भी एकता पाई जाती है। हम सांस्कृतिक दृष्टि से एक हैं, धार्मिक सहिष्णुता ही हमारी एकता और अखण्डता का आधार है। समस्त निवासी सदा से उस देश के प्रति ऐसी अनन्य भक्ति, विशेष प्रकार के प्रेम और परस्पर विशिष्ट प्रकार की प्रगाढ़ एकता का अनुभव करते रहे हैं और **यही अनुभव सम्पूर्ण विश्व के समक्ष राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता का अनूठा उदाहरण प्रस्तुत करता है।**

इस राष्ट्रीयएकता और अखण्डता को स्थायी बनाये रखने में कुछ घटक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं-

१. संस्कृति :- भारतीय संस्कृति में ऐसा गुण है कि उसने मानव में सदैव मानवता का गुण समाहित किया है। हमारे वैदिक साहित्य, काव्य, रामायण और श्रीमद्भगवद्गीता, सभी ने भारतीयों के मन-मस्तिष्क में नैतिक, आध्यात्मिक और सदाचार का ऐसा समावेश किया है कि **उसको वसुधैव कुटुम्बकम् की अवधारणा सदैव साकार होती दृष्टिगोचर होती है।** सम्पूर्ण भारत में हम कहीं भी रहें— **वेद, पुराण, उपनिषद्, रामायण** और **गीता, सभी भाषाओं में उपलब्ध हैं।** उनके आदर्शों के अनुयायी देश भर में निवास करते हैं। **यह संस्कृति हमें एकता के सूत्र में बाँधे रखती है।**

२. संविधान में निष्ठा :- स्वतंत्रता के बाद हमारे संविधान का निर्माण किया गया जिसमें भारत के सभी वर्गों के लोगों का प्रतिनिधित्व था। **देश ने सभी लोगों को आत्मसात कर लिया था।** जो अल्पसंख्यक थे, शरणार्थी थे या विदेशी थे, उनके वर्ग के अनुसार ही उन्हें प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया। सबको धर्म की स्वतंत्रता

प्रदान की गई। अपने लिए व्यवसाय के चुनाव की पूर्ण स्वतंत्रता दी गई। **सभी धर्मों को सम्मान की दृष्टि से देखा गया।** राष्ट्र में कहीं भी निवास करने की एवं सम्पत्ति अर्जित करने की स्वतंत्रता प्रदान की गई। **ऐसे संविधान की छाया में जीवन व्यतीत करने वालों में वैमनस्यता जैसी भावना आने का प्रश्न ही कहाँ उठता है?**

३. धर्मनिरपेक्षता :- हमारा राष्ट्र एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र है और ऐसे राष्ट्र में धर्म के आधार पर कोई भी भेदभाव नहीं किया जा सकता। हम जब सभी धर्म वालों को सम्मान की दृष्टि से देखेंगे तो आपस में प्रेम और सद्भाव में वृद्धि अवश्य ही होगी। सभी धर्मों के लोग अपने पूजा स्थलों के निर्माण, पूजा पद्धति अपनाने और अपने धार्मिक उत्सवों को पूर्ण करने के लिए पूरी तरह स्वतंत्र हैं। एक हिन्दू मुसलमान को ईद पर बधाई देता है तो मुसलमान दीपावली और होली पर प्रेम से सम्मिलित होते हैं। **जहाँ इतने विशाल हृदय के लोग हों, वहाँ एकता पर प्रश्नचिह्न कहाँ लगाया जाये?**

४. लोकतांत्रिक व्यवस्था :- स्वतंत्रता के बाद देश में संघात्मक लोकतांत्रिक व्यवस्था को अपनाया गया। **इसमें देश में व्याप्त विविधता का पूर्ण रूप से सम्मान किया गया है।** सभी वर्गों को अपनी सरकार चयन का अधिकार प्रदान किया गया। शासन में उनकी अपनी भागीदारी से उनमें देश के प्रति निष्ठा में वृद्धि होती है। अपनी बात कहने का अधिकार उन्हें संविधान से प्राप्त है। सभी राज्य अपने-अपने कार्यों के लिए स्वतंत्र है। इससे देशवासियों का अपने राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता के प्रति विश्वास और निष्ठा में वृद्धि ही होती है।

५. अनेकता में एकता :- भारत एक विशाल देश है, उसमें अनेकता होना स्वाभाविक है। इसके बाद भी समग्र रूप से दृष्टिपात किया जाय तो इस अनेकता में ही एकता का सूत्र बँधा हुआ है। सदियों से यहाँ विभिन्न धर्म हैं लेकिन सबमें एक दूसरे के प्रति सम्मान है। सामाजिक व्यवस्थाओं में खान-पान में प्रादेशिक रूप में विभिन्नता है लेकिन दक्षिणवर्ती भारतीय व्यवस्थाएँ उत्तर भारत में लोकप्रिय हैं। सम्पूर्ण राष्ट्र की भौगोलिक स्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी प्राचीन काल से ही यह राष्ट्र एकता के सूत्र में बँधा हुआ है। उन एकता और अखण्डता की गहरी जड़ों को खोदने का प्रयास व्यर्थ ही कहा जायेगा।

६. स्वतंत्रता संग्राम :- भारत की **आजादी के लिए जो महासंग्राम लड़ा गया,** तब इस पर **शहीद होने वाले वीर हिन्दू, मुस्लिम, सिख, पारसी, जैन और बौद्ध** सभी लोग थे। **उस महायज्ञ में सबने अपने-अपने प्राणों की आहुति दी थी।** अब स्वतंत्र भारत की खुली हवा में हमने सांस ली हैं। कोई नहीं भूलता हैं उन बलिदानों

को। भगत सिंह और चन्द्रशेखर आजाद की बलिदान-गाथा आज भी नवजवानों को एक स्वर में 'जय हिन्द' और 'भारत माता की जयकार' लगाने के लिए पर्याप्त है। **उनके पावन बलिदान की कहानी और त्याग की गाथा का सम्मान हम अपने राष्ट्र की एकता और अखण्डता की पावन भावना से ही कर सकते हैं।**

यह सभी तत्त्व है जिससे **लाखों विभिन्नताओं के बाद भी** यदि देश पर संकट आता है, तो **पूरा राष्ट्र एक स्वर में उस संकट का जवाब देने के लिए तैयार रहता है।** पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक सिर्फ एक भारत अखण्ड राष्ट्र के रूप में स्थायी राष्ट्र है।

राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के बाधक तत्त्व-

भारत एक ऐसा राष्ट्र है जहाँ विभिन्नता में एकता पाई जाती है, फिर भी यह विभिन्नता कहीं-कहीं अपना संकुचित दृष्टिकोण इस तरह से अपनाने लगती है कि देश में विभिन्न दृष्टिकोण आपस में ही संघर्ष करने लगते हैं और **जब ये विघटनकारी तत्त्व पनपने लगते हैं तो देश की राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए खतरा पैदा हो जाता है। ये कारण निम्नलिखित हैं :-**

१. जाति :- हमारे देश में विभिन्न धर्मों के साथ विभिन्न जातियाँ निवास करती हैं जिनमें कुछ उच्च और कुछ निम्न कहलाती हैं। सदियों से उच्च जातियों ने निम्न जातियों का शोषण किया है। सिर्फ हिन्दू ही नहीं, अपितु मुसलमान, सिख और ईसाई भी अनेक जातियों में बँटे हुए हैं। स्वतंत्रता के बाद संविधान द्वारा सबको समान अधिकार देने के बाद भी उच्च जातियों ने अपना श्रेष्ठत्व नहीं छोड़ा। दलितों और निम्न जातियों में भी चेतना अब पहले से बढ़ गई है। परिणामस्वरूप जातिगत राजनीतिक दलों का भी निर्माण होने लगा। इससे जातीय तनावों में वृद्धि हो गई। जातिभेद संकीर्णता के द्योतक है और जातियों के मध्य द्वेष और वैमनस्य बढ़ाते हैं। यह **स्थितियाँ राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता में बाधक सिद्ध होती हैं।**

२. साम्प्रदायिकता - हमारे विद्वानों, धर्मगुरुओं और दार्शनिकों ने एक ही ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है, चाहे वे ईश्वर कहें, खुदा या ईशु कहें। किसी ने भी कहीं भी दूसरे धर्म के प्रति विद्वेष रखने की बात स्वीकार नहीं की है। **साम्प्रदायिकता धर्म का संकुचित दृष्टिकोण है।** संसार में विविध धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों को सभी ने स्वीकार किया है, यथा— प्रेम, सेवा, परोपकार, सच्चाई, समता, नैतिकता, अहिंसा और पवित्रता आदि सभी धर्मों में मान्य है। **सच्चा धर्म कभी एक दूसरे से घृणा करना या वैर करना नहीं सिखाता,** लेकिन धर्म के नाम

पर राजनीति करने वालों ने धर्म के नाम पर दीवार खड़ी की है और **ये दीवारें देश की एकता में बाधक बन सकती हैं।**

३. भाषावाद – भारत एक बहुभाषी राष्ट्र है, यहाँ अनेक भाषायें, विभाषायें और बोलियाँ प्रचलित हैं। यद्यपि स्वतंत्र भारत में हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया गया है लेकिन भाषायी संकीर्णता भी अपना सिर उठाने लगी है। भाषा के आधार पर राज्यों की माँग सिर उठाने लगी है। हिन्दी के विरोध में उर्दू और अन्य प्रादेशिक भाषाएँ भी विवाद का कारण बनकर मानव-मानव के मध्य भेद पैदा कर रही हैं और यह विभेद राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के लिए बाधक साबित हो रहे हैं।

४. प्रान्तीयता – एक संघराष्ट्र के लिए उसके प्रान्त एक अभिन्न अंग होते हैं। **संघ में सभी प्रान्तों को बराबर अधिकार प्रदान किये गये हैं**। अंग्रेजों ने हमें सिर्फ धर्म के आधार पर ही नहीं बाँटा अपितु प्रान्तीय आधार पर भी बाँट दिया है। कभी क्षेत्र को लेकर, कभी भाषा को लेकर, प्रान्तीयता की बात होने लगती है और यह प्रान्त स्वराज्य की माँग भी करते हैं जो संघ के शासन में रहने से इन्कार करते हैं। इन माँगों को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। खालिस्तान की माँग वर्षों से आतंकवादी गतिविधियों का सहारा लेकर अशान्ति फैला रही है लेकिन **अनुचित को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। फिर भी इस तरह की भावना की उपस्थिति राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के मार्ग में रोड़ा अवश्य ही बन जाती है।**

५. अल्पसंख्यकों का प्रश्न – आज देश में अल्पसंख्यकों की समस्या महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न राज्यों में भाषागत अल्पसंख्यक सम्प्रदायों से अल्पसंख्यकों का निवास है। मुम्बई, कोलकत्ता, चेन्नई, दिल्ली आदि महानगरों में तो उद्योग तथा व्यापार की दृष्टि से बाहरी राज्यों के हजारों लोग निवास करते हैं। कई राज्यों में बाहरी लोगों के प्रति असन्तोष पैदा हुआ है। महाराष्ट्र में गुजरातियों, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु और उड़ीसा में मारवाड़ियों का विरोध किया गया। महाराष्ट्र में शिवसेना और असम में लंच्छित सेना जैसे उग्र संगठनों का निर्माण कर बाहरी लोगों के प्रति हिंसात्मक कार्यवाही की गई जो कि **एक राष्ट्र की मर्यादा के विरुद्ध है और राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए बाधक है।**

६. राजनैतिक अवसरवादिता – राजनैतिक अवसरवादिता राष्ट्र के लिए सर्वाधिक घातक है। देश में राजनैतिक दल जाति, धर्म, भाषा, प्रान्त आदि के बल पर चुनाव लड़ने और जीतने का कोई भी अवसर हाथ से नहीं जाने देना चाहते हैं। **राजनैतिक दल ही युवा वर्ग को हिंसात्मक कार्यों के लिए भड़काते हैं और इस तरह की घटनाओं से अपने राजनैतिक स्वार्थ को सिद्ध करना चाहते हैं। देश में होने वाले**

साम्प्रदायिक दंगों और पृथकतावादी आन्दोलनों के पीछे राजनीतिज्ञों का हाथ सदैव रहता है और यह सारी विचारधारा देश हित में सहायक नहीं कही जा सकती है।

७. आर्थिक विषमता – देश में व्याप्त आर्थिक विषमता भी राष्ट्रीयएकता और अखण्डता के मार्ग में बाधक बन जाती है। जो लोग अत्यधिक निर्धन हैं या अभावग्रस्त हैं, जिन्हें दिनभर कड़ी मेहनत के बाद भी पेट भर भोजन नहीं मिलता, वे अपने मालिकों या बड़े-बड़े बंगलों में सुख-सुविधाओं से युक्त जीवन जीने वालों के **प्रति ईर्ष्या का भाव रखें तो अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है।** आर्थित विषमता ने वर्गसंघर्ष के सिद्धान्त को जन्म लिया है, जो समाज में अशान्ति और संघर्ष का सृजन करता है। **यह आर्थिक विषमता सदैव ही राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के लिए घातक तत्त्वों का निर्माण करती है।**

८. आतंकवादी गतिविधियाँ – देश में आतंकवादी गतिविधियों ने सम्पूर्ण राष्ट्र की जड़ों को हिला दिया है। कभी कश्मीर में सामूहिक हत्याओं का तांडव होता है, कभी बिहार में गाँव उजाड़ दिया जाता है। इन सब का अर्थ क्या समझा जा सकता है? हम अखण्ड राष्ट्र में निर्भीक जीवन व्यतीत कर रहें हैं? **हम अपने ही देश में डर डर कर जी रहे हैं।** सुरक्षित ठिकानों के लिए यह सब देश की राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए अभिशाप है।

आज उत्तरी पूर्वी भारत के कुछ राज्यों में राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए समस्याएँ चुनौती बनकर खड़ी हैं। **भ्रष्टाचार, अशिक्षा, शोषण, बेरोजगारी**– ऐसी समस्यायें हैं जो कि जन सामान्य को दिशा भ्रमित होने के लिए पर्याप्त हैं और जहाँ देश का जनसामान्य इन समस्याओं से जूझ रहा हो वहाँ राष्ट्र का निर्माण और विघटन की चिन्ता किसे होती है?

५. वैदिकवाङ्मय में निरूपित राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता का वर्तमान राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के लिए योगदान–

भारतीय जनजीवन में वेदों का अतिशय महत्त्व है। **वैदिकवाङ्मय को परमेश्वर का निःश्वास कहा गया है।**[१] वेद सत्य है। वेद सत्य ज्ञान की अप्रतिम निधि, सत्य विधाओं का अनन्य एवं अपूर्व संग्रह तथा समस्त सिद्धान्तों का पोषक अद्वितीय ग्रंथ है। इन ग्रन्थों में मात्र धार्मिक कर्मकाण्डों का ही वर्णन नहीं है, अपितु आज के सन्दर्भ में देखा जाय तो आज की समस्याओं को अनुभव करके **उनका समाधान भी इनमें**

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद् २/४/१०

प्रस्तुत कर दिया गया था। सिर्फ सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक परिवेश का ही वर्णन इसमें नहीं है अपितु राजनीति का भी विशद विवेचन किया गया है।

राष्ट्र की सुरक्षा, नागरिकों के प्रति राजा के कर्त्तव्य, राजा का चयन, प्रजा का धर्म– सभी का सम्यक् विवेचन इन वैदिक ग्रन्थों में पाया जाता है।

राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता का पर्याय हर युग में एक ही रहा है। राष्ट्र को सुदृढ़, सुरक्षित और सशक्त सैन्य शक्ति से युक्त बनाना ही एक समृद्धशाली राष्ट्र के लिए आवश्यक होता है। **प्रजा के निजी प्रयासों से ही** राष्ट्र एकता और अखण्डता के भाव से युक्त हो सकता है।

वैदिकवाङ्मय में निरूपित **स्वराज्य की अवधारणा** ही आज के समय में **स्वअनुशासित, स्वशिक्षित** एवं **स्वनियंत्रित** समाज की रचना का सन्देश देती है। **वैदिक काल में मानव की विचारधारा, भावनाएँ** और **प्रवृत्तियाँ** स्वभावतः सात्विक होती थीं। काल के चक्र के साथ सभी चीजों में हो रहे परिवर्तन से वह सभी चीजें भी परिवर्तित हो गई। राजनीति का अर्थ बदल गया लेकिन भाव वही है। राष्ट्र वही है, उसकी आवश्यकताएँ वही हैं। आदर्श राष्ट्र की परिकल्पना आज भी लोगों में शेष है और साकार देखने की इच्छा आज भी शेष है। **वैदिक काल में प्रस्तुत स्वराज्य का अर्थ अपने ऊपर शासन या नियंत्रण करना था।** वास्तविक स्वराज्य उसी स्थिति में संभव है जबकि **मानव को सर्वप्रथम अपने शरीर, इन्द्रियों, मस्तिष्क एवं मन पर पूर्ण नियंत्रण** हो। एक मानव के नियंत्रण से ही परिवार, मुहल्ला, गाँव, नगर, प्रदेश, राष्ट्र और विश्व सभी नियंत्रित हो सकते हैं।

नाम॒ नाम्ना॑ जोहवीति पु॒रा सूर्या॑त् पु॒रोषसः॑।

यदु॒जः प्र॑थ॒मं सं॑ब॒भूव॒ स ह॒ तत् स्व॒राज्य॑मियाय॒ यस्मा॒न्नान्यत् पर॒मस्ति भूतम्।।[१]

इस मंत्र में राष्ट्र के संचालन के बारे में उत्तम ढंग से वर्णन किया गया है। वे राष्ट्रभक्त जो प्रातः काल ब्राह्ममुहूर्त में निद्रा त्याग कर उषाकाल में परमेश्वर की उपासना एवं विधिवत् यज्ञ करते हैं और किसी दिन विलम्ब होने पर भी सूर्योदय से पूर्व यह दैनिक कृत्य अवश्य ही निपटा देते है, **वे ही स्वराज्य संचालन में सक्षम हो सकते हैं।** इस प्रकार परमेश्वर एवं राष्ट्रभक्ति से प्रेरित होकर वे संगठित होते हैं। राष्ट्र की गम्भीर समस्याओं पर चिन्तन का विधान है। इन विषयों पर विचार करके **स्वशासन के अनुरूप अनुगमन करने से आज के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण समस्याओं को राष्ट्रीय स्तर पर सुलझाया जा सकता है।**

---

१. अथर्ववेद १०/७/३१

राष्ट्रभक्त आदर्श नागरिक राष्ट्र से भी कुछ अपेक्षा कर सकते हैं और आशा करते हैं कि उन्हें अपने कार्य के लिए विस्तृत क्षेत्र प्राप्त होगा। स्वाधीन राष्ट्र में ही इस प्रकार की परिस्थितियाँ होती हैं कि प्रत्येक नागरिक जिस दिशा में चाहे उसे सम्यक् उन्नति करने का अवसर मिले। यदि अवसर प्राप्त हो तो साधारण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति भी वैज्ञानिक, कवि, राजनीतिक, दार्शनिक और समाज के अनुकरणीय-चरित्र बन सकते हैं।

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा।।[१]

अर्थात् निद्रा, तंद्रा, आलस्य एवं अज्ञान से रहित कुशल, वीर एवं संयमी व्यक्ति, दुर्गुणों को त्याग कर, कार्यकुशलता, वीरता एवं आत्मोन्नति करते हैं। समाज और राष्ट्र भी उनकी उन्नति में प्रयत्नशील रहता है और उनकी सतत उन्नति होती रहती है। वे ही राष्ट्र के सच्चे सेवक कहे जा सकते हैं और उन्हीं पर राष्ट्र का कल्याण निर्भर रहता है। **ऐसी भावनाओं से युक्त व्यक्ति के प्रयासों से ही राष्ट्रीय एकता और अखण्डता की भावना विकसित हो सकती है।**

राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता के प्रसंग में राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति का सम्बल विशेष रूप से प्राप्त होता है। यही वह शक्ति है जो सबको आपस में जोड़कर रखती है। अपने देश की परम्पराओं, रीति-रिवाजों एवं नैतिक मूल्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है—

इला सरस्वती मही तिस्रो देवीमयो भुवः।
बर्हिः सीदन्त्व स्निधः।।[२]

राष्ट्रभक्तों में समानता की भावना को आवश्यक बतलाते हुए इस तथ्य का निरूपण इस मंत्र द्वारा किया गया है कि प्रत्येक राष्ट्र की भाषा, संस्कृति एवं भूमि सुख-प्रदाता एवं श्रेयस्कर देवता है। इनकी उन्नति करने से ही राष्ट्र की वास्तविक उन्नति हो सकती है और सामूहिक सुख की प्राप्ति की जा सकती है। भाषा एवं संस्कृति राष्ट्र को एकता व अखण्डता प्रदान करने वाले देवता हैं। भाषा के द्वारा ही संस्कृति की रक्षा हो सकती है, यदि **भाषा** और **संस्कृति** संरक्षित रहें तो **मातृभूमि** या **राष्ट्र** पर कोई बाह्य शक्ति या शत्रु अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सकता।

---

१. अथर्ववेद १२/१/७
२. अथर्ववेद १/१३/९

वैदिकवाङ्मय में प्रस्तुत संस्कृति एवं भाषा की सुरक्षा का महत्त्व उतना ही सत्य है जितना कि दिन व रात्रि। आज भी इनका स्थायित्व देश की एकता और अखण्डता के लिए सदैव दृढ़ आधार बना हुआ है।

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः॥[१]

अर्थात् राष्ट्रभक्त परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हमको जिस ऐश्वर्य अथवा धन की आवश्यकता हों, मातृभूमि वह सब हमको प्रदान करे। स्वतंत्र राष्ट्र का यह सबसे महत्त्वपूर्ण गुण होता है कि यहाँ के स्रोतों से सभी की आजीविका सरलतापूर्वक चलती रहे। राजकीय व्यवस्थाओं से सभी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास होना चाहिये। इसके अभाव में विघटनकारी तत्त्व देश के असंतुष्ट नागरिकों को बहकाकर राष्ट्र के विरुद्ध प्रयोग कर सकते हैं। ऐसे शत्रुओं का नाश होना चाहिए।

आज की आतंकवादी ताकतों की ओर यह मंत्र इंगित कर रहा है। जब हम देशवासियों को भर पेट भोजन नहीं दे सकेंगे, तो विघटनकारी आतंकवादी शक्तियाँ उनका गलत प्रयोग करने लगती हैं। अत इन परिस्थितियों से निपटने का हमेशा प्रयास करना चाहिए।

हमारे देश की राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए वाङ्मय से प्राप्त प्रेरणाएँ और दिशाएँ एक नया सन्देश देती है कि उनसे प्राप्त शिक्षाओं को ही आज भी जीवन में उतार लिया जाय तो कुछ प्राप्त किया सकता है। यह सब प्राचीन वैदिक वाङ्मय की देन है जो हमें आज के परिप्रेक्ष्य में एक शक्ति प्रदान कर सकता है। इससे प्रेरणा लेकर ही यह अखण्ड भारत आज ही नहीं अपितु आगे भी सदियों तक एकता के सूत्र में आबद्ध रहेगा।

१. अथर्ववेद १२/१/४०

दशम अध्याय

उपसंहार

हमारे देश में राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता का जितना अधिक महत्वपूर्ण स्थान है उतना ही देश के भीतरी एवं बाहरी शत्रुओं की दृष्टि में देश की एकता और अखण्डता पर आघात करने का प्रयास निरन्तर चल रहा है। मनुष्य भय से निष्क्रिय एवं पलायनवादी बन जाता है। इसीलिए लोगों में भय उत्पन्न करने के लिए कुछ असामाजिक तत्त्व अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए प्रयास करते हैं। इस कार्य के लिए वे हिंसापूर्ण साधनों का प्रयोग करते हैं। **ऐसी स्थिति ही आतंकवाद का आधार है।**

आतंकवाद शब्द का निर्माण आतंक + वाद से हुआ है और इस शब्द का सामान्य अर्थ है— **आतंक का सिद्धान्त। 'आतंक'** का अर्थ होता है— **पीड़ा, डर, आशंका, नीति-त्रास। इस प्रकार आतंकवाद एक ऐसी विचारधारा है जो अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बल प्रयोग में विश्वास रखती है। ऐसा बल प्रयोग विरोधी वर्ग, समुदाय या सम्प्रदाय को भयभीत करने के लिए किया जाता है। आतंकवादी अपने रातनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिये हिंसा से या अवैध रूप से सरकार को गिराने और शासन तंत्र पर अपना अधिकार जमाने का प्रयास भी करते हैं।**

राष्ट्रीयएकता एवं अखण्डता के लिए **आतंकवाद** सदैव से **एक अभिशाप** रहा है। **इसका अस्तित्व** मात्र हमारे देश में ही व्याप्त नहीं है, बल्कि इसका अस्तित्व **सम्पूर्ण विश्व में विद्यमान** है। यह सम्पूर्ण विश्व में भय, तनाव, असुरक्षा की भावना भर देना चाहता है। इससे इसकी नींव में छिपे इरादों को कोई नहीं जानता है। ये आतंकवादी समस्त विश्व में राजनीनिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए सार्वजनिक हिंसा और हत्याओं का सहारा ले रहे हैं। भौतिक दृष्टि से विकसित देशों में तो आतंकवाद की इस प्रवृत्ति ने विकराल रूप धारण कर लिया है। कुछ आतंकवादियों ने तो मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बना लिया है। **जे०सी० स्मिथ** अपनी बहुचर्चित पुस्तक **'लीगल कंट्रोल ऑफ इण्टरनेशलन टेरेरिज्म'** में लिखते हैं कि इस समय संसार में जैसा तनावपूर्ण वातावरण बना हुआ है, उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भविष्य में अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद में और तेजी आयेगी। किसी देश द्वारा अन्य देश में आतंकवादी गुटों को समर्थन देने की घटनायें बढ़ेगी। **राजनयिकों की हत्यायें**, विमान अपहरण,

बम विस्फोट, सामूहिक हत्याएँ, रासायनिक हथियारों का प्रयोग अधिक तेज होगा। **श्रीलंका में तमिलों, जापान में रेड आर्मी, भारत में सिख होमलैण्ड** चाहने वालों आदि के हिंसात्मक संघर्ष आतंकवाद की श्रेणी में आते हैं।

भारत में आतंकवाद :– स्वाधीनता के पश्चात् भारत के विभिन्न भागों में अनेक **आंतकवादी संगठनों** द्वारा आतंकवादी उग्र हिंसा फैलाई गई। उन्होंने बड़े-बड़े सरकारी अधिकारियों को मौत के घाट उतार दिया और इतना आतंक फैलाया कि जनसामान्य ने पलायंन करना आरम्भ कर दिया। सर्वप्रथम स्वतंत्रता के बाद तेलंगाना के साम्यवादियों ने हिंसक विद्रोह किया, उसकी असफलता के बाद भारत के उत्तरी पूर्वी क्षेत्र में आतंकवाद उभरने लगा। संगठित रूप से आतंकवाद नागालैण्ड में सामने आया जब फिजी में नागा राष्ट्रीय परिषद का गठन किया गया और अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रशिक्षित **गुरिल्ला दस्तों** का गठन हुआ। इसके बाद **मिजोरम में लाल डेंगा** ने **'मिजोरम-नेशनल फ्रंट'** और **मणिपुर में विश्वेश्वर सिंह** ने **'पीपुल्स लिबरेशन आर्मी'** के रूप में **आतंकवादी संगठनों** की स्थापना की।

भारत में आतंकवाद का सबसे भयावह रूप **पंजाब में खालिस्तान के समर्थकों** ने प्रस्तुत किया। इस आतंकवाद का जन्मदाता जरनैल सिंह भिंडरवाले को दिया जा सकता है। इसी के अन्तर्गत अमृतसर के पवित्र स्वर्ण मन्दिर को आतंकवादी गतिविधियों का गढ़ बना दिया गया। वहाँ से हिंसात्मक गतिविधियों का संचालन होने लगा। जून १९८४ में भारत सरकार को बाध्य होकर सेना का उपयोग करना पड़ा और आपरेशन ब्लू स्टार नामक कार्यवाही ने उग्रवादियों की संगठन शक्ति को समाप्त कर दिया। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप ही ३१ अक्टूबर १९८४ को तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी की हत्या की गई। इसके बाद हुए दंगों से **हिन्दू और सिखों** के मध्य **विद्वेष की भावना** परिलक्षित हो गई। इस आतंकवादी संगठन को लगातार विदेशी सहायता प्राप्त होती रही। इसके बाद आतंक फैलाने की दृष्टि से जगह-जगह **'ट्रांजिस्टर बम विस्फोट'** किये गये जिससे कि सैकड़ों लोगों की जानें चली गयीं।

भारतीय लोकतंत्र और स्वयं **भारत राष्ट्र** के लिए **'आतंकवाद'** एक गम्भीरतम चुनौती बना हुआ है। देश की राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के लिए एक बारुद का गोला बना हुआ है। कश्मीर प्रदेश तो सिर्फ पाकिस्तान की अनाधिकार चेष्टा के कारण ही इसका शिकार बना हुआ है। आतंकवाद **सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक** और **आर्थिक**— विविध आयामों वाली एक समस्या है। अत: इसके निवारण हेतु सभी स्तर पर प्रयास करना आवश्यक है। उसके लिए सरकार द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर कठोर प्रयास होना अत्यन्त आवश्यक है।

आतंकवाद के नियंत्रण हेतु सुझाव :– समस्या कितनी भी जटिल क्यों न हो, यदि उसको जड़मूल से समाप्त नहीं किया जा सकता है, **फिर भी उसे नियंत्रित तो अवश्य ही किया जा सकता है।** इसके लिए सभी स्तरों पर प्रयास आवश्यक है—

(क) राष्ट्रीय समस्याओं पर आम सहमति :– आतंकवाद केवल कानून और प्रशासनिक व्यवस्था का प्रश्न नहीं है वरन् **इसका एक राजनैतिक पक्ष भी है।** इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि चाहे 'पंजाब समस्या', 'जम्मू-कश्मीर समस्या' या 'असम समस्या' हों, उनके समाधान के लिए **'राजनैतिक स्वार्थों' को त्याग कर कठोर प्रयास करने चाहियें।** वे राजनैतिक दल जो सत्ता में नहीं हैं, सत्ता पक्ष पर प्रहार करने के लिए उनको एक विषय बना लेते हैं और मात्र **'विरोध के लिए विरोध'** की ही दृष्टि से सरकार के क्रियमाण प्रयासों का विरोध ही करते रहते हैं। वस्तुत: राष्ट्रीय समस्याओं पर आम सहमति कायम करके दलीय राजनीति से ऊपर उठकर विचार किया जाना चाहिये और इनका समाधान खोजना चाहिये।

(ख) विधि एवं न्याय व्यवस्था में सुधार :– अपनी विधि एवं न्याय व्यवस्था में १०० वर्ष पूर्व **ब्रिटेन को आदर्श मानकर अपनाई गई विधि प्रक्रिया और न्याय व्यवस्था इतनी जटिल एवं दीर्घकालीन और व्ययी है कि साधन सम्पन्न अपराधी के लिए विधि और न्याय का पालन कोई आवश्यक नहीं है।** वे मुक्त और जनसामान्य को आतंकित करते हुये घूमते रहते हैं। आतंकवाद को नियंत्रित करने के लिए **'अपराधी के लिए लगभग तत्काल दण्ड की व्यवस्था'** को अपनाते हुए साधारण **जनता के मन मस्तिष्क में विधि और न्याय के प्रति विश्वास और अपराधी तत्त्वों में आवश्यक रूप से भय उत्पन्न करना होगा।**

(ग) पुलिस और सुरक्षाबलों का आधुनिकीकरण :– पुलिस और सुरक्षा बलों का आधुनिकीकरण किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। आज की स्थिति यह है कि **'केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल'** के जवान जिन सुरक्षा साधनों से युक्त होते हैं— वहीं **आतंकवाली उनसे अधिक अति आधुनिक साधनों से सम्पन्न होते हैं।** एक दूसरे का सामना करने में **भारतीय जवान** अपने को कहीं भी **सक्षम नहीं पाते। इनकी पुलिस एवं सुरक्षा बल की सेवा-शर्तों में भी सुधार अपेक्षित है** क्योंकि अपनी जान की बाजी लगाने वाले इन सुरक्षा प्रहरियों को अपने परिवार की सुरक्षा का भय भी बना रहता हैं। उनकी निष्ठायें कहाँ तक समर्पित हो सकती हैं? अपने प्रशासनिक पद्धति में सुधार करना होगा तभी निपटा जा सकेगा आतंकवाद से।

(घ) आतंकवाद के विरूद्ध शासन और जनता के बीच सहयोग :– राष्ट्र की समस्याओं का समाधान **सिर्फ शासन नहीं खोज सकता है,** हर चरण पर उन्हें जन

सामान्य के सहयोग की आवश्यकता होती है। **आतंकवाद से भी निपटने के लिए जन सहयोग बहुत सहयोगी प्रयास सिद्ध होगा।** इसके लिए जन जागृति पैदा करनी होगी, उन्हें आतंकवादी घटनाओं के प्रति सिर्फ सहानुभूति प्रकट करना ही नहीं अपितु उनसे निपटने के लिए **संघर्षशक्ति** एवं **इच्छा प्रकट करनी होगी**। इसके लिए **'अखिल भारतीय शान्ति सेना'** के गठन का सुझाव दिया जा रहा है, इस पर सही तरीके से ध्यान देने की आवश्यकता है।

(ङ) सामाजिक स्तर पर कार्य :- इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण सुझाव यह हो सकता है कि **आतंकवाद का जवाब आतंकवाद** से देने पर इसका हल नहीं हो सकता है, अपितु इसमें कई गुना वृद्धि हो सकती है। **'आतंकवाद'** समाज और देश की ही सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारणों से उत्पन्न **'मानसिक रोग'** के रूप में होता है। केवल बल के प्रयोग के आधार पर इसको सुलझाया नहीं जा सकता है। इनके मूल कारणों को समझने के लिए सामाजिक संस्थाओं को अध्ययन करना होगा। विभिन्न समुदायों के बीच के भेदभाव को मिटाने के लिए प्रयत्न करना होगा। **उनके अन्दर कमजोर पड़ गई भाई-चारे की भावना को पुनः जगाकर इसे मिटाने का प्रयास करना होगा।**

(च) संवैधानिक प्रावधानों के दुरुपयोग पर प्रभावी रोक :- पंजाब और जम्मू कश्मीर राज्य में जो स्थिति है उसका सबसे बड़ा कारण है कि कुछ परिस्थितियों में स्वयं केन्द्रीय सरकार ने संवैधानिक प्रावधानों, विशेषतया राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की व्यवस्था का दलगत हितों की दृष्टि से प्रयोग किया। **'सरकारिया आयोग' ने अपनी रिर्पोट (नवम्बर १९३७) में अनुच्छेद ३५६ के आधार पर राष्ट्रपति शासन लागू करने की व्यवस्था का दुरुपयोग रोकने की आवश्यकता पर बल दिया है और इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव दिये हैं;** प्रथम राज्य में राष्ट्रपति शासन अन्तिम विकल्प के रूप में ही लागू होना चाहिए, **जबकि राज्य का कामकाज संविधान में दी गई व्यवस्था के अनुसार चलना असम्भव हो जाये। राष्ट्रपति शासन लागू करने से पहले केन्द्र सरकार द्वारा सम्बन्धित राज्य को इस बारे में चेतावनी देकर स्पष्टीकरण माँगा जाना चाहिए और निर्णय लेते समय इस स्पष्टीकरण पर विचार करना चाहिए। द्वितीय,** राष्ट्रपति शासन लागू करने के पीछे जो कारण हैं **उन्हें स्पष्ट रूप से बतलाया जाना चाहिए**। तथ्य यह है कि यदि अनुच्छेद ३५६ के दुरुपयोग को रोकने की प्रभावी व्यवस्था नहीं की गई तो आतंकवादी-तत्त्वों को शक्तिशाली होने के अवसर प्राप्त होते रहेंगे।

(छ) आर्थिक-सामाजिक न्याय की प्राप्ति :- हमारे देश में अन्य देशों की भाँति बेरोजगारी और विशेषतया **शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी का व्याप्त होना ही आतंकवादी**

भावना को पनपने की पृष्ठभूमि तैयार करता है। बेरोजगारों को रुपये के लालच में आसानी से बरगलाया जा सकता हैं, उन्हें भटकते हुए देर नहीं लगती हैं। **अत: शिक्षा को रोजगार से जोड़ा जाय और प्रतिवर्ष करोड़ों व्यक्तियों के लिए रोजगार जुटाये** जायें। आर्थिक असमानता को समाप्त तो नहीं किया जा सकता, **लेकिन उसे नियंत्रित करना होगा और आर्थिक-सामाजिक न्याय की दिशा में कदम बढ़ाने होंगे।**

(ज) शासन की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करना :- पिछले लगभग २५ वर्षों में शासन, चाहे वह केन्द्रीय शासन हो या राज्य शासन, की प्रतिष्ठा का बहुत अधिक क्षय हुआ है। अत: शासन की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करना होगा और **इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव हैं :— प्रथम,** भारतीय संविधान के निर्माताओं ने भारत में **'सहयोगी-संघवाद'** की कल्पना की थी और **आज इस 'सहयोगी-संघवाद' की नितान्त आवश्यकता** अनुभव की जा रही है। इसमें राज्य व केन्द्र की सरकारें एक दूसरे की कठिनाइयों को समझें और एक दूसरे के साथ सहयोग करें। **द्वितीय** आज स्थिति यह है कि आतंकवादी तत्त्व केन्द्र सरकार पर भी दबाव डालने की कोशिश करते हैं और इसमें कई बार वे सफल भी हो जाते हैं। अधिक स्पष्ट रूप से यह स्थिति **'रुबैया प्रकरण'** (१९८९) से सामने आई है। ऐसी घटनाएँ आतंकवादी तत्त्वों को बढ़ावा देने वाली होती हैं। **किसी भी स्थिति में शासन को इन ताकतों के समक्ष आत्मसमर्पण नहीं करना चाहिए। राष्ट्रहित व्यक्तिगत हित से कहीं ऊँचा होता है।** आवश्यकता अनुभव होने पर आतंकवाद के विरुद्ध भारी बल प्रयोग करना भी उचित है। इससे शासन की दृढ़बद्धता का प्रमाण मिलता है। **दृढ़-प्रतिज्ञ शासन ही सभी प्रकार के आतंकवाद से निपट सकता है।**

(झ) पाकिस्तान के अनुचित हस्तक्षेप पर प्रतिबन्ध :- आतंकवाद का एक अति **प्रमुख कारण पड़ोसी राज्य पाकिस्तान द्वारा भारत में आतंकवादियों को दिया जाने वाला भारी प्रोत्साहन है। सीमाओं के रास्ते से देश में प्रशिक्षित आतंकवादियों को अनाधिकार प्रविष्ट कराने की घटनायें,** हमारे ही देश के कितने युवाओं का अपहरण कर उन्हें आतंकवाद के लिए बाध्य करना, यह सब आम बात हो गई है। इसके लिए **सर्वप्रथम,** तो पाकिस्तान से जुड़ी हुई सभी सीमाओं को सील कर देना चाहिए, तभी यह प्रवेश रोका जा सकता है। **द्वितीय,** हमें अपने इस पड़ोसी देश को समझाना होगा कि भारतीय मामलों में दखलंदाजी उसके लिए भयानक परिणामों को जन्म देगी। मैत्री के स्वर में कही गई बात को यदि पड़ोसी देश उचित महत्त्व नहीं देता है **तो चेतावनी देनी होगी** और नितान्त आवश्यक हो जाने पर उसे **'शक्ति की भाषा'** में भी समझना होगा। इस प्रसंग में हमें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आतंकवाद को प्रोत्साहित करने

वाले इस देश के विरुद्ध जनमत जागृत करना होगा। यदि **इस प्रसंग में भारत ने दृढ़ता का परिचय दिया तो वह इसको रोकने में सफल हो सकेगा।**

प्रथम : इसके अतिरिक्त भी कुछ सुझाव हैं कि जो वास्तविकता में बहुत ही पास है। **आतंकवादियों में एक वर्ग ऐसा भी है जो कि परिस्थितिवश या केवल क्षणिक आवेश में या नासमझी के दौर में आतंकवाद से जुड़ गया है** और सत्यता से परिचित होने पर भी उससे बाहर आने में अपने आपको असमर्थ पा रहा है। शासन और समाज की स्वयंसेवी संस्थाओं और कार्यकताओं का यह कर्तव्य है कि इनके साथ पूरी **सद्भावना** और **सहानुभूति** का परिचय देते हुए इन **युवकों** के शस्त्रों सहित **आत्मसमर्पण की व्यवस्था** की जाये और उनके **पुनर्वास** की पूरी व्यवस्था की जाये।

द्वितीय : वनांचल, तैलंगाना और बोडोलैण्ड आदि भी भारतीय संघ में ही अलग राज्य के रूप में स्थापना की जो माँग और आन्दोलन कर रहे हैं, इनसे समय-समय पर आतंकवाद को जन्म मिला है। इसीलिए यह सुझाव प्रस्तावित है कि **एक नवीन राज्य पुनर्गठन आयोग** की स्थापना करके इन मामलों को विचारार्थ सौंप दिया जाना चाहिए। **यह सुझाव गम्भीरता से विचारणीय है और सभी दलों की सहमति से ही किया जाना चाहिए।**

तृतीय : आतंकवाद केवल कानून और व्यवस्था का प्रश्न ही नहीं है, आतंकवाद एक राजनैतिक परिप्रेक्ष्य है, एक मनोवैज्ञानिक पक्ष है। केवल बल प्रयोग से कोई भी राजनैतिक या जटिल राष्ट्रीय समस्या का समाधान नहीं खोजा जा सकता है। बल प्रयोग भी विवेक और सद्भावना के साथ, साहस के समन्वय के साथ करना चाहिए। शासन द्वारा आतंकवादियों से बातचीत अवश्य ही की जानी चाहिए, शर्त केवल यह है कि बातचीत संविधान के दायरे में हो, बातचीत के लिए आगे आने वाले आतंकवादी तत्त्व आज की घड़ी और भविष्य में अपने आपको देश की एकता और अखण्डता के लिए प्रतिबद्ध घोषित करें और आतंकवाद का रास्ता छोड़ने की घोषणा करें।

सहायक ग्रन्थसूची

१. ऋग्वेद	चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी
२. यजुर्वेद	चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी
३. सामवेद	चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी
४. अथर्ववेद	चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी
५. शतपथ ब्राह्मण	चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी
६. ईशादि नौ उपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर
७. छान्दोग्योपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर
८. बृहदारण्यकोपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर
९. पातञ्जल योगदर्शन	स्वामी श्री ब्रह्मलीन मुनि
१०. कौटिलीय अर्थशास्त्र	टीका वाचस्पति गैरोला
१२. श्रीमद्भागवतम्	गीताप्रेस, गोरखपुर
१३. वाल्मीकिरामायणम्	गीताप्रेस, गोरखपुर
१४. ऋग्वेदभाष्यभूमिका	वाराणसी
१५. निरुक्तम्	वाराणसी
१६. कौषीतकिब्राह्मणआचारविचारा:	डॉ० मंगल देव शास्त्री
१७. वेदान्त परिभाषा	डॉ० गजाननन शास्त्री मुसलगाँवकर
१८. सर्वदर्शन संग्रह	डॉ० उमाशङ्कर शर्मा
१९. ब्रह्मसूत्र	शाङ्करभाष्य, स्वामी श्री हनुमानदास षटशास्त्री
२०. महाभारत	गीताप्रेस, गोरखपुर
२१. अष्टादशपुराणदर्पण	ज्वालाप्रसाद मिश्र
२२. पुराणतत्त्वमीमांसा	श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी
२३. आर्यसंस्कृति के आधार ग्रन्थ	पं० बलदेव उपाध्याय
२४. वैदिक साहित्य और संस्कृति	पं० बलदेव उपाध्याय
२५. धर्म औव समाज	डॉ० एस० राधाकृष्णन
२६. धर्मशास्त्र का इतिहास	पी०वी० काणे

२७. सनातन धर्मालोक	श्रीदीनानाथ शास्त्री
२८. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका	डॉ० राम जी उपाध्याय
२९. भारतस्य सांस्कृतिक निधिः	डॉ० राम जी उपाध्याय
३०. प्राचीन भारत की विभूतियाँ	राधा कुमुद मुकर्जी
३१. प्राचीन भारतीय संस्कृति कला राजनीति और धर्मदर्शन	डॉ० ईश्वरी प्रसाद
३२. भारतीय संस्कृति और समाज	पं० शम्भू रत्न त्रिपाठी
३३. भारतीय साहित्य और संस्कृति	डॉ० हरिदत्त शास्त्री
३४. मानविकी परिभाषिक कोश	डॉ० बी०एस० नर्वणे
३५. वैदिक विश्वदर्शन	पं० हरिशंकर जोशी
३६. वैदिक राज व्यवस्था	डॉ० श्मामलाल पाण्डेय
३७. वर्ण व्यवस्था	महात्मा गाँधी
३८. हिन्दू धर्मकोश	डॉ० राजबली पाण्डेय
३९. हिन्दू संस्कार	डॉ० राजबली पाण्डेय
४०. हिन्दू परिवार मीमांसा	हरिदत्त विद्यालङ्कार
४१. ऐतरेय ब्राह्मण	आप्ते द्वारा सम्पादित
४२. धर्म और दर्शन	देवेन्द्र मुनि
४३. संस्कृति के चार अध्याय	श्रीरामधारी सिंह दिनकर
४४. भारतीय संस्कृति	शिवदत्त ज्ञानी
४५. भारतीय दर्शन	श्री उमेश मिश्र
४६. वैदिक साहित्य की रूपरेखा	श्री हंसराज अग्रवाल
४७. भारतीय प्रज्ञा	मोनियर विलियम्स अनुवादक
४८. पुरुषार्थ	डॉ० भगवान दास
४९. वेदार्थ चन्द्रिका	डॉ० मुशीराम शर्मा
५०. वैदिक वाङ्मय का इतिहास	श्री रमाकान्त शास्त्री
५१. वैदिक योगसूत्र	श्री हरिशंकर जोशी
५२. वैदिक एवं वेदोत्तर भारतीय	

संस्कृति	श्री गंगाधर मिश्र
५३. वैदिक साहित्य का इतिहास	डॉ० पारसनाथ द्विवेदी
५४. ऋग्वेद प्रातिशाख्य	डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा
५५. वैदिक साहित्य और संस्कृति	श्री वाचस्पति गैरोला
५६. भारतीय चिन्तन की परम्परा में नवीन संभावनाएं	श्री राधेश्याम धर द्विवेदी
५७. भारतीय विचार दर्शन	श्री हरिनाथ त्रिपाठी
५८. साम विधान ब्राह्मण	सायण
५९. वेदान्त कल्पलता	महर्षि देवराज
६०. भारतीय संस्कृति और साधना	म०म० गोपीनाथ कविराज
६१. आत्मबोध	स्वामी अखण्डानन्द
६२. साधना और ब्रह्मानुभूति	स्वामी अखण्डानन्द
६३. ऐतरेय ब्राह्मण	वाराणसी
६४. मानवता की ओर	महेशानन्द गिरि
६५. प्राचीन भारतीय लोकधर्म	डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल
६६. उपनिषत्कालीन समाज एवं संस्कृति	राजेन्द्र कुमार त्रिवेदी
६७. ऋग्वेद में सांस्कृतिक तत्त्व	राजक्षत्र मिश्र
६८. वेदमीमांसा	आचार्य लक्ष्मीदत्त दीक्षित
६९. वैदिक ऋषि एक परिशीलन	कपिल देव शास्त्री
७०. संस्कृत साहित्य का इतिहास	पं० बलदेव उपाध्याय
७१. संस्कृत साहित्य का इतिहास	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
७२. संस्कृत साहित्य का इतिहास	वाचस्पति गैरोला
७३. भारतीय दर्शन	पं० बलदेव उपाध्याय
७४. वैदिक साहित्य और संस्कृति	आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी।



लेखक-परिचय

डा. भास्कर मिश्र का जन्म राजस्थान की राजधानी जयपुर में हुआ। आप देश के प्रतिष्ठित, मूर्धन्य विद्वान् डा. मण्डन मिश्र के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आपने साहित्याचार्य, एम. ए. (संस्कृत), एम.एड., विद्यावारिधि, डी. लिट्. उपाधियाँ प्राप्त कीं। डा. मिश्र ने हरियाणा संस्कृत विद्यापीठ, बघोला (हरियाणा) में प्राध्यापक के रूप में अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया तथा श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू में प्रशिक्षण विभागाध्यक्ष का दायित्व निर्वहण करते हुए वर्तमान में आप श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान संकाय में प्रोफेसर के पद पर प्रतिष्ठित हैं। अध्यापन के साथ अनुसंधान के क्षेत्र में आपका सराहनीय योगदान है। आपने विश्व संस्कृत सम्मेलन, नई दिल्ली, वर्ष 2001 में आयोजित शिक्षा-सत्र का संयोजन किया। आपने अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थों का प्रणयन किया है। आप द्वारा विरचित ग्रन्थ एक नवीन एवं आधुनिक विश्लेषणात्मक दृष्टि का सूत्रपात करते हैं।

ग्रन्थ सूची :

चतुर्भुजमिश्रविरचितरसकल्पद्रुम का समीक्षात्मक सम्पादन और भाषानुवाद,
वैदिक शिक्षा मीमांसा,
विद्यालय प्रशासन,
शिक्षा एवं संस्कृति - नए संदर्भ, शिक्षक और समाज।